

ISSN-0972-1002

# श्रमण ŚRAMAṆA

A Quarterly Research Journal of Jainology

*(Compilation of the article of Dr. Sagarmal Jain)*

Vol. LIX

No. II

April-June 2008



Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi

पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी

# श्रमण ŚRAMAᅇA

A Quarterly Research Journal of Jainology  
(Compilation of the article of Dr. Sagarmal Jain)

---

Vol. LIX

No. II

April - June 2008

---

*Editor*

*Hindi Section*

**Dr. Vijaya Kumar**

*English Section*

**Dr. S.P. Pandey**

*Publisher*



**Parshwanath Vidyapeeth, Varanasi**  
*Recognized by Banaras Hindu University  
as an external Research Centre*

---

**श्रमणः** जैनशास्त्र की त्रैमासिक शोध-पत्रिका  
**Śramaṇa:** A Quarterly Research Journal of Jainology

---

**Vol. LIX**

**No. II**

**April - June 2008**

---

ISSN-0972-1002

***Subscription***

***Annual membership***

For Institutions: Rs. 250.00

For Individuals: Rs. 200.00

Per Issue Price: Rs. 50.00

***Life Membership***

For Institutions: Rs. 1500.00

For Individuals: Rs. 500.00

*Membership fee can be sent in the form of cheque or draft only in the name of Parshwanath Vidyapeeth*

---

**Published by :** Parshwanath Vidyapeeth  
I. T. I. Road, Karaundi, Varanasi-221005  
Ph. 911-0542-2575521, 2575890  
**Email :** parshwanathvidyapeeth@rediffmail.com  
pvri@sify.com

**Type Setting by :** Add Vision  
Karaundi, Varanasi-221005  
**Vimal Chandra Mishra**  
Rathyatra, Varanasi

**Printed at :** Vardhaman Mudranalaya  
Bhelupur, Varanasi-221010

---

**Note :** The Editor may not be agreed with the views or the facts stated in this Journal by the respected authors.

# श्रमण

अप्रैल-जून २००८

विषयसूची

हिन्दी खण्ड

१. भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म एवं दर्शन	१-२४
२. गुणस्थान सिद्धान्त पर एक महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य	२५-३१
३. जैन धर्म में ध्यान-विधि की विकास-यात्रा	३२-३६
४. ध्यानशतक : एक परिचय	३७-४९
५. आचारांगसूत्र की मनोवैज्ञानिक दृष्टि	५०-६१
६. क्या तत्त्वार्थसूत्र स्त्रीमुक्ति का निषेध करता है?	६२-६८
७. राजप्रश्नीयसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन	६९-८२
८. वृष्णिदशा : एक परिचय	८३-८५
९. जैन इतिहास : अध्ययन विधि एवं मूलस्रोत	८६-९९
१०. शंखेश्वर तीर्थ का इतिहास	१००-१०४
११. 'नवदिगम्बर सम्प्रदाय' की कल्पना कितनी समीचीन?	१०५-११२
१२. जैन कथा-साहित्य : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण	११३-१२३
१३. जैन जीवन-दृष्टि	१२४-१३४
१४. विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता : जैन साहित्य के सन्दर्भ में	१३५-१४१
१५. षट्जीवनिकाय की अवधारणा : एक वैज्ञानिक विश्लेषण	१४२-१४९

## ENGLISH SECTION

16. Role of Religion in unity of Mankind and World Peace	151-167
17. Jaina Literature	168-173
18. How appropriate is the proposition of Neo-Digambara School?	174-183
19. Jaina Canonical Literature	184-197
20. An investigation of the earlier subject matter of Prašnavyākaraṇa Sūtra	198-216
२१. जैन जगत्	२१७-२२२
२२. साहित्य सत्कार	२२३-३२९



## हिन्दी खण्ड

- भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म एवं दर्शन
- गुणस्थान सिद्धान्त पर एक महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य
- जैन धर्म में ध्यान-विधि की विकास-यात्रा
- ध्यानशतक : एक परिचय
- आचारांगसूत्र की मनोवैज्ञानिक दृष्टि
- क्या तत्त्वार्थसूत्र स्त्रीमुक्ति का निषेध करता है?
- राजप्रश्नीयसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन
- वृष्णिदशा : एक परिचय
- जैन इतिहास : अध्ययन विधि एवं मूलस्रोत
- शंखेश्वर तीर्थ का इतिहास
- 'नवदिगम्बर सम्प्रदाय' की कल्पना कितनी समीचीन?
- जैन कथा-साहित्य : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण
- जैन जीवन-दृष्टि
- विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता : जैन साहित्य के सन्दर्भ में
- षट्जीवनिकाय की अवधारणा : एक वैज्ञानिक विश्लेषण

## भारतीय दार्शनिक ग्रन्थों में प्रतिपादित बौद्ध धर्म एवं दर्शन

भारतीय संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। इसमें ब्राह्मणों और श्रमणों का समान अवदान है। बौद्ध धर्म-दर्शन भारतीय श्रमणधारा का एक प्रमुख अंग है। भारतीय श्रमण परम्परा का उल्लेख वैदिक काल से ही उपलब्ध होने लगता है। वेद विश्व-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थों में से है। ऋग्वेद में हमें बार्हतों के साथ-साथ आर्हतों एवं ब्राह्मणों के भी उल्लेख मिलते हैं। ऋग्वेद में आर्हत-बार्हत ऐसी दो धाराओं के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेदकालीन आर्हतों और ब्राह्मणों की यह परम्परा ही कालान्तर में श्रमणधारा के रूप में विकसित हुई है। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो औपनिषदिक चिन्तन प्राचीन वैदिक एवं श्रमण चिन्तन का समन्वय स्थल है।

मात्र यही नहीं औपनिषदिक चिन्तन में श्रमणधारा के अनेक तथ्य स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं, जो यह बताते हैं कि इस युग में वैदिकधारा श्रमणधारा से, विशेष रूप से उसकी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से, प्रभावित हो रही थी। आरण्यकों के काल से ही वैदिक ऋषि श्रमणधारा से प्रभावित होकर अपने चिन्तन में श्रमणधारा के आध्यात्मिक मूल्यों को आत्मसात कर रहे थे। त्याग-वैराग्यमूलक जीवन-मूल्यों, संन्यास एवं निर्वाण के प्रत्ययों को आत्मसात करके वैदिक संस्कृति में आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि का विकास हो रहा था। बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य द्वारा अपनी सम्पत्ति को दोनों पत्नियों में विभाजित कर लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा का त्यागकर संन्यास ग्रहण करने और भिक्षाचर्या द्वारा जीवनयापन करने का जो निर्देश उपलब्ध होता है, वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वैदिकधारा श्रमणधारा के जीवन मूल्यों को आत्मसात कर एक नव आध्यात्मिक संस्कृति को जन्म दे रही थी। उपनिषदों में यज्ञ-याग की समालोचना एवं ईशावास्योपनिषद् का त्यागमूलक भोग का निर्देश इस बात का प्रमाण है कि उपनिषद् श्रमणधारा के चिन्तन को आत्मसात कर रहे थे। सांख्य-योग की ध्यान एवं योग की परम्परा एवं महाभारत और गीता में हिंसापरक यज्ञों के स्थान पर प्राणीमात्र की सेवारूप

भूत-यज्ञ का प्रतिपादन तथा तीर्थ, स्नानादि अनेक वैदिक कर्मकाण्डों को आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान करना वैदिकधारा के श्रमणधारा के साथ समन्वित होने का परिणाम था।

यह भारतीय श्रमणधारा भी कालान्तर में विभिन्न रूपों में विभाजित होती रही है। इसके कुछ संकेत हमें प्राचीन जैन और बौद्ध ग्रन्थों से मिल जाते हैं। प्राकृत भाषा में निबद्ध प्राचीन जैन ग्रन्थ इसिभासियाई एवं सूत्रकृतांगसूत्र और बौद्ध ग्रन्थ थेरगाथा एवं सुत्तनिपात में अनेक औपनिषदिक ऋषियों का सम्मानपूर्वक उल्लेख मिलता है। इसिभासियाई में जो पैतालीस ऋषियों के उल्लेख हैं, उनमें नारद, असितदेवल, याज्ञवल्क्य, आरुणी, उद्दालक आदि औपनिषदिक ऋषियों को अर्हत् ऋषि कहकर उन्हें अपनी श्रमण परम्परा से सम्बद्ध बताया गया है, इसी प्रकार सूत्रकृतांगसूत्र में असितदेवल, पाराशर, रामपुत्र आदि को आचारगत विभिन्नता के बावजूद भी अपनी परम्परा से सम्मत एवं सिद्धि को प्राप्त बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि श्रमणधारा भारतीय चिन्तन की एक व्यापक धारा रही है। जैन ग्रन्थों में पाँच प्रकार के श्रमणों के उल्लेख मिलते हैं— (१) निर्ग्रन्थ (२) शाक्यपुत्रीय (बौद्ध) (३) आजीवक (४) गैरिक और (५) तापस। तापसों एवं गैरिक (गेरुआ वस्त्रधारी संन्यासियों) को श्रमण कहना इस बात का प्रमाण है, हिन्दूधर्म में संन्यास-मार्ग का जो विकास हुआ है, वह श्रमणधारा का ही प्रभाव है। तापसों और गैरिकों की यह परम्परा ही सम्भवतः सांख्य और योगदर्शन की जनक और उनका ही पूर्वरूप हो।

भारतीय श्रमणधारा से विकसित बौद्ध परम्परा के अस्तित्व के उल्लेख हमें वेदों एवं उपनिषदों में तो नहीं मिलते हैं, किन्तु हिन्दू पुराणों में बुद्ध और बौद्ध धर्म के उल्लेख हैं। इसके विपरीत जैन आगमों में प्राचीन काल से ही बौद्धों के उल्लेख मिलने लगते हैं। जहाँ एक ओर पालि त्रिपिटक में निर्ग्रन्थों, आजीवकों और तापसों के उल्लेख मिलते हैं, वहीं जैन ग्रन्थों में भी शाक्यपुत्रीय श्रमणों (बौद्ध श्रमणों) के उल्लेख मिलते हैं। जैन ग्रन्थ इसिभासियाई में वज्जीयपुत्र, सारिपुत्र और महाकश्यप के उल्लेख उपलब्ध हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में उदकपेढालपुत्र का बौद्ध श्रमणों के साथ संवाद, बौद्धों के पंचस्कन्धवाद एवं संततिवाद की सामान्य समीक्षा भी उपलब्ध होती है। इसी प्रकार दीघनिकाय और सुत्तनिपात में बुद्ध के समकालीन छः तैर्थिकों का भी उल्लेख मिलता है, जिनमें निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र (महावीर) और मंखलि गोशालक प्रमुख हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जहाँ एक ओर भारतीय धर्म-दर्शन सम्बन्धी ग्रन्थों में प्राचीनकाल से ही बौद्ध

धर्म-दर्शन तथा उसकी तत्त्वमीमांसा और प्रमाणमीमांसा सम्बन्धी मान्यताओं के निर्देश और उनकी समीक्षा उपलब्ध होती है, वहीं दूसरी ओर बौद्ध ग्रन्थों में भी अन्य धर्म-दर्शनों और उनकी मान्यताओं के उल्लेख मिलते हैं। १. बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में बासठ मिथ्यादृष्टियों के उल्लेख मिलते हैं, वहीं जैनग्रन्थों में मेरे अनुसार त्रेसठ मिथ्यादृष्टियों के उल्लेख मिलते हैं। जहाँ तक जैन ग्रन्थों का प्रश्न है उसमें ऋषिभाषित वज्जीपुत्त, सारिपुत्त और महाकाश्यप जैसे बौद्ध परम्परा के ऋषियों के उपदेश को श्रद्धापूर्वक उल्लेखित करता है और उन्हें अर्हत् ऋषि के रूप में स्वीकार करता है। त्रिपिटक साहित्य में भी हम वर्धमान आदि छः तैर्थिकों के सामान्य सिद्धान्तों के उल्लेख के साथ मात्र इतना संकेत पाते हैं कि इनकी मान्यताएँ समुचित नहीं हैं। कालान्तर में विशेष रूप से सूत्रयुग में हमें बौद्ध धर्म की दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षाएँ इन सूत्र-ग्रंथों- न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, सांख्यसूत्र आदि में उपलब्ध होने लगती हैं।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन के मूल बीज चाहे औपनिषदिक चिन्तन में उपलब्ध हों, किन्तु भारत में व्यवस्थित रूप से दार्शनिक प्रस्थानों का प्रादुर्भाव सूत्रयुग से ही देखा जाता है। सूत्रयुग में विभिन्न भारतीय दार्शनिक निकायों ने अपने-अपने सूत्र ग्रन्थों का निर्माण किया। जैसे- सांख्यसूत्र, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, योगसूत्र, तत्त्वार्थसूत्र आदि। इन ग्रन्थों में चिन्तकों ने न केवल अपने-अपने दर्शनों को सुव्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, अपितु अन्य दार्शनिक मतों का, उनका नामोल्लेख किये बिना यथावसर सूत्र रूप में खण्डन किया है, जैसे योगसूत्र के कैवल्यपाद के २०-२१वें सूत्र 'एकसमये चोभयानवधारणम् चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च' द्वारा बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन किया गया है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि जहाँ प्राचीन स्तर के सूत्र ग्रन्थों में बौद्धों के पंचस्कन्धवाद, क्षणिकवाद, संततिवाद आदि का खण्डन मिलता है, वहीं परवर्ती काल के सूत्र ग्रन्थों में विज्ञानवाद और शून्यवाद के भी खण्डन के सूत्र मिलने लगते हैं। बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा करते हुए यह कहा गया है कि यदि पूर्वक्षण वाले चित्त को उत्तरक्षण वाला चित्त जानता है, तो फिर उत्तरक्षण वाले चित्त को जानने वाले किसी अन्य चित्त की कल्पना करनी होगी और इससे अनवस्था एवं स्मृतियों के सम्मिश्रण सम्बन्धी दोष होगा। इसी प्रकार इसी योगसूत्र में बौद्धों के पंचस्कन्धवाद का भी खण्डन किया गया है।

यदि हम ब्रह्मसूत्र पर विचार करें तो उसके द्वितीय पाद के द्वितीय अध्याय में सूत्र क्रमांक १८ से लेकर ३२ तक बौद्ध दर्शन के पंचस्कन्धवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, क्षणिकवाद और शून्यवाद की समीक्षा की गई है। इससे एक महत्त्वपूर्ण तथ्य उभर कर यह आता है कि यदि ब्रह्मसूत्र में बौद्धों के शून्यवाद की समालोचना है, तो फिर ब्रह्मसूत्र ईसा की दूसरी शती से पूर्व का नहीं हो सकता है। क्योंकि बौद्ध दर्शन में शून्यवाद का विकास दूसरी शती से ही देखा जाता है।

इसी प्रकार सांख्यसूत्र (५/५२) में बौद्धों के असत्-ख्यातिवाद अर्थात् शून्यवाद का खण्डन किया गया है। इससे सांख्यसूत्र का रचनाकाल भी शून्यवाद के पश्चात् ही मानना होगा। इन संकेतों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि सूत्रयुग में भारतीय दार्शनिक बौद्धों के क्षणिकवाद, संततिवाद, पंचस्कन्धवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद से परिचित हो चुके थे।

सूत्र ग्रन्थों की रचना के पश्चात् भारतीय दर्शन-प्रस्थानों में तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाणशास्त्र सम्बन्धी समीक्षात्मक ग्रन्थों का रचनाकाल प्रारम्भ होता है। ईसा की चौथी-पाँचवीं शती से लेकर प्रायः बारहवीं-तेरहवीं शती तक तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा सम्बन्धी एवं दूसरे दार्शनिक प्रस्थानों के समीक्षा रूप गम्भीर ग्रन्थों का प्रणयन तार्किक शैली में हुआ। इन ग्रन्थों में अन्य दर्शनों की समीक्षा में उन्हें समझे बिना न केवल बाल की खाल उतारी गई, अपितु उनकी स्थापनाओं को इस प्रकार से प्रस्तुत किया गया कि उनको खण्डित किया जा सके। इस काल में दो प्रकार के ग्रन्थों की रचना देखी जाती है- या तो वे किसी सूत्र ग्रन्थों की टीका के रूप में लिखे गये या फिर स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में लिखे गये- इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों में प्रत्येक दार्शनिक प्रस्थान ने स्वपक्ष के मण्डन और विरोधीपक्ष के खण्डन का प्रयास किया। इस युग में भारतीय दार्शनिकों ने जहाँ एक ओर अपनी कृतियों में बौद्ध अवधारणाओं की समीक्षा की, वहीं बौद्ध चिन्तकों ने अन्य भारतीय दर्शनों की समीक्षा की। बौद्ध धर्म-दर्शन में ऐसे दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की परम्परा ईसा की प्रथम-द्वितीय शती से लेकर लगभग ग्यारहवीं शताब्दी तक निरन्तर बनी रही है। इस काल में प्रारम्भ में मुख्यतः विज्ञानवाद और शून्यवाद के ग्रन्थों की रचना हुई। इनमें दार्शनिक चिन्तन की जो गम्भीरता देखी जाती है, वह निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है। पश्चिम में लगभग पन्द्रहवीं शती से आधुनिक काल तक जिन दार्शनिक प्रस्थानों का विकास हुआ है उन सभी के आधारभूत तत्त्व मात्र बौद्ध परम्परा की विभिन्न दार्शनिक निकायों में मिल जाते हैं।

बौद्ध धर्म-दर्शन में तार्किक शैली की दार्शनिक रचना का प्रारम्भ नागार्जुन से देखा जाता है। नागार्जुन की दार्शनिक रचनाओं में माध्यमिककारिका, युक्ति-षष्टिका, विग्रहव्यावर्तिनी और बैदल्यसूत्रप्रकरण प्रमुख हैं। नागार्जुन की माध्यमिककारिका माध्यामिक सम्प्रदाय या शून्यवाद का प्रमुख ग्रन्थ है। जहाँ माध्यमिककारिका शून्यवाद के आधारभूत चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त तत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करती है, वहाँ विग्रहव्यावर्तिनी माध्यमिक परम्परा की प्रमाणमीमांसा का आधारभूत ग्रंथ है। जहाँ माध्यमिककारिका में नागार्जुन ने सत्, असत्, उभय और अनुभय- इन चार कोटियों से भिन्न परमतत्त्व (शून्यतत्त्व) के स्वरूप का निरूपण किया है, वहीं विग्रहव्यावर्तिनी में उन्होंने न्यायसूत्र के प्रमाणों की गंभीर समीक्षा की है। इस ग्रन्थ में नागार्जुन ने न्याय दर्शन द्वारा मान्य चार प्रमाणों का उपस्थापन कर उनका खण्डन किया है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि नागार्जुन न्यायसूत्र एवं उनकी विषयवस्तु से परिचित थे, क्योंकि उन्होंने न्यायसूत्र में प्रतिपादित प्रमाणों को अपनी समीक्षा का आधार बनाया है। न्याय दर्शन में नागार्जुन के इस खण्डन का प्रत्युत्तर परवर्तीकालीन न्याय दार्शनिकों द्वारा न्यायसूत्रों की टीकाओं में दिया गया। विशेष रूप से उद्योतकर (छठी शती उत्तरार्ध) एवं वाचस्पति मिश्र (९वीं शती उत्तरार्ध) ने अपने ग्रंथों में नागार्जुन के मन्तव्यों का खण्डन किया है।

नागार्जुन के पश्चात् मैत्रेय ने बौद्ध विज्ञानवाद पर अपने ग्रंथों की रचना की जिनमें बोधिसत्त्वचर्या निर्देश, सप्तदशाभूमि, अभिसमय-अलङ्कारिका आदि प्रमुख हैं। सप्तदशाभूमिशास्त्र में मैत्रेय ने वाद-विषय, वादाधिकरण, वादकरण आदि के निरूपण के साथ-साथ सिद्धान्त, हेतु, उदाहरण, साधर्म्य, वैधर्म्य, प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम ऐसे आठ प्रमाणों का उल्लेख किया है। ज्ञातव्य है कि मैत्रेय ने गौतम द्वारा प्रणीत न्यायसूत्र के उपमान प्रमाण का कोई उल्लेख नहीं किया है, फिर भी वे जिन आठ प्रमाणों का उल्लेख करते हैं वे न्याय दर्शन से अवतरित प्रतीत होते हैं।

नागार्जुन एवं मैत्रेय के पश्चात् बौद्ध विज्ञानवाद के प्रतिष्ठित आचार्यों में असंग और बसुबन्धु- इन दोनों भाइयों का नाम आता है। असंग की रचनाओं में 'योगाचारभूमिशास्त्र' एक प्रमुख ग्रंथ है। योगाचारभूमिशास्त्र में उन्होंने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम- ये तीन प्रमाण ही स्वीकार किये हैं। प्रतिज्ञा, हेतु, दृष्टान्त साधर्म्य एवं वैधर्म्य को अनुमान का ही अंग माना है। इस प्रकार असंग अपनी

प्रमाण-व्यवस्था में किसी सीमा तक न्याय दर्शन से निकटता रखते हैं। यद्यपि इनकी व्याख्याओं को लेकर इनका न्याय दर्शन से स्पष्ट मतभेद भी देखा जा सकता है।

असंग एवं बसुबन्धु (ईसा की पाँचवीं शताब्दी) के पश्चात् बौद्ध परम्परा में दिङ्नाग का स्थान आता है। दिङ्नाग के पूर्व बौद्ध न्यायशास्त्र पर आंशिक रूप से गौतम के न्यायसूत्र का प्रभाव देखा जाता है, किन्तु दिङ्नाग ने बौद्ध न्याय को एक नवीन दिशा दी। परवर्ती काल में नैयायिकों, मीमांसकों और जैन आचार्यों ने दिङ्नाग के मन्तव्यों को ही अपनी आलोचना का आधार बनाया। न्याय दर्शन में उद्योतकर ने, मीमांसा दर्शन में कुमारिलभट्ट एवं प्रभाकर ने और जैन दर्शन में द्वादशारण्यचक्र के कर्ता मल्लवादी, आप्तमीमांसा के कर्ता समन्तभद्र आदि ने दिङ्नाग का खण्डन किया है। दिङ्नाग की प्रमुख रचनाओं में आलम्बनपरीक्षा, त्रिकालपरीक्षा, हेतुचक्र, न्यायमुख, हेतुमुखप्रमाणसमुच्चय एवं उसकी वृत्ति आदि प्रमुख हैं। ज्ञातव्य है कि दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय का खण्डन करने के लिये उद्योतकर ने न्यायवार्तिक एवं कुमारलि भट्ट ने श्लोकवार्तिक की रचना की थी। जैन दार्शनिक मल्लवादी ने भी द्वादशारण्यचक्र की न्यायागमानुसारिणी टीका में प्रमाणसमुच्चय की अवधारणाओं का खण्डन किया। इसके अतिरिक्त जैन ग्रंथ तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, सन्मतिप्रकरणटीका आदि में भी प्रमाणसमुच्चय की स्थापनाओं की समीक्षा उपलब्ध होती है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध दार्शनिक दिङ्नाग के काल से भारतीय दार्शनिक चिन्तन में विशेष रूप से प्रमाण सम्बन्धी विवेचनाओं के खण्डन-मण्डन को पर्याप्त महत्त्व मिला। कुछ ऐसा भी हुआ कि अन्य परम्परा के लोगों ने अपने से भिन्न परम्परा के ग्रन्थों पर टीकाएँ भी लिखीं। दिङ्नाग का 'न्यायप्रवेश' बौद्धन्याय का एक प्रारम्भिक ग्रंथ है, किन्तु यहाँ यह विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि इस ग्रंथ पर जैनाचार्य हरिभद्रसूरि ने न्यायप्रवेश-वृत्ति और पार्श्वदेवगणि ने पंजिका लिखी। ध्यान देने योग्य बात यह है कि न्यायप्रवेश मूलतः प्रमाण-व्यवस्था के सन्दर्भ में केवल बौद्ध मन्तव्यों को प्रस्तुत करता है। इस पर हरिभद्रसूरि की टीका विशेष रूप से इसलिये महत्त्वपूर्ण है कि उन्होंने इस सम्पूर्ण टीका में कहीं भी जैन मन्तव्यों को हावी नहीं होने दिया है। संभवतः ऐसा उदारवादी दृष्टिकोण हरिभद्र जैसे समदर्शी आचार्य का ही हो सकता है। न्यायप्रवेश की वृत्ति में हरिभद्र ने न्यायसूत्र व उसके भाष्यकार वात्स्यायन वार्तिककार उद्योतकर, तात्पर्यटीकाकार वाचस्पति मिश्र और तात्पर्यटीका पर

परिशुद्धि लिखने वाले का भी उल्लेख किया है। दूसरी ओर इस ग्रंथ की टीका में धर्मकीर्ति के वादन्याय, न्यायबिन्दु एवं प्रमाणवार्तिक, शान्तरक्षित के तर्कसंग्रह और नागार्जुन के माध्यामिकशास्त्र एवं दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय का भी निर्देश किया गया है। डॉ० रंजन कुमार शर्मा ने इसी प्रसंग में न्यायप्रवेशसूत्रम् की भूमिका में हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा का जो निर्देश किया है, वह भ्रान्त है क्योंकि यह ग्रंथ हरिभद्र से परवर्ती है। अतः इसका निर्देश हरिभद्र की न्यायप्रवेश की टीका में सम्भव नहीं है।

दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय और न्यायप्रवेश के पश्चात् बौद्धन्याय के प्रमुख आचार्यों में धर्मकीर्ति का नाम आता है। धर्मकीर्ति ने जहाँ एक ओर अपने ग्रंथ प्रमाणवार्तिक में उद्योतकर, भर्तृहरि और कुमारिल की उपस्थापनाओं का खण्डन किया है वहीं दूसरी ओर वाचस्पति मिश्र, जयन्त भट्ट, व्योमशिव तथा जैन चिन्तक अकलंक और विद्यानन्द ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक के मन्तव्यों की समीक्षा की है। धर्मकीर्ति के पूर्व जहाँ बौद्ध दार्शनिकों का बौद्ध दर्शन की समीक्षा का आधार दिङ्नाग का प्रमाणसमुच्चय रहा था वहीं परवर्तीकाल में धर्मकीर्ति का प्रमाणवार्तिक बन गया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में बौद्धेतर दार्शनिक बौद्ध-ग्रंथों का और बौद्ध दार्शनिक बौद्धेतर दार्शनिकों के ग्रंथों का अध्ययन करते थे। ज्ञातव्य है कि धर्मकीर्ति के अन्य भी प्रमुख ग्रन्थ न्यायबिन्दु, प्रमाणविनिश्चय, हेतुबिन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, वादन्याय आदि रहे हैं, जिनमें नैयायिकों, मीमांसकों एवं जैन उपस्थापनाओं की समीक्षा मिलती है। धर्मकीर्ति के पश्चात् बौद्धन्याय के क्षेत्र में धर्मोत्तर और अर्चट के नाम आते हैं। जैन ग्रंथ प्रमाणनयतत्त्वालोक के टीकाकार रत्नप्रभसूरि ने 'रत्नकरावतारिका' में शब्दार्थ सम्बन्ध के संदर्भ में नैयायिकों, मीमांसकों और वैयाकरणिकों के मतों की समीक्षा धर्मोत्तर के नाम से की। इसी प्रकार रत्नप्रभसूरि ने अर्चट के नाम का भी निर्देश किया है। अर्चट आचार्य हरिभद्र के समकालीन प्रतीत होते हैं। धर्मकीर्ति के हेतुबिन्दु पर अर्चट की टीका बौद्ध प्रमाणशास्त्र के लिये आधारभूत मानी जाती रही है। ज्ञातव्य है कि प्रारम्भ के बौद्ध दार्शनिकों ने अपनी समालोचना का विषय मुख्य रूप से न्याय दर्शन को बनाया था, किन्तु अर्चट ने हेतुबिन्दु टीका में जैन दर्शन के स्याद्वाद सिद्धान्त का पैतालीस पद्यों में खण्डन किया है। इसी प्रकार अर्चट ने द्रव्य एवं पर्याय की कथंचित् अव्यतिरेकता का प्रतिपादन करने वाले समन्तभद्र की आप्तमीमांसा के श्लोक का भी खण्डन किया है। उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के 'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्' की समीक्षा करते हुए सत् को क्षणिक सिद्ध किया। बौद्ध दार्शनिकों के



क्रम में आगे शान्तरक्षित और कमलशील के नाम आते हैं। शान्तरक्षित का आठवीं शती का तत्त्वसंग्रह बौद्धन्याय की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह में अविद्धकर्ण शंकरस्वामी, भावीविक्रत तथा जैन दार्शनिक सुमति और पात्रस्वामी के मन्तव्यों को उपस्थापित कर उनका खण्डन किया है। इसी प्रकार शान्तरक्षित के तत्त्वसंग्रह पर कमलशील की पंजिका में भी जैन दार्शनिक सुमति एवं पात्रस्वामी के मतों की समीक्षा मिलती है। दुर्वेकमिश्र का बौद्ध न्यायशास्त्र के रचयिताओं में अन्तिम नाम आता है। हेतुबिन्दुटीकालोक, धर्मोत्तरप्रदीप और न्यायबिन्दु टीका इनका प्रमुख ग्रंथ है। हेतुबिन्दुटीकालोक में दुर्वेकमिश्र ने जैन मन्तव्यों की समीक्षा की है। इस प्रकार ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी तक भारत में बौद्ध दर्शन एवं न्याय के अनेक ग्रंथों की रचना हुई, इनमें जहाँ बौद्ध दार्शनिकों ने भी बौद्धेतर दार्शनिकों के मन्तव्यों की समीक्षा की, वहीं बौद्धेतर दार्शनिकों ने इन बौद्ध आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथों को आधार बनाकर बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा की है। इस प्रकार लगभग ईसा की बारहवीं शताब्दी तक भारतीय दार्शनिक एक-दूसरे की परम्परा का सम्यक् रूप से अध्ययन करते रहे और उन्हें अपनी समीक्षा का विषय बनाते रहे। इस काल के बौद्ध एवं बौद्धेतर दर्शन ग्रंथों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उस काल तक अपने से भिन्न परम्परा के ग्रंथों के अध्ययन एवं समीक्षा की एक जीवन्त परम्परा थी, जो परवर्तीकाल में लुप्त हो गई।

### जैन विचारकों की दृष्टि में बौद्ध धर्म-दर्शन

जैसा कि हमने पूर्व में निर्देश किया है कि जैन ग्रन्थों में बौद्ध धर्म एवं दर्शन सम्बन्धी उल्लेख आगम युग से ही मिलने लगते हैं। सर्वप्रथम इसिभासियाई (ऋषिभाषित) में सारिपुत्त, महाकश्यप और वज्जीपुत्त के उपदेशों का संकलन किया गया है, इसमें बौद्ध सन्ततिवाद, स्कन्धवाद आदि का स्पष्ट उल्लेख है। इसके अतिरिक्त सूत्रकृतांगसूत्र में बौद्धों के पंचस्कन्धवाद की समीक्षा भी है। इसके पश्चात् सर्वप्रथम सिद्धसेन दिवाकर के सन्मतितर्क में एवं कुछ द्वात्रिंशिकाओं में- यथा बारहवीं द्वात्रिंशिका में न्याय दर्शन, तेरहवीं में सांख्य दर्शन, चौदहवीं में वैशेषिक दर्शन और पन्द्रहवीं द्वात्रिंशिका में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद आदि पर चुटीले व्यंग्य कसे गये हैं, किन्तु वहीं सिद्धसेन ने सन्मतितर्कप्रकरण में बौद्ध क्षणिकवाद को ऋजुसूत्रनय के आधार पर समीचीन भी माना है। इसके पश्चात् मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र और उसकी सिंहसूरि की टीका में भी बौद्ध मन्तव्यों की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है।

मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र में बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा कहाँ और किस रूप में मिलती है, इसका मूल सन्दर्भों सहित निर्देश डॉ. धर्मचन्द्र जैन ने अपने ग्रन्थ 'बौद्ध-प्रमाणमीमांसा की जैनदृष्टि से समीक्षा' के परिशिष्ट तृतीय, अध्याय-ख, पृ. ३९४-३९६ पर किया है। इसमें दिङ्नाग की उपस्थापनाओं को आधार बनाकर ही बौद्ध दर्शन की समीक्षा की गई है। लगभग ईसा की छठी शती में 'विशेषावश्यकभाष्य' के गणधरवाद में बौद्धों के क्षणिकवाद, शून्यवाद आदि की विस्तृत समीक्षा उपलब्ध होती है। यद्यपि सिद्धसेन और समन्तभद्र ने अनेकांतवाद की स्थापना के अपने प्रयत्न में बौद्धों के सत् के परिवर्तनशीलता के सिद्धान्त और इसके विरोधी कूटस्थ नित्यता के सिद्धान्त के मध्य समन्वय का प्रयत्न कर बौद्ध मन्तव्य की सापेक्षिक सत्यता का प्रतिपादन अवश्य किया, फिर भी हरिभद्र के पूर्व तक प्रायः जैन दार्शनिक बौद्ध दर्शन को एकान्त क्षणिकवादी और अनात्मवादी मानकर उसकी समीक्षा करते रहे। तत्त्वार्थवार्तिक के लेखक अकलंक ने भी बौद्धों के तत्त्वमीमांसीय और ज्ञानमीमांसीय मन्तव्यों की समीक्षा की है। वस्तुतः भारतीय दर्शन के दर्शन-व्यवस्था युग और प्रमाण-व्यवस्था युग, दर्शन निकायों के पारस्परिक खण्डन-मण्डन के काल ही रहे हैं। जैन दार्शनिक भी बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा के सन्दर्भ में इसके अपवाद नहीं हैं। हरिभद्र के पूर्ववर्ती सभी जैन दार्शनिकों ने भी बौद्ध-दर्शन और उसकी प्रमाण-व्यवस्था की समीक्षा की और समीक्षा का यह क्रम आगे भी चलता रहा, हरिभद्र के पश्चात् भी विद्यानन्द, सुमति, प्रभाचन्द्र, वादिदेवसूरि, माणिक्यनन्दी, अभयदेवसूरि रत्नप्रभूसूरि, चन्द्रसेनसूरि, हेमचन्द्र आदि जैन दार्शनिकों ने बौद्धों के क्षणिकवाद, सन्ततिवाद, प्रमाणलक्षण, प्रमाण की अव्यवसायात्मकता, प्रमाण का मात्र स्व-प्रकाशक होना, शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का अभाव, प्रत्यक्ष की निर्विकल्पना, अपोहवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि की जमकर समीक्षा की। इन सबके बीच आचार्य हरिभद्र का एक ऐसा व्यक्तित्व उभरा जिसने बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा करते हुए उसमें निहित सत्यता का उदारहृदय से स्वागत किया और दिङ्नाग के न्यायप्रवेश पर निष्पक्ष टीका लिखी। खण्डन-मण्डन के इस युग में हरिभद्र का दूसरा सबसे महत्त्वपूर्ण अवदान है-दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना की। शास्त्रवार्तासमुच्चय और षट्दर्शनसमुच्चय उनके इसी कोटि के ग्रन्थ हैं।

### दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में बौद्ध दर्शन

यद्यपि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में सर्वदर्शनसंग्रह को प्रथम स्थान दिया जाता है और उसे आदि शंकराचार्य की कृति बताया जाता है, किन्तु वह आदि शंकराचार्य

की कृति है, इस सम्बन्ध में अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं। यहाँ उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है। मेरी दृष्टि में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना का द्वार हरिभद्र ने ही उद्घाटित किया और षड्दर्शनसमुच्चय की रचना कर खण्डन-मण्डन के इस युग में एक नवीन दृष्टि दी।

ज्ञातव्य है कि भारत के दर्शन-संग्राहक सभी ग्रन्थों में हमें बौद्ध धर्म-दर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों की जानकारी उपलब्ध होती है। भारतीय दर्शनिक ग्रन्थों में बौद्ध धर्म-दर्शन की स्थिति को समझने के लिए इन दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

जैन दर्शन की अनेकान्तदृष्टि के प्रभाव के परिणामस्वरूप कुछ जैनाचार्यों ने उदारता का परिचय तो अवश्य दिया है, फिर भी उनकी सृजनधर्मिता उस स्तर की नहीं है, जिस स्तर की हरिभद्र की है। उनकी कृतियों में दो-चार गाथाओं या श्लोकों में उदारता के चाहे संकेत मिल जायें, किन्तु ऐसे कितने हैं, जिन्होंने समन्वयात्मक और उदारदृष्टि के आधार पर षड्दर्शनसमुच्चय, शास्त्रवार्तासमुच्चय और योगदृष्टिसमुच्चय जैसी महान् कृतियों का प्रणयन किया हो?

अन्य दार्शनिक और धार्मिक परम्पराओं का अध्ययन मुख्यतः दो दृष्टियों से किया जाता है- एक तो उन परम्पराओं की आलोचना करने की दृष्टि से और दूसरा उनका यथार्थ परिचय पाने और उनमें निहित सत्य को समझने की दृष्टि से। पुनः आलोचना एवं समीक्षा की दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थों में भी आलोचना के शिष्ट और अशिष्ट ऐसे दो रूप मिलते हैं। साथ ही जब ग्रन्थकर्ता का मुख्य उद्देश्य आलोचना करना होता है, तो वह अन्य परम्पराओं के प्रस्तुतीकरण के साथ न्याय नहीं करता है और उनकी अवधारणाओं को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करता है। उदाहरण के रूप में स्याद्वाद और शून्यवाद के आलोचकों ने कभी भी उन्हें सम्यक् रूप से प्रस्तुत करने का प्रयत्न नहीं किया। यद्यपि हरिभद्र ने भी अपनी कुछ कृतियों में अन्य दर्शनों एवं धर्मों की समीक्षा की है। अपने ग्रन्थ धूर्ताख्यान में वे धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पनप रहे अन्धविश्वासों का सचोट खण्डन भी करते हैं, फिर भी इतना निश्चित है कि वे न तो अपने विरोधी के विचारों को भ्रान्त रूप में प्रस्तुत करते हैं और न उनके सम्बन्ध में अशिष्ट भाषा का प्रयोग ही करते हैं।

यदि हम भारतीय दर्शन के समग्र इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्त को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने के क्षेत्र में हुए प्रयत्नों

को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं, जिन्होंने सभी प्रमुख भारतीय दर्शनों की मान्यताओं को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की कोटि और उससे प्राचीन दर्शन-संग्राहक कोई अन्य ग्रन्थ हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र के पूर्व तक जैन, बौद्ध और वैदिक- तीनों ही परम्पराओं के किसी भी आचार्य ने अपने काल के सभी दर्शनों का निष्पक्ष परिचय देने की दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की रचना नहीं की थी। उनके ग्रन्थों में अपने विरोधी मतों का प्रस्तुतीकरण मात्र उनके खण्डन की दृष्टि से ही हुआ है। जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व सिद्धसेन दिवाकर और समन्तभद्र ने अन्य दर्शनों के विवरण तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु उनकी दृष्टि भी खण्डनपरक ही रही है। विविध दर्शनों का विवरण प्रस्तुत करने की दृष्टि से मल्लवादी का नयचक्र महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ कहा जा सकता है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य भी प्रत्येक दर्शन की अपूर्णता को सूचित करते हुए अनेकान्तवाद की स्थापना करना रहा है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के शब्दों में नयचक्र की कल्पना के पीछे आचार्य का आशय यह है कि कोई भी मत अपने आप में पूर्ण नहीं है। जिस प्रकार उस मत की स्थापना दलीलों से हो सकती है, उसी प्रकार उसका खण्डन भी। स्थापना और उत्थापन का यह चक्र चलता रहता है। अतएव अनेकान्तवाद में ये मत यदि अपना उचित स्थान प्राप्त करते हैं तभी उचित है, अन्यथा नहीं।<sup>१</sup> नयचक्र की मूलदृष्टि भी स्व-पक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और पर-पक्ष के खण्डन की ही है। इस प्रकार जैन परम्परा में भी हरिभद्र के पूर्व तक निष्पक्ष भाव से कोई भी दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ नहीं लिखा गया।

जैसा कि हमने पूर्व में संकेत किया है जैनतर परम्पराओं के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में आचार्य शंकर विरचित माने जाने वाले 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' का उल्लेख किया जा सकता है। यद्यपि यह कृति माधवाचार्य के 'सर्वदर्शनसंग्रह' की अपेक्षा प्राचीन है, फिर भी इसके आद्य शंकराचार्य द्वारा विरचित होने में सन्देह है। इस ग्रन्थ में भी पूर्वदर्शन का उत्तरदर्शन के द्वारा निराकरण करते हुए अन्त में अद्वैत वेदान्त की स्थापना की गयी है। अतः किसी सीमा तक इसकी शैली को नयचक्र की शैली के साथ जोड़ा जा सकता है, किन्तु जहाँ नयचक्र, अन्तिम मत का भी प्रथम मत से खण्डन करवाकर किसी भी एक दर्शन को अन्तिम नहीं मानता है, वहाँ 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' वेदान्त को एकमात्र और अन्तिम सत्य स्वीकार करता है। अतः यह एक दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ होकर भी निष्पक्ष दृष्टि का प्रतिपादक

नहीं माना जा सकता है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है, वह इसमें नहीं है।

जैनेतर परम्पराओं में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान माधवाचार्य (ई. १३५०) के 'सर्वदर्शनसंग्रह' का आता है। किन्तु 'सर्वदर्शनसंग्रह' की मूलभूत दृष्टि भी यही है कि वेदान्त ही एकमात्र सम्यग्दर्शन है। 'सर्वसिद्धान्तसंग्रह' और 'सर्वदर्शनसंग्रह' दोनों की हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय से इस अर्थ में भिन्नता है कि जहाँ हरिभद्र बिना किसी खण्डन-मण्डन के तटस्थ भाव से तत्कालीन विविध दर्शनों को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ वैदिक परम्परा के इन दोनों ग्रन्थों की मूलभूत शैली खण्डनपरक ही है। अतः इन दोनों ग्रन्थों में अन्य दार्शनिक मतों के प्रस्तुतीकरण में वह निष्पक्षता और उदारता परिलक्षित नहीं होती, जो हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय में है।

इसके पश्चात् वैदिक परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में मधुसूदन सरस्वती के 'प्रस्थान-भेद' का क्रम आता है। मधुसूदन सरस्वती ने दर्शनों का वर्गीकरण आस्तिक और नास्तिक के रूप में किया है। नास्तिक-अवैदिक दर्शनों में वे छः प्रस्थानों का उल्लेख करते हैं। इसमें बौद्ध दर्शन के चार सम्प्रदाय तथा चार्वाक और जैनों का समावेश हुआ है। आस्तिक-वैदिक दर्शनों में न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा का समावेश हुआ है। इन्होंने पाशुपत दर्शन एवं वैष्णव दर्शन का भी उल्लेख किया है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार प्रस्थान-भेद के लेखक की एक विशेषता अवश्य है, जो उसे पूर्व उल्लेखित वैदिक परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों से अलग करती है 'वह यह कि इस ग्रन्थ में वैदिक दर्शनों के पारस्परिक विरोध का समाधान यह कहकर किया गया है कि इन प्रस्थानों के प्रस्तोता सभी मुनि भ्रान्त तो नहीं हो सकते, क्योंकि वे सर्वज्ञ थे। चूँकि बाह्य विषयों में लगे हुए मनुष्यों का परम पुरुषार्थ में प्रविष्ट होना कठिन होता है, अतएव नास्तिकों का निराकरण करने के लिए इन मुनियों ने दर्शन प्रस्थानों के भेद किये हैं।' इस प्रकार प्रस्थान-भेद में यत्किंचित् उदारता का परिचय प्राप्त होता है, किन्तु यह उदारता केवल वैदिक परम्परा के आस्तिक दर्शनों के सन्दर्भ में ही है, नास्तिकों का निराकरण करना तो प्रस्थान-भेद एवं सर्वदर्शनकौमुदीकार को इष्ट ही है। इस प्रकार दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में हरिभद्र की जो निष्पक्षता और उदारदृष्टि है वह हमें अन्य परम्पराओं में रचित दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती है। यद्यपि वर्तमान में भारतीय दार्शनिक परम्पराओं का विवरण प्रस्तुत करनेवाले अनेक ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, किन्तु उनमें भी कुछ लेखकों का उद्देश्य तो कहीं

न कहीं अपने इष्ट दर्शन को ही अन्तिम सत्य के रूप में प्रस्तुत करना प्रतीत होता है।

हरिभद्र के पश्चात् जैन परम्परा में लिखे गए दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में आज्ञातकर्तृक 'सर्वसिद्धान्तप्रवेशक' का स्थान आता है, किन्तु इतना निश्चित है कि यह ग्रन्थ किसी जैन आचार्य द्वारा प्रणीत है, क्योंकि इसके मंगलाचरण में 'सर्वभाव प्रणेतारं प्रणिपत्य जिनेश्वरं' ऐसा उल्लेख है। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का ही अनुसरण करती है।<sup>३</sup> अन्तर मात्र यह है कि जहाँ हरिभद्र का ग्रन्थ पद्य में है वहाँ सर्वासिद्धान्तप्रवेशक गद्य में है। साथ ही यह ग्रन्थ हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की अपेक्षा कुछ विस्तृत भी है। इसमें बौद्ध दर्शन पर भी एक अध्याय है। जैन परम्परा के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में दूसरा स्थान जीवदेवसूरि के शिष्य आचार्य जिनदत्तसूरि (वि.सं. १२६५) के 'विवेकविलास' का आता है। इस ग्रन्थ के अष्टम् उल्लास में षड्दर्शनविचार नामक प्रकरण है, जिसमें जैन, मीमांसा, बौद्ध, सांख्य, शैव और नास्तिक- इन छः दर्शनों का संक्षेप में वर्णन किया गया है।

यह ग्रन्थ भी हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय के समान केवल परिचयात्मक और निष्पक्ष विवरण प्रस्तुत करता है और आकार में मात्र ६६ श्लोक परिमाण है।

जैन परम्परा में दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में तीसरा क्रम राजशेखर (विक्रम सं. १४०५) के 'षड्दर्शनसमुच्चय' का आता है। इस ग्रन्थ में जैन, सांख्य, जैमिनीय, योग, वैशेषिक और सौगत (बौद्ध) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया गया है और अन्त में नास्तिक के रूप में चार्वाक दर्शन का परिचय दिया गया है। हरिभद्र के समान ही इस ग्रन्थ में भी इन सभी को आस्तिक कहा गया है। हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय और राजशेखर के षड्दर्शनसमुच्चय में एक मुख्य अन्तर इस बात को लेकर है कि दर्शनों के प्रस्तुतीकरण में जहाँ हरिभद्र जैनदर्शन को चौथा स्थान देते हैं वहाँ राजशेखर जैन दर्शन को प्रथम स्थान देते हैं। पं. सुखलाल संघवी के अनुसार सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि राजशेखर अपने समकालीन दार्शनिकों के अभिनिवेशयुक्त प्रभाव से अपने को दूर नहीं रख सके हों।

पं. दलसुखभाई मालवणिया की सूचना के अनुसार राजशेखर के काल का ही एक अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थ आचार्य मेरुतुंगकृत 'षड्दर्शननिर्णय' है। इस ग्रन्थ में मेरुतुंग ने जैन, बौद्ध, मीमांसा, सांख्य, न्याय और वैशेषिक- इन

छः दर्शनों की मीमांसा की है, किन्तु इस कृति में हरिभद्र जैसी उदारता नहीं है। यह मुख्यतया जैनमत की स्थापना और अन्य मतों के खण्डन के लिये लिखा गया है। इसकी एकमात्र विशेषता यह है कि इसमें महाभारत, स्मृति, पुराण आदि के आधार पर जैनमत का समर्थन किया गया है।

पं. दलसुखभाई मालवणिया ने 'षड्दर्शनसमुच्चय' की प्रस्तावना में इस बात का भी उल्लेख किया है कि सोमतिलकसुरिकृत 'षड्दर्शनसमुच्चय की वृत्ति के अन्त में अज्ञातकृत एक कृति मुद्रित है। इसमें भी जैन, न्याय, बौद्ध, वैशेषिक, जैमिनीय, सांख्य और चार्वाक-ऐसे सात दर्शनों का संक्षेप में परिचय दिया गया है, किन्तु अन्त में अन्य दर्शनों को दुर्नय की कोटि में रखकर जैन दर्शन को उच्च श्रेणी में रखा गया है। इस प्रकार इसका लेखक भी अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से दूर नहीं रख सका।

फिर भी इतना निश्चित है कि हरिभद्र आदि जैन दार्शनिकों ने अपने दर्शन-संग्राहक में अधिक उदारता का परिचय दिया है और इन सभी में बौद्ध दर्शन का प्रस्तुतीकरण अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिकता से हुआ है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों की रचना में भारतीय इतिहास में हरिभद्र आदि जैन दार्शनिकों ने निष्पक्ष भाव से और पूरी प्रामाणिकता के साथ अपने ग्रन्थों में अन्य दर्शनों का विवरण दिया है। इस क्षेत्र में वे अभी तक अद्वितीय है। दर्शन संग्राहक ग्रन्थों की यह परम्परा आधुनिक युग में भी देखी जाती है। भारतीय दर्शन पर लिखे गये समकालीन लेखकों- सुरेन्द्र नाथ दासगुप्ता, डॉ० राधाकृष्णन्, प्रो० जदुनाथ सिन्हा, प्रो० चन्द्रधर शर्मा, डॉ० उमेश मिश्र, पं० बलदेव उपाध्याय आदि के ग्रन्थों में बौद्ध दर्शन और उसकी विभिन्न निकायों का उल्लेख उपलब्ध होता है, यद्यपि प्रो. राधाकृष्णन् ने बौद्ध दर्शन की समीक्षा भी की है, किन्तु अधिकांश लेखकों का प्रयत्न यथावत् प्रस्तुतीकरण का रहा है।

### समीक्षा में भी शिष्ट भाषा का प्रयोग

दर्शन के क्षेत्र में अपनी दार्शनिक अवधारणाओं की पुष्टि तथा विरोधी अवधारणाओं के खण्डन के प्रयत्न अत्यन्त प्राचीनकाल से होते रहे हैं। प्रत्येक दर्शन अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिए अन्य दार्शनिक मतों की समालोचना करता है। स्व-पक्ष का मण्डन तथा पर-पक्ष का खण्डन-यह दार्शनिकों की सामान्य प्रवृत्ति रही है। हरिभद्र भी इसके अपवाद नहीं हैं। फिर भी उनकी यह विशेषता

है कि अन्य दार्शनिक मतों की समीक्षा में वे सदैव ही शिष्ट भाषा का प्रयोग करते हैं तथा विरोधी दर्शनों के प्रवर्तकों के लिए भी बहुमान प्रदर्शित करते हैं।

इसके कुछ उदाहरण हमें उनके ग्रन्थ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में देखने को मिल जाते हैं। अपने ग्रन्थ 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' के प्रारम्भ में ही ग्रन्थ-रचना का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए वे लिखते हैं-

यं श्रुत्वा सर्वशास्त्रेषु प्रायस्तत्त्वविनिश्चयः।

जायते द्वेषशमनः स्वर्गसिद्धिसुखावह ॥

अर्थात् इसका अध्ययन करने से अन्य दर्शनों के प्रति द्वेष-बुद्धि समाप्त होकर तत्त्व का बोध हो जाता है। इस ग्रन्थ में वे कपिल को दिव्य-पुरुष एवं महामुनि के रूप में सूचित करते हैं- कपिलोदिव्यो हि स महामुनिः (शास्त्रवार्तासमुच्चय, २३७)। इसी प्रकार वे बुद्ध को भी अर्हत्, महामुनि, सुवेद्यवत् (वही, ४६५-४६६) कहते हैं। यहाँ हम देखते हैं कि जहाँ एक ओर अन्य दार्शनिक अपने विरोधी दार्शनिकों का खुलकर परिहास करते हैं- न्याय दर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम को गाय का बछड़ा या बैल और महर्षि कणाद को उल्लू कहते हैं, वहीं दूसरी ओर हरिभद्र अपने विरोधियों के लिए महामुनि और अर्हत् जैसे सम्मानसूचक विशेषणों का प्रयोग करते हैं। 'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में यद्यपि अन्य दार्शनिक अवधारणाओं की स्पष्ट समालोचना है, किन्तु इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं मिलता जहाँ हरिभद्र ने शिष्टता की मर्यादा का उल्लंघन किया हो। इस प्रकार हरिभद्र ने बौद्ध आदि अन्य परम्पराओं के प्रति जिस शिष्टता और आदरभाव का परिचय दिया है, वह हमें जैन और जैनेतर किसी भी परम्परा के अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता।

हरिभद्र ने अन्य दर्शनों के अध्ययन के पश्चात् उनमें निहित सारतत्त्व या सत्य को समझने का जो प्रयास किया है, वह भी अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और उनके उदारचेता व्यक्तित्व को उजागर करता है।

'शास्त्रवार्तासमुच्चय' में हरिभद्र ने बौद्धों के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद की समीक्षा तो की है, किन्तु वे इन धारणाओं में निहित सत्य को भी देखने का प्रयत्न करते हैं और कहते हैं कि महामुनि और अर्हत् बुद्ध उद्देश्यहीन होकर किसी सिद्धान्त का उपदेश नहीं करते। उन्होंने क्षणिकवाद का उपदेश पदार्थ के प्रति हमारी आसक्ति के निवारण के लिये ही किया है, क्योंकि जब वस्तु



का अनित्य और विनाशशील स्वरूप समझ में आ जाता है तो उसके प्रति आसक्ति गहरी नहीं होती। इसी प्रकार विज्ञानवाद का उपदेश भी बाह्य पदार्थों के प्रति तृष्णा को समाप्त करने के लिए ही है। यदि सब कुछ चित्त के विकल्प हैं और बाह्य रूप सत्य नहीं हैं तो उनके प्रति तृष्णा उत्पन्न ही नहीं होगी। इसी प्रकार कुछ साधकों की मनोभूमिका को ध्यान में रखकर संसार की निस्सारता का बोध कराने के लिए शून्यवाद का उपदेश दिया है। इस प्रकार हरिभद्र की दृष्टि में बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद—इन तीनों सिद्धान्तों का मूल उद्देश्य यही है कि व्यक्ति की जगत् के प्रति उत्पन्न होने वाली तृष्णा का प्रहाण हो।

यद्यपि दिङ्नाग के पूर्व तक बौद्ध दार्शनिकों ने जैन दर्शन के प्रति उपेक्षा भाव रखा था, किन्तु परवर्तीकाल में जैन दर्शन भी उनकी समीक्षा का विषय बना है। भारतीय दार्शनिकों में अपने से इतर परम्पराओं के गम्भीर अध्ययन की प्रवृत्ति प्रारम्भ में हमें दृष्टिगत नहीं होती है। बादरायण, जैमिनि आदि दिग्गज विद्वान् भी जब बौद्ध आदि अन्य दर्शनों की समलोचना करते हैं तो ऐसा लगता है कि वे दूसरे दर्शनों को अपने सतही ज्ञान के आधार पर भ्रान्तरूप में प्रस्तुत करके उनका खण्डन कर रहे हैं। यह सत्य है कि अनैकान्तिक एवं समन्वयात्मक दृष्टि के कारण अन्य दर्शनों के गम्भीर अध्ययन की परम्परा का विकास सर्वप्रथम जैन दार्शनिकों ने ही किया है। ऐसा लगता है कि हरिभद्र आदि जैनाचार्यों ने समालोच्य बौद्ध आदि प्रत्येक दर्शन का ईमानदारीपूर्वक गम्भीर अध्ययन किया था, क्योंकि इसके बिना वे न तो उन दर्शनों में निहित सत्यों को समझ सकते थे, न उनकी स्वस्थ समीक्षा ही कर सकते थे और न ही उनका जैन मन्तव्यों के साथ समन्वय कर सकते थे। हरिभद्र अन्य दर्शनों के अध्ययन तक ही सीमित नहीं रहे, अपितु उन्होंने उनके कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर तटस्थ भाव से टीकाएँ भी लिखीं। दिङ्नाग के बौद्ध ग्रन्थ 'न्यायप्रवेश' पर उनकी टीका महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। पतंजलि के 'योगसूत्र' का उनका अध्ययन भी काफी गम्भीर है, क्योंकि उन्होंने उसी के आधार पर नवीन दृष्टिकोण से 'योगदृष्टिसमुच्चय', 'योगबिन्दु', 'योगविंशिका' आदि ग्रन्थों की रचना की थी। इस प्रकार हरिभद्र जैन और जैनेतर परम्पराओं के एक ईमानदार अध्येता एवं व्याख्याकार भी हैं। जिस प्रकार प्रशस्तपाद ने दर्शन ग्रन्थों की टीका लिखते समय तद्-तद् दर्शनों के मन्तव्यों का अनुसरण करते हुए तटस्थ भाव रखा, उसी प्रकार हरिभद्र ने भी बौद्ध आदि इतर परम्पराओं का विवेचन करते समय तटस्थ भाव रखा है।

आचार्य हरिभद्र की दार्शनिक कृतियों में षड्दर्शनसमुच्चय एक प्रमुख कृति है। इस ग्रन्थ में आचार्य हरिभद्र ने बौद्ध, न्याय, सांख्य, जैन, वैशेषिक तथा जैमिनी (मीमांसक) इन छः दर्शनों का उल्लेख किया है। ज्ञातव्य है कि षड्दर्शनसमुच्चय के षड्दर्शनों में बौद्ध दर्शन को प्रथम स्थान दिया गया है। बौद्धों के आराध्य सुगत का उल्लेख करते हुए चार आर्यसत्त्वों की बात कही गई है। चार आर्यसत्त्वों के साथ-साथ इसमें पंचस्कन्धों का उल्लेख है और उसके पश्चात् संस्कारों की क्षणिकता को बतलाते हुए यह कहा गया है कि वासना का निरोध होना ही मुक्ति है, साथ ही इसमें बारह धर्म आयतनों और दो प्रमाणों- प्रत्यक्ष और अनुमान का भी उल्लेख हुआ है। षड्दर्शनसमुच्चय में बौद्ध धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों का निष्पक्ष दृष्टि से प्रतिपादन हुआ है, साथ ही टीकाकार गुणरत्न ने इनकी जैन दृष्टि से समीक्षा भी प्रस्तुत की है।

हरिभद्र का दूसरा ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय है। जहाँ षड्दर्शनसमुच्चय में विभिन्न दर्शनों के मन्तव्यों का निष्पक्ष दृष्टि से प्रतिपादन है वहाँ शास्त्रवार्तासमुच्चय में समादर भावपूर्वक समीक्षा एवं समन्वयात्मक निष्कर्ष प्रस्तुत किये गए हैं। इस ग्रन्थ के चतुर्थ और छठवें स्तबक में क्षणिकवाद की समीक्षा है। वहाँ पाँचवें स्तबक में विज्ञानवाद और छठवें स्तबक में शून्यवाद की समीक्षा की गई है। इसके अतिरिक्त दसवें स्तबक में सर्वज्ञता प्रतिषेधवाद तथा ग्यारहवें स्तबक शब्दार्थ प्रतिषेधवाद में भी बौद्ध मन्तव्यों की समीक्षा की गई है। समीक्षा के साथ बुद्ध के प्रति समादरभाव व्यक्त करते हुए बुद्ध ने इन सिद्धान्तों का प्रतिपादन तृष्णा के प्रहाण के लिए किया, ऐसा उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त अनेकान्तजयपताका के पाँचवें आदि अधिकारों में बौद्ध के योगाचार दर्शन की समीक्षा उपलब्ध होती है। अनेकान्तवाद प्रवेश में भी अनेकान्तजयपताका के समान ही अनेकान्तवाद को सरल ढंग से स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ में भी बौद्ध ग्रन्थों के उल्लेख एवं समीक्षाएँ उपलब्ध होती हैं। इसी क्रम में हरिभद्र के योगदृष्टिसमुच्चय में भी बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा उपलब्ध होती है। संक्षेप में हरिभद्र ने बौद्ध दर्शन के क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद को ही मुख्य रूप से अपनी समालोचना का विषय बनाया है। किन्तु हरिभद्र के अनुसार क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, शून्यवाद मूलतः बाह्यार्थों के प्रति रही हुई व्यक्ति की तृष्णा के उच्छेद के लिए हैं।

## बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा की अन्य परम्पराओं से समानता और अन्तर

भारतीय चिन्तन में बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा एवं प्रमाणमीमांसा की क्या स्थिति है इसे निम्न बिन्दुओं से समझा जा सकता है—

१. सत् के स्वरूप के सम्बन्ध में जहाँ अद्वैत वेदान्त उसे अपरिणामी या अविकारी मानता है वहाँ बौद्ध दर्शन उसे सतत् परिवर्तनशील मानता है, जैन दार्शनिक उसे 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक सत्' कहकर दोनों में समन्वय करते हैं। यहाँ मीमांसक भी जैनों के दृष्टिकोण के समर्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु सांख्य अपनी प्रकृति और पुरुष की अवधारणा में पुरुष को कूटस्थ, नित्य और प्रकृति को परिणामी मानते हैं।
२. बौद्ध दार्शनिक जहाँ सत् को क्षणिक कहता है, वहाँ वेदान्त उसे शाश्वत कहता है। जैन दर्शन बौद्धों के क्षणिकवाद की समीक्षा तो करते हैं, किन्तु वे उसमें पर्यायों की दृष्टि से अनित्यता को भी स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में द्रव्य नित्य है, किन्तु उसकी पर्याये अनित्य हैं।
३. बौद्ध के शून्यवाद में तत्त्व को सत्, असत्, उभय और अनुभय-इन चारों विकल्पों से भिन्न शून्य कहा गया है, जबकि जैनों ने उसे सत्, असत्, उभय और अनुभय चारों विकल्पों से युक्त माना है। सत्ता की अनिर्वचनीयता को लेकर प्रायः शून्यवाद और अद्वैतवाद में समानता परिलक्षित होती है, फिर भी जहाँ बौद्धों की अनिर्वचनीयता नकारात्मक है, वहाँ वेदान्त की अनिर्वचनीयता सकारात्मक है। जैनों ने परमसत्ता की इस अनिर्वचनीयता को भी सापेक्ष माना है, वे उसे कथंचित् अवक्तव्य और कथंचित् वक्तव्य मानते हैं। जैनों की अवक्तव्यता भाषागत समस्या है, जबकि बौद्धों और वेदान्तियों की अनिर्वचनीयता स्वरूपात्मक है, किन्तु जहाँ बौद्ध उसे निःस्वभाव मानता है, वहाँ वेदान्त अनिर्वचनीयता को सत्ता का स्वरूप लक्षण मानता है।
४. जहाँ बौद्ध विज्ञानवाद में क्षणक्षयी चित्त (विज्ञान) को ही परमतत्त्व माना गया है, वहाँ जैन दर्शन में आत्मा को महत्त्व देते हुए भी जड़ और चेतन दोनों की स्वतंत्र सत्ता मानी गई है, सांख्यों ने भी पुरुष एवं प्रकृति के रूप में इस द्वैतवाद को स्वीकारा है। न्याय, वैशेषिक और मीमांसक बहुतत्त्ववादी हैं किन्तु वे भी चित् और अचित् दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व

मानते हैं। जैन चेतन (जीव) और जड़ (अजीव) दोनों के सम्बन्ध में बहुतत्ववादी हैं, यद्यपि वे आकाश, धर्म और अधर्म को एक-एक स्वतंत्र तत्त्व ही मानते हैं। सांख्य पुरुष की अनेकता और प्रकृति का एकत्व मानता है। जबकि विज्ञानवादी और शून्यवादी बौद्ध तथा शांकर वेदान्त अद्वैतवादी हैं।

५. बौद्ध विज्ञानवाद जहाँ बाह्यार्थ का निषेध करता है, वहाँ जैन दर्शन, नैयायिक एवं मीमांसक के समान बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करता है। ज्ञातव्य है कि बौद्धों में भी सर्वास्तवादी-सौत्रान्तिक एवं वैभाषिक बाह्यार्थ की सत्ता को स्वीकार करते हैं, फिर भी सौत्रान्तिक उसे प्रत्यक्ष का विषय न मानकर अनुमेय ही मानते हैं।
६. वस्तु की बहुआयामिता को आधार बनाकर जैनों ने अनेकांतवाद की स्थापना की। मीमांसकों ने भी इसका समर्थन किया, किन्तु बौद्ध निषेधमुखी होने से अनेकांत की अपेक्षा शून्यवाद की दिशा में अग्रसर हो गये, फिर भी शून्यवाद और अनेकांतवाद दोनों ही एकान्त का विरोध तो समान रूप से करते हैं। अन्तर यह है कि बौद्ध एकान्तवाद का खण्डन जहाँ निषेधमुख से करते हैं, वहाँ जैन प्रतिपक्ष में निषेधमुख से और स्वपक्ष में विधिमुख से करते हैं।
७. शब्द और अर्थ के मध्य सम्बन्ध को लेकर जहाँ मीमांसक तादात्म्य सम्बन्ध मानते हैं, न्याय-वैशेषिक तदुत्पत्ति सम्बन्ध मानते हैं और जैन वाच्य-वाचक सम्बन्ध मानते हैं, वहीं बौद्ध शब्द और अर्थ में किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं मानते हैं। वे अपोहवाद के माध्यम से शब्द द्वारा अर्थबोध को घटित करते हैं, किन्तु शब्द को मात्र अपोहपरक या निषेधपरक मानने से उसकी वाच्यता सामर्थ्य अपूर्ण रहती है। वस्तुतः शब्द का विधिपरक अर्थात् 'ऐसा है' और निषेधपरक 'ऐसा नहीं है', यह उभय रूप ग्रहण करने पर ही पूर्ण अर्थबोध सम्भव होता है।
८. जहाँ तक विभज्यवादी दृष्टिकोण का प्रश्न है बौद्ध और जैन दोनों ही विभज्यवादी हैं दोनों ही ऐकांतिक प्रतिस्थापनाओं के विरोधी हैं और विश्लेषणपूर्वक उत्तर देने की बात करते हैं।
९. जैनों ने अपनी अनेकांतिक दृष्टि के कारण बौद्धों की अनेक अवधारणाओं का उनकी विरोधी अवधारणाओं के साथ समन्वय किया है।

## बौद्ध और जैन प्रमाणमीमांसा में समानताएँ और असमानताएँ

जैन एवं बौद्ध प्रमाणमीमांसा के तुलनात्मक विवेचन की दृष्टि से डॉ० धर्मचन्द्रजी जैन ने अपने शोध-प्रबन्ध 'बौद्ध प्रमाणमीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा' में विस्तार से चर्चा की है। यहाँ हम उसी आधार पर यह तुलनात्मक विवेचन कर रहे हैं—

१. जैन और बौद्ध दर्शन दोनों ही दो प्रमाण मानते हैं, किन्तु जहाँ जैन दर्शन प्रमाण के इस द्विविध वर्गीकरण में प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो प्रमाणों का उल्लेख करता है, वहाँ बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष और अनुमान ऐसे दो प्रमाण स्वीकार करता है। इस प्रकार प्रमाण के द्विविधवर्गीकरण के सम्बन्ध में एकमत होते हुए भी उनके नाम और स्वरूप को लेकर दोनों में मतभेद है। दोनों दर्शनों में प्रत्यक्ष प्रमाण तो समान रूप से स्वीकार हैं, किन्तु दूसरे प्रमाण के रूप में जहाँ बौद्ध अनुमान का उल्लेख करते हैं, वहाँ जैन परोक्ष प्रमाण का उल्लेख करते हैं और परोक्ष प्रमाण के पाँच भेदों में एक भेद अनुमान प्रमाण मानते हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त परोक्ष प्रमाण में वे स्मृति, प्रत्यभिज्ञा, तर्क, अनुमान और आगम को भी प्रमाण मानते हैं। जहाँ तक अन्य दर्शनों का प्रश्न है वैशेषिक दो, सांख्य तीन, न्याय चार, मीमांसा (प्रभाकर) पाँच, वेदांत एवं भाट्ट मीमांसक छः प्रमाण मानते हैं।
२. बौद्ध दर्शन में स्वलक्षण और सामान्यलक्षण नामक दो प्रमेयों के लिए दो अलग-अलग प्रमाणों की व्यवस्था की गई है, क्योंकि उनके अनुसार स्वलक्षण का निर्णय निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है, किन्तु जैन दर्शन वस्तुतत्त्व को सामान्य विशेषात्मक मानकर यह मानता है कि जिस प्रमेय को किसी एक प्रमाण से जाना जाता है उसे अन्य-अन्य प्रमाणों से भी जाना जा सकता है, अर्थात् सभी प्रमेय सभी प्रमाणों के विषय हो सकते हैं, जैसे अग्नि को प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों से जाना जा सकता है। इस आधार पर विद्वानों ने बौद्ध दर्शन को प्रमाण-व्यवस्थावादी और जैन दर्शन को प्रमाणसंप्लववादी कहा है।
३. प्रमाणलक्षण के सम्बन्ध में भी दोनों में कुछ समानताएँ और कुछ मतभेद हैं। प्रमाण की अविस्वादाकता दोनों को मान्य है, किन्तु अविस्वादाकता के तात्पर्य को लेकर दोनों में मतभेद है। जहाँ जैन दर्शन अविस्वादाकता

का अर्थ ज्ञान में आत्मगत संगति तथा ज्ञान और उसके विषय (अर्थ) में वस्तुगत संगति व उसका अन्य प्रमाणों से अबाधित होना मानता है, वहीं बौद्ध दर्शन अविस्वादादकता का सम्बन्ध अर्थक्रिया से जोड़ता है। बौद्ध दर्शन में अविस्वादादकता का अर्थ है अर्थक्रियास्थिति, अवंचकता और अर्थप्रापकता। इस प्रकार दोनों दर्शनों में अविस्वादिता का अभिप्राय भिन्न-भिन्न है। दूसरे बौद्ध दर्शन में अविस्वादिता को सांख्यव्यवहारिक स्तर पर माना गया है जबकि जैन दर्शन का कहना है कि अविस्वादिता पारमार्थिक स्तर पर होना चाहिए। बौद्धों के प्रमाण के दूसरे लक्षण अनधिगत अर्थ का ग्राहक होना, अकलंक आदि कुछ जैन दार्शनिकों को तो मान्य है, किन्तु विद्यानन्द आदि कुछ जैन दार्शनिक इसे प्रमाण का आवश्यक लक्षण नहीं मानते हैं। मीमांसक अपूर्व को प्रमाण का आवश्यक लक्षण मानते हैं।

४. जैन और बौद्ध दोनों दर्शन इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि प्रमाण ज्ञानात्मक है। वे ज्ञान के करण या हेतु (साधन) को प्रमाण नहीं मानते हैं, फिर भी जहाँ जैन दार्शनिक प्रमाण को व्यवसायात्मक मानते हैं वहाँ बौद्ध दार्शनिक कम से कम प्रत्यक्ष प्रमाण को तो निर्विकल्पक मानकर व्यवसायात्मक नहीं मानते हैं।
५. बौद्ध दर्शन में जहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण को निर्विकल्पक और अनुमान प्रमाण को सविकल्पक माना गया है वहाँ जैन दर्शन दोनों ही प्रमाणों को सविकल्पक मानता है, क्योंकि उनके अनुसार प्रमाण व्यवसायात्मक या निश्चयात्मक ही होता है। उनका कहना है कि प्रमाण ज्ञान है और ज्ञान सदैव सामान्य-विशेषणात्मक और सविकल्पक ही होता है। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में दर्शन और ज्ञान में भेद किया गया है। यहाँ दर्शन को सामान्य एवं निर्विकल्पक और ज्ञान को विशेष और सविकल्पक कहा गया है। बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष वस्तुतः जैनों का 'दर्शन' है।
६. जैन दर्शन में सिद्धसेन दिवाकर ने प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों प्रमाणों को ही अभ्रान्त माना है, जबकि बौद्ध दर्शन में प्रत्यक्ष को अभ्रान्त तथा अनुमान को भ्रान्त कहा गया है। इस प्रकार प्रत्यक्ष की अभ्रान्तता तो दोनों को स्वीकार्य है, किन्तु अनुमान की अभ्रान्तता के सम्बन्ध में दोनों में वैमत्य (मतभेद) है। जैन दार्शनिकों का कहना है कि जो भ्रान्त हो, उसे प्रमाण कैसे माना जा सकता है।

७. बौद्ध दर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को अभ्रान्त कहकर उसे प्रमाण के रूप में स्वीकार करता है, जबकि जैनदर्शन निर्विकल्पक ज्ञान को, जिसे वह अपनी पारिभाषिक शैली में 'दर्शन' कहता है, प्रमाण की कोटि में स्वीकार नहीं करता है। जैनों के यहाँ प्रमाण व्यवसायात्मक होने से सविकल्पक ही होता है, निर्विकल्पक दर्शन और बौद्धों का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं हो सकता है। रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका में इसका विस्तार से खण्डन किया गया है।
८. प्रमाण की परिभाषा को लेकर भी दोनों में कथंचित् मतभेद देखा जाता है। बौद्ध दर्शन में प्रमाण को स्व का प्रकाशक माना गया है, पर का प्रकाशक नहीं। क्योंकि उनके यहाँ योगाचार दर्शन में अर्थ अर्थात् प्रमाण का विषय (प्रमेय) भी वस्तुरूप न होकर ज्ञान रूप ही है। जबकि जैन दर्शन में प्रमाण को स्व-पर अर्थात् अपना और अपने अर्थ का प्रकाशक माना गया है (स्वपरव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्)। जैनों के अनुसार प्रमाण स्वयं अपने को और अपने विषय, दोनों को ही जानता है। जैन और बौद्ध दोनों ही दर्शन 'प्रत्यक्ष' को कल्पनाजन्य तो नहीं मानते हैं, किन्तु जैनों के अनुसार कल्पना रहित होने का तात्पर्य है वस्तुसत् अर्थात् वस्तुगतसत्ता (Objective Reality) होना, जबकि बौद्ध दर्शन में कल्पना रहित होने का अर्थ अनुभूत सत् या आत्मगतसत्ता (Subjective Reality) है।
९. बौद्ध दार्शनिक अनुमान के दो भेद करते हैं- स्वार्थ और परार्थ। जैन दार्शनिक भी अनुमान के इन दोनों भेदों को स्वीकार करते हैं, किन्तु जैन दार्शनिक सिद्धसेन 'न्यायावतार' में प्रत्यक्ष के भी स्वार्थ और परार्थ ऐसे दो भेद करते हैं। सिद्धसेन दिवाकर के अतिरिक्त कुछ अन्य जैन आचार्यों जैसे शातिसूरि एवं वादिदेवसूरि ने भी इन भेदों का उल्लेख किया है।
१०. प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप एवं भेदों को लेकर भी दोनों में मतभेद देखा जा सकता है। प्रथम तो जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है जहाँ बौद्ध दार्शनिक प्रत्यक्ष को कल्पना से रहित और निर्विकल्पक मानते हैं वहाँ जैन दार्शनिक उसे सविकल्पक कहते हैं। पुनः बौद्ध दार्शनिक जैनों के समान प्रत्यक्ष के सांख्यव्यवहारिक और पारमार्थिक ऐसे दो भेद नहीं करते हैं। उनके यहाँ प्रत्यक्ष के चार भेद हैं- १. स्वसंवेदना प्रत्यक्ष २. इन्द्रिय

प्रत्यक्ष ३. मानस प्रत्यक्ष और ४. योगज प्रत्यक्ष। जहाँ जैन इंद्रिय प्रत्यक्ष और मानस प्रत्यक्ष को सांख्यवहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं, वहाँ बौद्ध प्रत्यक्ष में ऐसा कोई विभाजन नहीं करते। पुनः जहाँ जैन दर्शन में इंद्रिय और मानस प्रत्यक्ष के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा— ऐसे चार भेद किए गए हैं वहाँ बौद्ध दर्शन में ऐसा कोई उल्लेख नहीं है। बौद्ध दर्शन में अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में योगज प्रत्यक्ष को रखा गया है, जबकि जैनदर्शन में अतीन्द्रिय ज्ञान पारमार्थिक प्रत्यक्ष के रूप में है और उसके अन्तर्गत अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान को रखा गया है। जहाँ तक बौद्धों के स्वसंवेदन का प्रश्न है, जैनों ने उसे दर्शन कहा है। इस प्रकार प्रत्यक्ष के स्वरूप और प्रकारों को लेकर दोनों में मतभेद है। नैयायिकों ने प्रत्यक्ष का एक भेद योगज माना है।

११. पुनः प्रत्यक्ष प्रमाण के अंतर्गत इन्द्रिय-प्रत्यक्ष में जहाँ बौद्ध दार्शनिक श्रोत्रेन्द्रिय और चक्षु-इन्द्रिय दोनों को अप्राप्यकारी मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक केवल चक्षु-इन्द्रिय को ही अप्राप्यकारी मानते हैं। जैनों के अनुसार श्रोत्रेन्द्रिय शब्द का ग्रहण उसके इन्द्रिय-सम्पर्क होने के आधार पर ही करती है, दूर से नहीं करती है। इस प्रकार श्रोत्रेन्द्रिय की प्राप्यकारिता को लेकर दोनों में मतभेद है। रत्नप्रभ की रत्नाकरावतारिका में अनेक तर्कों के आधार पर श्रोत्रेन्द्रिय को प्राप्यकारी सिद्ध किया गया है, किन्तु चक्षु-इन्द्रिय को दोनों ही अप्राप्यकारी मानते हैं। नैयायिक सभी इन्द्रियों को प्राप्यकारी मानते हैं।

१२. हेतु के लक्षण को लेकर भी दोनों परम्पराओं में मतभेद देखा जा सकता है। जहाँ बौद्ध दार्शनिक त्रैरूप्य हेतु अर्थात् पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्व, विपक्ष-असत्व का प्रतिपादन करते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक साध्य-साधन अविनाभाव अर्थात् अन्यथाअनुपलब्धि को ही हेतु का एकमात्र लक्षण बताते हैं। जैन दार्शनिक पात्रकेसरी ने तो एतदर्थ 'त्रिलक्षणकदर्शन' नामक स्वतंत्र ग्रंथ की ही रचना की थी।

१३. अनुपलब्धि को जहाँ बौद्ध दार्शनिक मात्र निषेधात्मक या अभाव रूप मानते हैं, वहाँ जैन दार्शनिक उसे विधि-निषेध रूप मानते हैं। भट्ट मीमांसक और वेदान्त उसे प्रमाण ज्ञान में सहायक मात्र मानते हैं।



## नैतिक एवं धार्मिक चिन्तन में प्रमुखतया समरूपता

जहाँ तक धार्मिक, नैतिक एवं आचार-व्यवस्था सम्बन्धी प्रश्नों की बात है तो जैन, बौद्ध और हिन्दू परम्परा में समरूपताएँ ही अधिक हैं। यद्यपि आचार के क्षेत्र में भगवान बुद्ध ने मध्यम-मार्ग का प्रतिपादन कर कठोर तपश्चर्या रूप देह-दण्डन और भोगों के प्रति अति आकर्षण से बचने का निर्देश किया। इस सम्बन्ध में जैनों की स्थिति भिन्न रही, उन्होंने आचार के क्षेत्र में कठोरता और विचार के क्षेत्र में अनेकांतवाद के माध्यम से उदारता का परिचय दिया। इस सम्बन्ध में विशेष तुलनात्मक अध्ययन मैंने अपने शोधग्रन्थ 'जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन' में किया है। आचारगत प्रश्नों पर जैन और बौद्धों में समरूपता ही अधिक है, त्रिपिटक और जैनागमों की सैकड़ों गाथाएँ अर्थतः या शब्दतः समान ही हैं। जैनों ने आचारशास्त्र का मुख्य लक्ष्य राग-द्वेष का त्याग, बौद्धों ने तृष्णा का त्याग और हिन्दू परम्परा ने आसक्ति का त्याग माना है।

### संदर्भ

१. षड्दर्शनसमुच्चय, सम्पादक डॉ. महेन्द्रकुमार, प्रस्तावना, पृ. १४।
२. वही, पृ. १९।
३. समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ. ४३।



## गुणस्थान सिद्धान्त पर एक महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य

गुणस्थान सिद्धान्त जैन दर्शन का एक अति महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। यद्यपि जैन दर्शन में इस सिद्धान्त का कालक्रम में विकास हुआ है, फिर भी इसके महत्त्व और मूल्यवत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता है। न केवल जैन कर्मसिद्धान्त, अपितु जैनधर्म-दर्शन की विभिन्न तात्त्विक एवं साधनात्मक अवधारणाओं को गुणस्थान के सन्दर्भ में ही विवेचित किया जाता है। यह सुस्पष्ट है कि गुणस्थान सिद्धान्त को समझे बिना जैन दर्शन की विविध अवधारणाओं को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता है। यही कारण है कि प्राचीनकाल से लेकर आज तक जैन आचार्य गुणस्थान की अवधारणा को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते रहे हैं।

इस गुणस्थान सिद्धान्त को स्पष्ट करने की दृष्टि से वर्तमान युग में भी अनेक प्रयत्न हुए हैं। उनमें अमोलकऋषिजी कृत 'गुणस्थानरोहण' एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इस ग्रंथ में गुणस्थान सिद्धान्त को २५२ द्वारों (विभागों) में तथा लगभग ५०० पृष्ठों में स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया, फिर भी यह ग्रंथ परम्परागत दृष्टि पर ही आधारित है। इस सिद्धान्त पर शोधपरक दृष्टि से जो कार्य हुए हैं, उनमें कर्मग्रन्थ की भूमिका के रूप में पण्डित सुखलालजी का नाम सर्वोपरि है, किन्तु यह प्रयत्न कुछ सीमित पृष्ठों में ही हुआ है और तुलनात्मक दृष्टि से लिखा गया है। उन्होंने इसके क्रमिक विकास की कोई चर्चा नहीं की है। इसके पश्चात् शोधपरक दृष्टि से गुणस्थान सिद्धान्त के क्रमिक विकास का विवेचन मैंने अपने ग्रंथ 'गुणस्थान सिद्धान्त: एक विश्लेषण' में किया है। यद्यपि प्राचीन जैन साहित्य के आलोक में गुणस्थान सिद्धान्त के क्रमिक विकास को स्पष्ट करने का यह प्रथम प्रयास था। लगभग १५० पृष्ठों में रचित इस ग्रन्थ में गुणस्थान से सम्बन्धित प्राचीन जैन साहित्य का आलोडन तो हुआ, फिर भी गुणस्थान सिद्धान्त के सभी पक्षों का तथा तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण साहित्य का आलोडन सम्भव नहीं हो सका था।

मेरी यह हार्दिक अभिलाषा थी कि इस सिद्धान्त पर विस्तृत रूप से शोधात्मक दृष्टि के साथ कोई कार्य हो। जब पूज्या साध्वी दर्शनकलाश्री जी ने

मेरे मार्गदर्शन में पी.-एच.डी. हेतु शोधकार्य करने का निश्चय किया, तो मैंने उन्हें 'प्राकृत एवं संस्कृत जैन साहित्य में गुणस्थान की अवधारणा' विषय सुझाया। मेरी हार्दिक इच्छा यही थी कि आगम-साहित्य से लेकर प्राकृत, संस्कृत और हिन्दी भाषा में इस सिद्धान्त के विषय में जो कुछ भी लिखा गया है, उसका ऐतिहासिक विकास-क्रम में तुलनात्मक और समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन हो। साध्वीजी ने इस कठिन एवं श्रमसाध्य कार्य हेतु अपनी सहमति व्यक्त की और निष्ठापूर्वक इस कार्य में जुट गईं। आज उसी का सुपरिणाम है कि प्रस्तुत लेख का प्रकाशन हो रहा है। मुझे यह स्वीकार करने में भी कोई संकोच नहीं है कि उन्होंने पूरी प्रामाणिकता के साथ गुणस्थान सम्बन्धी विभिन्न ग्रन्थों का आलोडन-विलोडन करके इस कृति को तैयार किया है। सम्भवतः ऐतिहासिक एवं शोधपरक दृष्टि से गुणस्थान सिद्धान्त पर अब तक लिखे गये ग्रन्थों में यह कृति अपना सर्वोपरि स्थान सिद्ध करेगी। यद्यपि इस कृति की रचना में मेरा मार्गदर्शन और सहयोग रहा है किन्तु साध्वीजी का श्रम भी कम मूल्यवान नहीं है। उपलब्ध सन्दर्भों को खोज निकालने में उन्होंने जैन साहित्य का गंभीरता से आलोडन-विलोडन किया। यही नहीं उनके इस आलोडन और विलोडन के परिणामस्वरूप जो तथ्य सामने आये, उनके आधार पर मुझे भी अपनी पूर्वस्थापनाओं में किंचित् परिमार्जन करना पड़ा।

गुणस्थान सिद्धान्त की प्रतिस्थापना लगभग ५वीं शताब्दी में हुई। यद्यपि एक सुव्यवस्थित गुणस्थान सिद्धान्त के विकास के रूप में मेरी यह स्थापना आज भी अडिग है। किन्तु मेरी दृष्टि में गुणस्थान सिद्धान्त के विकास का मूल आधार आचारांगनिर्युक्ति में, तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय में एवं षट्खण्डागम के आठ अनुयोगद्वारों के परिशिष्ट में वर्णित कर्मनिर्जरा की उत्तरोत्तर वर्तमान दस अवस्थाएँ रही हैं। पूर्व में मेरी यही मान्यता थी कि इन दस अवस्थाओं से ही चौदह गुणस्थानों का सिद्धान्त विकसित हुआ है। किन्तु प्रस्तुत शोधकार्य के सन्दर्भ में जब हमने श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगम साहित्य का गम्भीरता से आलोडन-विलोडन किया, तो हमें उसमें भगवतीसूत्र एवं प्रज्ञापनासूत्र में विविध सन्दर्भों में मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि; अविरत, विरताविरत और विरत; निवृत्ति-बादर, अनिवृत्ति-बादर और सूक्ष्मसम्पराय; मोह-उपशमक एवं मोह-क्षपक तथा सयोगीकेवली और अयोगीकेवली- ऐसी तेरह अवस्थाओं के उल्लेख मिल गये। यद्यपि ये सब उल्लेख अलग-अलग सन्दर्भों में ही हुए हैं जो किसी एक सुव्यवस्थित सिद्धान्त को प्रस्तुत नहीं करते हैं। फिर भी इस आधार पर हम यह

कह सकते हैं कि प्रथमतः गुणस्थान सिद्धान्त के मूल बीज श्वेताम्बर आगम साहित्य में ही रहे हुए हैं और उन्हीं के आधार पर आचारांगनिर्युक्ति, तत्त्वार्थसूत्र, षट्खण्डागम आदि में उत्तरोत्तर कर्म-निर्जरा की दस अवस्थाओं का विकास हुआ है। जहाँ तक गुणस्थान सिद्धान्त के सुव्यवस्थित उल्लेख का प्रश्न है, श्वेताम्बर परम्परा में वह सर्वप्रथम जीवसमास, आवश्यकचूर्णि तथा तत्त्वार्थसूत्र की सिद्धसेनगणि की टीका में ही मिलता है। इनमें से जीवसमास लगभग पाँचवीं शती का है, शेष दोनों ही ग्रन्थ लगभग सातवीं शताब्दी के हैं। दिगम्बर परम्परा में गुणस्थान सिद्धान्त सम्बन्धी सर्वप्रथम उल्लेख षट्खण्डागम और पूज्यपाद देवनन्दी की तत्त्वार्थसूत्र की सर्वार्थसिद्धि नामक टीका में मिलता है, ये दोनों ग्रन्थ पाँचवीं शती के उत्तरार्ध या छठी शती के प्रारम्भ के हैं। इससे स्पष्ट रूप से यह भी फलित होता है कि गुणस्थान सिद्धान्त व्यवस्थित रूप में पाँचवीं शती के बाद ही अस्तित्व में आया है अन्यथा श्वेताम्बर आगम-साहित्य और तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य में एवं निर्युक्ति और भाष्यसाहित्य में कहीं तो कुछ संकेत अवश्य मिलते। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि गुणस्थान सिद्धान्त का प्रारम्भिक व्यवस्थित स्वरूप श्वेताम्बर साहित्य की अपेक्षा दिगम्बर साहित्य में पहले पाया जाता है और श्वेताम्बर आचार्यों की अपेक्षा दिगम्बर आचार्यों का अवदान इस सिद्धान्त के विकास में अधिक महत्त्वपूर्ण है।

मेरी दृष्टि में यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि उमास्वाति के तत्त्वार्थसूत्र तथा उसके स्वोपज्ञभाष्य में, वल्लभी-वाचना (५वीं शती) में अर्धमागधी आगमों का जो पाठ निर्धारण हुआ था, उसमें तथा अर्धमागधी आगमों की निर्युक्तियों एवं भाष्यों में गुणस्थान सिद्धान्त की कहीं भी कोई व्यवस्थित चर्चा उपलब्ध नहीं है, मात्र कुछ अवस्थाओं के यत्र-तत्र कुछ संकेत हैं। यदि ये आचार्य उससे परिचित होते तो कहीं न कहीं उसका उल्लेख अवश्य करते। समवायांगसूत्र के १४वें समवाय की जिस गाथा में जीवस्थान के नाम से तथा आवश्यकनिर्युक्ति में जो १४ गुणस्थानों के नाम आए हैं, वे गाथाएँ परवर्ती प्रक्षेप हैं और संग्रहणीसूत्र से उद्धृत हैं। क्योंकि आठवीं शती में हरिभद्र ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में उसे संग्रहणी गाथा कहा है। दिगम्बर ग्रन्थ षट्खण्डागम में भी इन १४ अवस्थाओं को पहले जीवसमास के नाम से ही उल्लेखित किया गया है, बाद में उन्हें गुणस्थान नाम दिया गया है। अतः गुणस्थान की स्पष्ट अवधारणा ५वीं शती के अन्त में ही कभी अस्तित्व में आयी है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि कर्म-निर्जरा की दस अवस्थाओं से या आगमों में प्रकीर्ण रूप से उल्लेखित विभिन्न अवस्थाओं

के त्रिकों या द्विकों से ही इसका विकास हुआ है। यह आश्चर्यजनक तथ्य है कि जहाँ अर्धमागधी आगम साहित्य मात्र समवायांगसूत्र की उस प्रक्षिप्त गाथा को छोड़कर गुणस्थान की अवधारणा का कहीं भी कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं करता है वहीं दिगम्बर परम्परा में मान्य शौरसेनी प्राकृत में रचित आगमतुल्य साहित्य में कषायपाहुड को छोड़कर षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवती आराधना आदि प्राचीन माने जाने वाले ग्रन्थों में इस सिद्धान्त का व्यवस्थित एवं विकसित विवरण उपलब्ध होता है। मात्र यही नहीं आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में भी चाहे इस सिद्धान्त का विस्तृत उल्लेख न भी हो किन्तु उनके काल तक न केवल गुणस्थान सिद्धान्त का विकास हो चुका था, अपितु गुणस्थान, जीवस्थान और मार्गणास्थान के सह-सम्बन्धों का भी निर्धारण हो चुका था। यही कारण है कि कुन्दकुन्द आत्मतत्त्व के अनिर्वचनीय स्वरूप का उल्लेख करते हुए स्पष्ट रूप से लिखते हैं कि आत्मा न जीवस्थान है, न गुणस्थान है एवं न मार्गणास्थान है। शौरसेनी आगम तुल्य साहित्य में मात्र कषायपाहुड ही एक ऐसा अपवाद है, जिसमें गुणस्थान सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि कषायपाहुड को छोड़कर शेष शौरसेनी आगमतुल्य साहित्य ५वीं शती के बाद के ही हैं। गुणस्थानों का जीवस्थानों, मार्गणास्थानों तथा आठ कर्मों की विभिन्न प्रकृतियों के उदय, उदीरणा, सत्ता, बंध और निर्जरा से क्या सह-सम्बन्ध है, इसका उल्लेख जहाँ श्वेताम्बर परम्परा में कर्मग्रन्थों और पंचसंग्रह में उपलब्ध होता है, वहीं दिगम्बर परम्परा में यह विवेचन मुख्यतः षट्खण्डागम, गोम्टसार (१०वीं शती) और दिगम्बर प्राकृत एवं संस्कृत पंचसंग्रहों में उपलब्ध है, लेकिन ये ग्रन्थ अपेक्षाकृत परवर्ती ही हैं।

मात्र यही नहीं कर्मसिद्धान्त की इस चर्चा में श्वेताम्बर परम्परा में कर्मग्रन्थों की मान्यता में और आगमिक मान्यता में मतभेद भी नजर आते हैं, साथ ही श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में भी कुछ मतभेद पाये जाते हैं। जिसका उल्लेख पं. सुखलालजी ने एवं पूज्या साध्वी दर्शनकलाजी ने भी किया है, इसके अतिरिक्त यह उल्लेख कषायपाहुड और षट्खण्डागम की भूमिका में दिगम्बर विद्वानों ने भी किया है। श्वेताम्बर परम्परा में गुणस्थान सिद्धान्त की अवधारणा को स्पष्टतः प्रस्तुत करने वाला प्रथम ग्रन्थ जीवसमास है। तुलनात्मक आधार पर मैंने और कुछ दिगम्बर विद्वानों ने भी यह माना है कि जीवसमास ही षट्खण्डागम का आधारभूत ग्रन्थ रहा है। जीवसमास की शैली कर्मग्रन्थों से भिन्न षट्खण्डागम के समान है, क्योंकि दोनों ग्रन्थ आठ अनुयोगद्वारों के आधार पर ही गुणस्थानों

की चर्चा करते हैं, जबकि कर्मग्रन्थ कर्म-प्रकृतियों के बन्ध, उदय आदि के आधार पर गुणस्थानों की चर्चा करते हैं। हमें यह मानने में भी कोई आपत्ति नहीं है कि श्वेताम्बर परम्परा में जीवसमास और दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम गुणस्थान सिद्धान्त के प्रथम आधारभूत ग्रन्थ हैं, उसके पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थसूत्र की टीका और आवश्यकचूर्णि ही ऐसे ग्रन्थ हैं, जो गुणस्थानों की स्पष्ट चर्चा करते हैं, फिर भी इनमें गुणस्थानों की यह चर्चा अपेक्षाकृत संक्षिप्त ही है। जबकि दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागमकार ने एवं आचार्य पूज्यपाद देवन्दी से लेकर तत्त्वार्थसूत्र के सभी टीकाकारों ने इसकी अपेक्षाकृत विस्तृत चर्चा की है। इस आधार पर यह सुस्पष्ट है कि गुणस्थान सिद्धान्त का विकास एक कालक्रम में ही हुआ। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि गुणस्थान सिद्धान्त की यह विकास-यात्रा भी श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में भिन्न-भिन्न रूप में हुई है। जहाँ श्वेताम्बर कर्मग्रन्थ में विभिन्न गुणस्थानों में विभिन्न कर्म-प्रकृतियों के बन्ध, बन्धविच्छेद, सत्ता, सत्ताविच्छेद, उदय, उदयविच्छेद, उदीरणा, उदीरणाविच्छेद आदि को लेकर उनके सत्ता स्थानों और बन्ध विकल्पों की चर्चा की गई है, वहीं दिगम्बर परम्परा में षट्खण्डागम और पूज्यपाद देवन्दी की सर्वार्थसिद्धिटीका में गुणस्थानों में मार्गणास्थानों तथा जीवस्थानों का आठ अनुयोगद्वारों के आधार पर अवतरण किया गया है। यद्यपि षट्खण्डागम एवं गोम्मटसार में प्रकारान्तर से गुणस्थानों में कर्म-प्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा, सत्ता आदि की चर्चा मिलती है, फिर भी दोनों की शैली में भिन्नता है इसका निर्देश पूर्व में भी किया जा चुका है। इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं में गुणस्थान सिद्धान्त की जो चर्चा है, उसमें शैली वैविध्य है।

जहाँ तक गुणस्थान की अवधारणा के विकास का मूल प्रश्न है, उसका सम्बन्ध व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास से है। यह स्पष्ट है कि व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों की चर्चा प्राचीनकाल से ही भारत में प्रचलित रही है। सर्वप्रथम उपनिषदों में अन्तःप्रज्ञ और बहिर्प्रज्ञ के रूप में तथा अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, प्रज्ञानमयकोश और आनन्दमयकोश के रूप में आध्यात्मिक विकास की चर्चा मिलती है। बौद्ध और जैन परम्परा में बहिर्प्रज्ञ और अन्तःप्रज्ञ को क्रमशः मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के रूप में अथवा पृथग्जन और आर्य के रूप में भी उल्लेखित किया गया है। उसके पश्चात् बौद्ध धर्म की हीनयान परम्परा में स्रोतापन्नभूमि, सत्कृतागामीभूमि, अनागामीभूमि और अर्हद्भूमि ऐसी चार भूमियों की भी चर्चा है। बौद्धधर्म की ही महायान परम्परा में इन चार

भूमियों के स्थान पर भिन्न दस भूमियों की चर्चा हुई है— १. प्रमुदिता २. विमला ३. प्रभाकरी ४. अर्चिष्मती ५. सुदुर्जया ६. अभिमुक्ति ७. दुरंगमा ८. अचला ९. साधुमती और १०. धर्ममेधा।

ज्ञातव्य है कि हीनयान परम्परा से महायान परम्परा की ओर संक्रमण काल में लिखे गये महावस्तु नामक ग्रन्थ में भी दस भूमियों का उल्लेख हुआ है। यद्यपि ये दस भूमियाँ पूर्वोक्त दस भूमियों से भिन्न हैं, ये निम्न हैं— १. दूरारोहा २. वर्द्धमान ३. पुष्पमण्डिता ४. रुचिरा ५. चित्तविस्तार ६. रूपमती ७. दुर्जया ८. जन्मनिदेश ९. यौवराज और १०. अभिषेक। इसी प्रकार आजीवक श्रमण परम्परा में भी आध्यात्मिक विकास की अवधारणा को लेकर आठ अवस्थाओं का उल्लेख मिलता है। ये आठ अवस्थाएँ हैं— १. मन्द २. क्रीड़ा ३. पदमीमांसा ४. ऋतुव्रत ५. शैक्ष्य ६. समण ७. जिन और ८. प्राज्ञ। हिन्दू परम्परा के प्रसिद्ध ग्रन्थ योगबाशिष्ठ में सात अज्ञान और सात ज्ञान की ऐसी १४ भूमिकाओं की चर्चा है। अज्ञानदशा की सात भूमिका निम्न हैं— १. बीज जाग्रत २. जाग्रत, ३. महाजाग्रत ४. जाग्रतस्वप्न ५. स्वप्न ६. स्वप्नजाग्रत और ७. सुषुप्ति। ज्ञानदशा की सात भूमिकाएँ निम्न मानी गई हैं— १. शुभेच्छा २. विचारणा ३. तनुमांसा ४. सत्त्वापत्ति ५. असंसक्ति ६. पदार्थाभावनी और ७. तुर्यग। योग दर्शन में आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से चित्त की ५ दशाओं का उल्लेख किया गया है— १. मूढ़ २. क्षिप्त ३. विक्षिप्त ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध।

इस प्रकार विभिन्न धर्म-दर्शनों में प्रतिपादित ये सभी अवस्थाएँ व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की ही चर्चा करती हैं और यह बताती हैं कि व्यक्ति की चैतसिक एवं चारित्रिक विशुद्धि की स्थिति क्या है?

जहाँ तक जैनधर्म-दर्शन का प्रश्न है, उसमें भी आध्यात्मिक विशुद्धि की अवस्थाओं को अनेक प्रकार से व्याख्यायित किया गया है। सर्वप्रथम एक स्थूल वर्गीकरण मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि के आधार पर किया जाता है, किन्तु इसके अतिरिक्त एक अन्य वर्गीकरण बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के रूप में भी हमें उपलब्ध होता है। साथ ही तीन अशुभ और तीन शुभ लेश्याओं के आधार पर भी व्यक्ति के आध्यात्मिक एवं नैतिक क्रमिक विकास का चित्रण किया गया है। उसके पश्चात् चार ध्यानों के आधार पर भी व्यक्ति की आध्यात्मिक विशुद्धि की स्थिति का अंकन किया गया है। ये ध्यान व्यक्ति की चित्तवृत्ति के सूचक हैं। आचार्य हरिभद्र ने आठ योगदृष्टियों की भी चर्चा की है, वे भी व्यक्ति के

आध्यात्मिक विकास की सूचक हैं। इसके अतिरिक्त कर्म-निर्जरा की अवस्थाओं के आधार पर एक दशविध वर्गीकरण भी हमें उपलब्ध होता है। वस्तुतः इसी दशविध वर्गीकरण का विकसित रूप हमें गुणस्थान सिद्धान्त के रूप में मिलता है। जैन दर्शन में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास तथा चैतसिक एवं चारित्रिक विशुद्धि को आधार बनाकर अनेक वर्गीकरण उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन में द्विविध, त्रिविध, चतुर्विध, षट्विध, अष्टविध, दशविध और चतुर्दशविध वर्गीकरण हमें उपलब्ध होते हैं। जहाँ तक द्विविध वर्गीकरण का प्रश्न है यह वर्गीकरण जैन, बौद्ध और वैदिक तीनों ही परम्पराओं में पाया जाता है। वैदिक परम्परा में मिथ्यादृष्टि और सम्यग्दृष्टि को कृष्णपक्षी और शुक्लपक्षी भी कहा गया है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर कर्म निर्जरा के आधार पर जो दशविध वर्गीकरण किया गया है, वह वर्गीकरण बौद्ध परम्परा की दश भूमियों से आंशिक समानता और आंशिक भिन्नता लिए हुए है। इसी प्रकार योगबाशिष्ठ में अज्ञानदशा के सात और ज्ञानदशा के सात ऐसे जो चौदह वर्ग निर्धारित किए गए हैं, वे जैन परम्परा के चौदह गुणस्थानों की अवधारणा से आंशिक समानता रखते हैं। जैसा कि हमने पूर्व में कहा है कि जैन दर्शन में आज गुणस्थान सिद्धान्त जैन कर्मसिद्धान्त के अन्तर्गत कर्मों की निर्जरा और आध्यात्मिक विकास के विभिन्न स्तरों के मूल्यांकन करने का एकमात्र आधार है।

इस प्रकार त्रिविध आत्मा की अवधारणा, षट्लेश्याओं की अवधारणा, आठ योगदृष्टियों की अवधारणा, कर्मविशुद्धि की दस अवस्थाओं की अवधारणा और चौदह गुणस्थानों की अवधारणा— ये सभी व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की चर्चा करने के प्रमुख आधार रहे हैं।

\*



## जैन धर्म में ध्यान-विधि की विकास-यात्रा

भारतीय संस्कृति में ध्यान और योग की परम्परा का अस्तित्व प्रागैतिहासिक काल से ही उपलब्ध होता है। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा से उपलब्ध सीलों में ध्यानस्थ योगियों के अंकन इस बात के प्रमाण हैं कि भारत में ध्यान एवं योग की जड़ें अतिगहन हैं। यह एक निर्विवाद तत्त्व है कि औपनिषदिक परम्परा और सहवर्ती श्रमण परम्पराओं में ध्यान-साधना उनकी दैनिक-चर्या का आवश्यक अंग होती थी। महावीर और बुद्ध के पूर्व भी ध्यान-साधना की अनेक विधियाँ प्रचलित थीं। इस प्रकार ध्यान-साधना-पद्धति भारतीय साधना-पद्धति का प्रमुख अंग रही है। जैसा कि हमने प्रारम्भ में उल्लेख किया मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के काल से लेकर वर्तमान युग तक ध्यान-साधना के पुरातात्विक और साहित्यिक उल्लेख प्राप्त होते हैं। यद्यपि ध्यान-साधना की विविध विधियों को लेकर आज तक बहुत लिखा गया है और लिखा जा रहा है तथा वर्तमान तनाव के युग में ध्यान-साधना की अनेक पद्धतियाँ विभिन्न धर्मों की शाखाओं और प्रशाखाओं में आज भी प्रायोगिक रूप से प्रचलित हैं और उनके सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन भी हुआ है। किन्तु प्रागैतिहासिक काल से लेकर आज तक ध्यान की कौन-कौन सी विशिष्ट परम्पराएँ रही हैं और ध्यान-साधना के क्षेत्र में उनकी अपनी मौलिकता क्या है? इस पर कोई भी शोधकार्य नहीं हुआ है। इसी दृष्टि को लेकर साध्वी श्री उदितप्रभाजी ने 'जैन धर्म में ध्यान की परम्परा : महावीर से लेकर महाप्रज्ञ तक' इस विषय पर अपना शोध-प्रबन्ध मेरे निर्देशन में लिखा है, जो जैन धर्म में ध्यान की परम्परा के इतिहास को जानने का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जा सकता है।

आज जो ध्यान की विविध परम्पराएँ प्रचलित हैं, उनको मूलतः दो भागों में बाँटा जा सकता है— (१) पातंजल योगसूत्र पर आधारित ध्यान और योग की परम्पराएँ और (२) रामपुत्र की श्रमणधारा से विकसित ध्यान और योग की परम्पराएँ। फिर भी पातंजल योगसूत्र और रामपुत्र की विषयना की ध्यान-पद्धति का मूल लक्ष्य तो मन की भाग-दौड़ या विकल्पात्मक प्रवृत्तियों को समाप्त

करना ही रहा है। चाहे 'योगः चित्तवृत्ति निरोधः' की परभाषा को लें या 'चित्त समाधि' या मन को अमन बनाने की बात को लें, ध्यान-साधना के मूल लक्ष्य में कोई अन्तर नहीं आता। यदि कहीं अन्तर है तो वह उन पद्धतियों में है, जिनके आधार पर चित्तवृत्तियों का निरोध या मन को अमन बनाने की साधना की जाती है।

यह सत्य है कि आज हम सब तनाव में जी रहे हैं, किन्तु सभी का लक्ष्य तनाव से मुक्ति पाना है। इस प्रकार यदि हम देखें तो आज विश्व की सभी साधना-पद्धतियों का मुख्य लक्ष्य तनाव का निराकरण है। इस तरह ध्यान और साधना की चाहे अनेक पद्धतियाँ प्रचलन में हों किन्तु उन सबका लक्ष्य तो एक ही है। चाहे लक्ष्य चित्तवृत्तियों का निरोध हो या निर्विकल्पसमाधि हो अथवा जैन दर्शन की भाषा में योग से आयोग की यात्रा हो, मूल बात केवल इतनी ही है कि मन की भाग-दौड़ कम हो एवं आकांक्षाओं और इच्छाओं का स्तर निम्नतम बिन्दु तक आये। प्राचीनकाल से लेकर आजतक ध्यान की समग्र साधनाओं का लक्ष्य मन को अमन बनाना ही रहा है। जैन परम्परा में आचार्य हेमचन्द्र ने मन के चार स्तर- (१) विक्षिप्त मन (२) यातायत मन (३) श्लिष्ट मन और (४) सुलीन मन बताये हैं और ध्यान-साधना का लक्ष्य सुलीन मन ही माना गया है। सुलीन मन वह है जहाँ मनोवृत्तियों का लय हो जाता है, इच्छा, आकांक्षा और वासना का विलय हो जाता है। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में मन के स्थान पर चित्त के चार स्थान बताये गये हैं- (१) कामावचर (२) रूपावचर (३) अरूपावचर और (४) लोकोत्तर। इनमें लोकोत्तर चित्त राग, द्वेष और मोह से रहित विकल्पशून्य अवस्था है। लोकोत्तरचित्त का विकास तभी होता है, जब वासनाएँ विलीन हो जाती हैं। इसी क्रम में योगदर्शन में चित्त की पाँच भूमियाँ या स्तर बताये गये हैं- (१) क्षिप्त (२) मूढ़ (३) विक्षिप्त (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध। इन पाँचों भूमियों में अंतिम भूमि तो निरुद्ध-चित्तभूमि ही है। निरुद्ध-चित्तभूमि वह है जहाँ सभी वृत्तियाँ लय हो जाती हैं। चित्त विकल्पशून्य बन जाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्यानमार्ग की इन विभिन्न साधना-पद्धतियों के मूल लक्ष्य में कहीं कोई महत्त्वपूर्ण अन्तर नहीं है। ज्ञातव्य है कि जिस प्रकार योगदर्शन में एकाग्र-चित्त और निरुद्ध-चित्त में अन्तर किया गया है, उसी प्रकार जैन परम्परा में ध्यान और व्युत्सर्ग में अन्तर किया गया है। जैन परम्परा के अनुसार ध्यान चित्तवृत्ति की एकाग्रता का नाम है और व्युत्सर्ग चित्त वृत्तियों के विलय की अवस्था है जिसे हम निर्विकल्प समाधि के रूप में व्याख्यायित कर सकते हैं।

विकल्पों और वासनाओं का जन्म चित्त या मन में होता है और वे विकल्प और वासनाएँ ही हमें तनावयुक्त बनाती हैं। तनावों के कारण चित्त की वृत्ति असंतुलित हो जाती है और असंतुलित चित्तवृत्ति का प्रभाव हमारे बाह्य व्यवहारों पर भी पड़ता है जो हमारे बाह्य व्यवहारों को असंतुलित बना देती है। बाह्य व्यवहारों के असंतुलन से परिवार और समाज की शांति भंग होती है और यह असंतुलन क्रमशः विकसित होता हुआ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय शांति को भी भंग कर देता है। वस्तुतः ध्यान इस वैयक्तिक, सामाजिक और वैश्विक असंतुलन को समाप्त करने की ही एक प्रक्रिया है। ध्यान का महत्त्व न केवल आध्यात्मिक साधना के लिए है, अपितु वह वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय असंतुलन को समाप्त करने का भी एक महत्त्वपूर्ण साधन है। यही कारण है कि वैयक्तिक जीवन में जैसे-जैसे तनाव की वृद्धि हो रही है, सामाजिक असंतुलन में भी वृद्धि हो रही है। परिणामतः लोगों में ध्यान की रुचि का भी विकास हो रहा है। आज विश्व में ध्यान की विविध पद्धतियों के प्रति जो आकर्षण बढ़ा है, उसका मूलभूत कारण वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन में असंतुलन की वृद्धि ही तो है। अतः ध्यान-साधना एक अपरिहार्यता बनती जा रही है।

चाहे ध्यान का लक्ष्य चित्तसमाधि या निर्विकल्पता हो किन्तु जब व्यक्ति उस चित्तसमाधि या निर्विकल्पता के लिए विभिन्न पद्धतियों को देखता है तो स्वाभाविक रूप से उसके मन में यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वह किसे चुने। ध्यान की साध्यात्मक एकरूपता के बावजूद जो साधनात्मक वैभिन्न रहे हैं, वे हमारे चुनावों को विकल्पयुक्त बनाते हैं, किन्तु इन विधि विकल्पों में से हम किसको चुनें यह निर्णय करने से पूर्व हमें यह जानना आवश्यक होता है कि ध्यान-साधना की कौन-सी पद्धति किस युग में विकसित हुई। क्योंकि साध्यात्मक एकरूपता के बावजूद जो साधनात्मक वैविध्य आता है, वह देश, कालगत परिस्थितियों पर आधारित होता है। साथ ही उस युग में ध्यान-साधना की जो विविध पद्धतियाँ प्रचलित होती हैं वे भी एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। यही कारण है कि जैन परम्परा में भी ध्यान-साधना की विधियों को लेकर कालक्रम में एक परिवर्तन देखा जाता है।

हम देखते हैं कि जैन ध्यान-साधना-पद्धति, बौद्ध ध्यान-साधना-पद्धति और योग-सूत्र की ध्यान-साधना-पद्धति में बाह्यतः विभेद होते हुए भी जो कुछ एकरूपता प्रतीत होती है, उसका मूलभूत कारण यह है कि इन तीनों का मूल एक ही रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात

होता है कि महावीर की और बौद्धों की ध्यान-साधना-पद्धति उनके पूर्ववर्ती आचार्य रामपुत्र की साधना-पद्धति से प्रभावित रही है। क्योंकि हम देखते हैं कि त्रिपिटक साहित्य में बुद्ध ने जिन आचार्यों से ध्यान सीखा था, उनमें एक प्रमुख नाम आचार्य रामपुत्र का भी है। त्रिपिटक साहित्य में इस सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख भी है। जैन परम्परा में भी सूत्रकृतांगसूत्र, प्राचीन अंतकृत्तशास्त्र की विषय-वस्तु और ऋषिभाषित में रामपुत्र के उल्लेख उपलब्ध हैं। इस प्रकार जैन और बौद्ध ध्यान-पद्धतियों का मूल वस्तुतः रामपुत्र की ध्यान-साधना-पद्धति रही हुई है, ऐसा माना जा सकता है। यही कारण है कि दोनों में शब्दगत और पद्धतिगत अनेक समरूपताएँ प्राप्त होती हैं। रामपुत्र को महर्षि पंतजलि का समकालीन ही माना जा सकता है। यही कारण है कि अनेक प्रसंगों में जैन ध्यान-पद्धति और पातंजल योगसूत्र प्रणीत ध्यान-पद्धति में भी कुछ अंशों में साम्य नजर आता है। पुनः यह भी सुस्पष्ट है कि कालांतर में जैन ध्यान-पद्धति पर हिन्दू परम्परा में विकसित विभिन्न ध्यान-पद्धतियों का प्रभाव पड़ा है। आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र ने योगसूत्र प्रणीत ध्यान-पद्धति और योग-पद्धति के आधार पर जैन योग की ध्यान-पद्धति का विकास किया। उसके पश्चात् पुनः दसवीं शताब्दी में आचार्य शुभचन्द्र ने तांत्रिक ध्यान-साधना-विधि का अनुकरण करके पार्थिवी, वायवी आदि धारणाओं की चर्चा की। बारहवीं शती में हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में शुभचन्द्र का अनुसरण किया। इस प्रकार ऐतिहासिक विकास-क्रम में महावीर से लेकर आचार्य हेमचन्द्र तक जैन ध्यान-विधि का जो विकास हुआ उस पर अन्य ध्यान परम्पराओं का प्रभाव भी देखा जा सकता है। क्योंकि साधना कि कोई भी परम्परा हो वह न तो शून्य से ही टपकती है और न वह अपनी सहवर्ती परम्पराओं से पूर्णतः अप्रभावित रहती है। जैन ध्यान-साधना-विधि का काल-क्रम में जो विकास हुआ है, वह अपने सहवर्ती अन्य परम्पराओं से अप्रभावित तो नहीं रही है किन्तु फिर भी उसकी अपनी मौलिकता है।

जैन धर्म में महावीर से लेकर वर्तमान में आचार्य महाप्रज्ञ तक ध्यान की जो धारा प्रवाहित होती रही है उसमें अनेक जैन आचार्यों का अवदान रहा है। जैन आचार्यों कि यह विशेषता रही है कि वे देश-कालगत परिस्थितियों के अनुसार अपनी सहवर्ती परम्पराओं का सहयोग लेकर अपनी ध्यान-साधना की विधि को विकसित, परिमार्जित और परिष्कृत करते रहें हैं। आचार्य महाप्रज्ञजी ने प्राचीन आगमिक ध्यान-साधना-विधि के साथ विपश्यना, राजयोग, हठयोग और आधुनिक मनोविज्ञान को समन्वित कर प्रेक्षाध्यान-विधि का विकास किया है।

३६ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक २ / अप्रैल-जून २००८

साध्वी श्री उदितप्रभाजी ने मेरे सान्निध्य में शोध कार्य करते हुए जैन ध्यान-साधना-पद्धति में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन आए और किन-किन कारणों से आए इसका विश्लेषण विस्तार से करते हुए प्रारम्भ से लेकर आचार्य महाप्रज्ञ के अद्यतन ध्यान पद्धति तक सभी ध्यान पद्धतियों का सम्यक् विवेचन किया है और यही उनके शोध-प्रबन्ध की विशेषता कही जा सकती है।

\*

## ध्यानशतक : एक परिचय

### साधना और ध्यान

जैन साधना वस्तुतः समत्वयोग की साधना है। समत्व की यह साधना ध्यान और कायोत्सर्ग के बिना संभव नहीं है। सामान्यतया व्यक्ति का ध्यान तो कहीं न कहीं केन्द्रित रहता है किन्तु जो ध्यान पर-केन्द्रित होता है अथवा जिसका विषय बाह्य जगत् से सम्बन्धित तथ्य होता है, चाहे वह व्यक्ति हो या वस्तुएँ वह ध्यान वस्तुतः ध्यान नहीं है, क्योंकि वह हमारी चेतना को उद्वेलित करता है। उसमें अनुकूल के प्रति राग और प्रतिकूल के प्रति द्वेष का जन्म होता है। राग और द्वेष की वृत्तियाँ पुनः आवेगों को या कषायों को जन्म देती हैं। कषायों की उपस्थिति से चेतना का समत्व भंग हो जाता है और चित्त उद्वेलित बना रहता है। यही कारण है कि जैन आचार्यों ने आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान को ध्यान के रूप में वर्गीकृत करते हुए भी साधना की दृष्टि से उन्हें त्याज्य ही माना है।

यद्यपि जैन आगम-साहित्य में और परवर्ती ग्रन्थों में इन दोनों ध्यानों के स्वरूप, लक्षण, विषय, आलम्बन, स्वामी (कर्ता) आदि की विस्तृत चर्चा हुई है, किन्तु उसका कारण यह है कि इन अशुभ ध्यानों का स्वरूप समझकर ही इनका निराकरण किया जा सकता है। अतः जैन परम्परा के ग्रन्थों में ध्यान की जो चर्चा हुई है उसमें शुभ और अशुभ दोनों ही प्रकार के ध्यानों की चर्चा मिलती है। आर्त्त और रौद्रध्यान अशुभ ध्यान हैं। उनमें प्राणी की स्वाभाविक रूप से प्रवृत्ति पाई जाती है, जबकि धर्मध्यान शुभध्यान है, वह साधना का प्रथम चरण है। ध्यान-साधना के क्षेत्र में अन्तिम ध्यान तो शुक्लध्यान ही माना गया है। यह शुभ और अशुभ से परे शुद्ध स्वरूप का ध्यान है। आर्त्त और रौद्रध्यान के विषय बाह्य होते हैं, जबकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान के विषय पर-वस्तु न होकर स्व-स्वरूप ही होते हैं। यद्यपि धर्मध्यान के परहित और करुणा से युक्त होने के कारण किसी दृष्टि से उसे पर से सम्बन्धित माना जा सकता है, किन्तु मूलतः वह आत्मनिष्ठ ही होता है। शुक्लध्यान शुद्ध ध्यान है उसका सम्बन्ध मात्र स्वरूपानुभूति से है। इसमें आत्मा सविकल्पदशा से निर्विकल्पदशा में स्थित होती

है। यह परम समाधि रूप है और मुक्ति का अनन्तर कारण है। यही कारण है कि जैन आचार्यों ने ध्यान के सम्बन्ध में पर्याप्त चिन्तन किया है और उस पर स्वतंत्र ग्रन्थ भी लिखे हैं। ध्यान के सम्बन्ध में लिखे गये ग्रन्थों में 'ज्ञाणज्झयण' अपरनाम 'ध्यानशतक' प्राचीन है।

### ज्ञाणज्झयण या ध्यानशतक

प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम को लेकर दो अभिमत प्राचीनकाल से देखने में आते हैं। ग्रन्थकार ने स्वयं इसे ध्यानाध्ययन (ज्ञाणज्झयण) कहा है। जबकि इसके प्रथम टीकाकार आचार्य हरिभद्रसूरि ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में इस ग्रन्थ को ध्यानशतक कहा है। वैसे ये दोनों नाम सार्थक ही प्रतीत होते हैं। प्रथम तो लेखक ने ग्रन्थ की प्रथम मंगल गाथा में 'ज्ञाणज्झयणं पवक्खामि' कहकर ग्रन्थ को जो ध्यानाध्ययन नाम दिया है वह इसलिए दिया है कि उन्होंने अपने विशेषावश्यकभाष्य में आवश्यकसूत्र पर भाष्य लिखने की प्रतिज्ञा की थी। नंदीसूत्र में आवश्यकसूत्र के छः अध्ययनों को छः शेष स्वतंत्र ग्रन्थों के नाम से ही उल्लेखित किया गया है। उसमें पाँचवाँ आवश्यक कायोत्सर्ग रूप है। कायोत्सर्ग मूलतः ध्यान की ही एक अवस्था है, अतः उस अध्ययन पर भाष्य की दृष्टि से लिखी गयी गाथाओं को ध्यानाध्ययन कहा गया है। विशेषावश्यकभाष्य यद्यपि आवश्यकसूत्र के छहों अध्ययनों पर लिखा जाना था, किन्तु प्रस्तुत विशेषावश्यकभाष्य सामायिक अध्ययन पर ही सीमित होकर रह गया, शेष अध्ययनों पर नहीं लिखा जा सका। अतः एक संभावना यह भी है कि आचार्य जिनभद्रगणि की रुचि ध्यान में रही हो। इसलिए उन्होंने सामायिक के अध्ययन के बाद ध्यानाध्ययन पर भाष्य गाथाएँ लिखने का प्रयत्न किया हो और उन्हीं गाथाओं ने ही आगे चलकर एक स्वतंत्र ग्रन्थ का रूप ले लिया हो। इसलिए लेखक के द्वारा सूचित ध्यानाध्ययन नाम प्रामाणिक लगता है।

आचार्य हरिभद्र ने प्रतिक्रमण अध्ययन की निर्युक्ति की टीका में 'चउविहं ज्ञाणं' सूत्र पर टीका लिखते हुए ये गाथाएँ उद्धृत की हैं। हम देखते हैं कि आवश्यकनिर्युक्ति की वृत्ति में आचार्य हरिभद्र ने इन गाथाओं को उसी सूत्र की वृत्ति में उद्धृत किया है। इससे ऐसा अवश्य लगता है कि ये गाथाएँ भाष्य रूप हैं। यहाँ प्रारम्भ में ध्यानशतक नाम देकर बाद में ज्ञाणज्झयण की वृत्ति भी लिखी है। अतः ध्यानशतक यह नामकरण हरिभद्र का ही है। क्योंकि उन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों का नामकरण गाथा या श्लोक संख्या के आधार पर किया है, यथा—अष्टकप्रकरणम्, षोडशकप्रकरणम्, विंशतिविंशिका, द्वात्रिंशिका, पंचाशकप्रकरणम्

आदि। इसी प्रकार अपने योग सम्बन्धी एक ग्रन्थ का नाम भी उन्होंने 'योगशतक' दिया है, अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का 'ध्यानशतक' नाम ग्रन्थकार के द्वारा न दिया जाकर ग्रन्थ के टीकाकार हरिभद्र के द्वारा ही दिया गया है, ग्रन्थकार द्वारा दिया गया नाम तो 'ज्ञाणज्झयण' ही है, अतः दो नामों के होने पर भी ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति की कल्पना नहीं करनी चाहिए।

**ग्रन्थ के कर्ता-** जहाँ तक प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता का प्रश्न है, परम्परागत दृष्टि से उसके कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण माने जाते हैं। इतना ही नहीं इसके सम्बन्ध में एक प्रमाण यह दिया जाता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कुछ संस्करण में इसकी १०६वीं गाथा में ग्रन्थ की गाथा संख्या का निर्देश करते हुए उसके कर्ता के रूप में 'जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण' का स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

पंचुत्तरेण गाहा सएण ज्ञाणस्स जं समक्खायं।  
जिनभद्रखमासमणेहिं कम्मविसोहीकरणं जइणो।।

प्रस्तुत गाथा में एक सामासिक पद 'कम्मविसोहीकरणं' है। किन्तु जहाँ तक मेरा ज्ञान है प्रस्तुत गाथा में 'कम्मविसोहीकरणं' यह सामासिक पद जिनभद्रगणि का विशेषण तो नहीं हो सकता, क्योंकि यहाँ इस सामासिक पद में प्रथमा या द्वितीया विभक्ति है जबकि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण में तृतीया बहुवचन या पंचमी विभक्ति है। अतः 'कम्मविसोहीकरणं' यह या तो जिनभद्रगणिकृत किसी अन्य ग्रन्थ का नाम हो सकता है या फिर प्रस्तुत 'ज्ञाणज्झयण' को ही कर्मविशुद्धिकारक कहा गया है। हमारी दृष्टि में यही विकल्प समुचित है, क्योंकि ध्यान तप का ही एक प्रकार है और जैन दर्शन में तप को कर्म-विशुद्धि या कर्म-निर्जरा का हेतु माना जाता है। पुनः ध्यान में शुक्लध्यान ही ऐसी अवस्था है जिसके चतुर्थ चरण में सर्व कर्मों का क्षय हो जाता है। अतः 'कम्मविसोहीकरणं' इस 'ज्ञाणज्झयणं' नामक ग्रन्थ का ही विशेषण है। अतः इस समस्त पद को इस रूप में लेना चाहिए- 'कम्मविसोहीकरणं ज्ञाणज्झयणं'। मेरी दृष्टि में इस गाथा का अन्वय भी इस रूप में करना होगा-

जिनभद्रखमासमणेहिं गाहा पंचुत्तरेण सएण जइणो  
कम्मविसोहीकरणं ज्ञाणज्झयणं समक्खायं।।

इसी गाथा के आधार पर 'विनयभक्ति सुन्दर चरण ग्रन्थमाला' द्वारा प्रकाशित संस्करण में 'जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण' को इसका कर्ता बताया गया है।



किन्तु यहाँ एक समस्या यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कुछ प्रकाशित संस्करणों में एवं हरिभद्र की आवश्यकवृत्ति में मात्र १०५ गाथाएँ ही मिलती हैं। उसमें १०६वीं गाथा नहीं है। इस आधार पर पण्डित बालचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने ध्यानशतक की अपनी भूमिका में यह शंका प्रस्तुत की है कि ध्यानशतक के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नहीं हैं। यदि हम पंडित जी की इस बात को स्वीकार करके यह मान भी लें कि १०६वीं गाथा मूलग्रन्थकार की न होकर के बाद में किसी के द्वारा जोड़ी गई है तो भी इस आधार पर यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण नहीं हैं, क्योंकि स्वयं पंडित बालचन्द्र जी सिद्धान्तशास्त्री ने अपनी भूमिका में ही इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी कृतियों यथा-विशेषावश्यकभाष्य, जीतकल्पभाष्य आदि में भी लेखक के रूप में अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है। किन्तु कर्ता के नाम के अनुल्लेख से 'ध्यानाध्ययन' की अन्यकर्तृकता सिद्ध नहीं होती है। हम उनसे सहमत होकर यह मान सकते हैं कि यह अंतिम गाथा बाद में किसी के द्वारा जोड़ी गई है। किन्तु उनकी इस बात से प्रस्तुत ग्रन्थ के कर्ता जिनभद्रगणि नहीं है यह फलित नहीं होता है। क्योंकि इस सम्बन्ध में अन्य अनेक साधक प्रमाण भी उपस्थित हैं। यह भी सत्य है कि इस १०६वीं गाथा में यह कहा गया है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के द्वारा यह ग्रन्थ रचा गया। यह कथन स्वयं लेखक के द्वारा तो नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यदि लेखक स्वयं इस गाथा के रचयिता होते तो वे यह लिखते 'मुझ जिनभद्रगणि द्वारा रचा गया'। अतः इस गाथा का अन्यकर्तृक और प्रक्षिप्त होना तो सिद्ध है, किन्तु पंडित बालचन्द्रजी का यह कहना कि यह गाथा असम्बद्ध ही है उचित नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत गाथा में ग्रन्थ की गाथा संख्या का उल्लेख करते हुए ही ग्रन्थकार का उल्लेख हुआ है। अतः यह गाथा असम्बद्ध नहीं कही जा सकती। अब प्रश्न यह उठता है कि यह गाथा प्रस्तुत कृति में कब जोड़ी गई? वस्तुतः यह गाथा प्रस्तुत कृति में हरिभद्र की टीका के पश्चात् ही जोड़ी गई होगी और यही कारण हो सकता है कि हरिभद्र ने इस गाथा पर टीका न लिखी हो। दूसरे यदि हरिभद्र स्वयं इस गाथा को जोड़ते तो मूल गाथाओं के बाद इस गाथा को अवश्य देते, किन्तु उनकी टीका में इस गाथा की अनुपलब्धि यही सिद्ध करती है कि यह गाथा अवश्य की हरिभद्रीय टीका के बाद ही जुड़ी होगी। किन्तु हरिभद्रीय टीका के पश्चात् मलधारी हेमचन्द्र द्वारा जो टिप्पण लिखे गये उनमें भी इसके कर्ता के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं किया गया। इससे

भी यह सिद्ध होता है कि यह गाथा मलधारी हेमचन्द्र के टिप्पण के बाद ही प्रक्षिप्त हुई होगी अर्थात् ईसा की बारहवीं शती के पश्चात् ही प्रक्षिप्त हुई होगी।

यह सत्य है कि पं. दलसुखभाई मालवणिया ने 'गणधरवाद' की प्रस्तावना में भी ध्यानशतक/ज्ञाणज्ज्ञयण के जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित होने में संदेह व्यक्त किया है। उनके संदेह का आधार भी हरिभद्रीय टीका और मलधारी हेमचन्द्र के टिप्पणी में कर्ता के नाम का अनुल्लेख ही है। पं. बालचन्द्र जी, पं. दलसुखभाई के इस संदेह से तो सहमत होते हैं, परन्तु पं. दलसुखभाई के इस निर्णय को स्वीकार क्यों नहीं करते हैं कि यह आवश्यकनिर्युक्तिकार की कृति है। पं. दलसुखभाई 'गणधरवाद' की भूमिका में स्पष्टतः यह लिखते हैं कि 'हरिभद्रसूरि ने इसे जो शास्त्रान्तर कहा है, इससे यह स्वतंत्र ग्रन्थ है, यह तो निश्चित है, किन्तु यह आवश्यकनिर्युक्ति के रचयिता की कृति नहीं है यह उससे फलित नहीं होता है। उसके प्रारम्भ में योगीश्वर और जिन को नमस्कार किया गया है, इस कारण से हरिभद्रसूरि इसे आवश्यकनिर्युक्तिकार की कृति नहीं मानते हों, यह तो हो नहीं सकता। कारण यह है कि किसी नवीन प्रकरण को प्रारम्भ करते हुए निर्युक्तियों में कितनी ही बार तीर्थकरों को नमस्कार किया गया है। अतः उसे निर्युक्तिकार भद्रबाहु (द्वितीय) की ही कृति माननी चाहिए।'

यद्यपि इस ग्रन्थ की शैली एवं भाषा की निर्युक्ति की शैली और भाषा से निकटता है, अतः उसे निर्युक्तिकार की कृति मानने में विशेष बाधा नहीं है। पं. बालचन्द्र जी यह 'ज्ञाणज्ज्ञयण' जिनभद्रगणि की कृति नहीं है इस हेतु पंडित दलसुखभाई के तर्क का अपने पक्ष में उपयोग करते हैं, और उनके इस निर्णय को कि यह ग्रन्थ निर्युक्तिकार की कृति है, को स्वीकार नहीं करते हैं और न ही वे इसका तार्किक खण्डन ही करते हैं। संभवतः उन्हें इसमें यही कठिनाई प्रतीत होती है कि चाहे इसे निर्युक्तिकार की कृति मानें या भाष्यकार की कृति मानें दोनों ही स्थितियों में यह श्वेताम्बर परम्परा की कृति ही ठहरती है। वे किसी अन्य आचार्य की कृति मानते हैं, किन्तु वे यह भी सिद्ध नहीं कर पाते हैं कि यह किस अन्य आचार्य की कृति है।

केवल इस आधार पर कि आचार्य हरिभद्र ने अपनी टीका में और आचार्य मलधारी हेमचन्द्र ने अपने टिप्पण में इसे जिनभद्रगणि की कृति नहीं बताया है— इसे जिनभद्र की कृति मानने से इंकार कर देना समुचित नहीं है। क्योंकि दोनों ने उनके सामने जो मूलपाठ था उसी पर टीका या टिप्पण लिखे। जब मूल में

नामोल्लेख वाली गाथा उनके समक्ष थी ही नहीं तो वे किस आधार पर कर्ता के नाम का उल्लेख करते और जब जिनभद्रगणि की अपनी किसी भी कृति में अपना नाम देने की प्रवृत्ति ही नहीं रही तो फिर इस कृति में वे अपना नाम कैसे देते?

पण्डित बालचन्द्रजी ने इस ग्रन्थ को जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की कृति मानने से जो इंकार किया है, उसका सम्भवतः मुख्य कारण यही है कि वे इसे किसी श्वेताम्बर आचार्य की कृति मानना नहीं चाहते हैं, किन्तु उनका यह मन्तव्य इसलिए सिद्ध नहीं हो सकता कि कृति मूलतः अर्द्धमागधी भाषा में ही लिखी गई है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के पूर्ववर्ती एवं परवर्ती जो भी दिगम्बर आचार्य हुए हैं उन सबने शौरसेनी प्राकृत में ही अपने ग्रन्थ लिखे हैं, जबकि यह ग्रन्थ पूर्णतः अर्द्धमागधी में ही पाया जाता है। इस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव भी प्रायः अधिक नहीं देखा जाता है। वैसे अर्द्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत में जो भी लेखन हुआ है वह प्रमुखतः श्वेताम्बर आचार्यों के द्वारा ही हुआ है। अतः इतना सुनिश्चित है कि यह ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा में ही निर्मित हुआ है। पुनः आचार्य हरिभद्र ने इस पर जो टीका लिखी है, वह भी मूलतः श्वेताम्बर परम्परा की है।

अतः ग्रन्थकर्ता के रूप में जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं आती है।

प्राचीन जैन आचार्यों की यह प्रवृत्ति रही है कि वे अपनी किसी रचना में अपने नाम का उल्लेख नहीं करते थे, यही कारण है कि विशेषावश्यकभाष्य, जीतकल्पभाष्य, विशेषणवती आदि ग्रन्थों में जिनभद्रगणि ने भी कहीं भी अपने नाम का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु इस आधार पर विशेषावश्यकभाष्य, जीतकल्पभाष्य, विशेषणवती आदि को किसी अन्य की कृति नहीं माना जा सकता है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि ध्यानशतक के कर्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ही हैं और कर्ता के नाम के सम्बन्ध में किसी प्रकार की भ्रांति न हो इसलिए परवर्तीकाल में किसी ने १०६वीं गाथा जोड़कर कर्ता का नाम निर्देश कर दिया है। मात्र यही नहीं दिगम्बर आचार्य कुन्दकुन्द, मूलाचार के कर्ता वट्टकेर आदि ने भी अपनी कृतियों में कहीं अपने नाम का निर्देश नहीं किया है, ऐसी स्थिति में क्या समयसार, मूलाचार आदि के कर्तृत्व पर भी संदेह किया जायेगा?

सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ विक्रम की आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र के समक्ष उपस्थित था। जिनभद्रगणि का काल लगभग

छठी शताब्दी माना जा सकता है। जिनभद्र के पश्चात् और हरिभद्र के पूर्व जो प्रमुख श्वेताम्बर आचार्य हुए हैं उनमें तत्त्वार्थसूत्र के टीकाकार सिद्धसेनगणि क्षमाश्रमण और चूर्णिकार जिनदासगणि को छोड़कर ऐसे कोई अन्य समर्थ आचार्यों के नाम हमारे समक्ष नहीं हैं, जिन्हें इस ग्रन्थ का कर्ता बताया जा सके। ये दोनों भी इसके कर्ता नहीं हैं यह भी सुस्पष्ट है। अतः यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है कि ध्यानशतक के रचनाकार श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ही हैं।

मेरी दृष्टि में इसे निर्युक्तिकार की रचना मानने में भी एक कठिनाई है कि आवश्यकनिर्युक्ति में प्रतिक्रमणनिर्युक्ति की और कायोत्सर्गनिर्युक्ति की जो गाथाएँ हैं, उनसे ध्यानाध्ययन की एक भी गाथा नहीं मिलती है। वस्तुतः यह ग्रन्थ निर्युक्ति के बाद का और जिनदासगणि महत्तर की चूर्णियों के पूर्व भाष्यकाल की रचना है, अतः इसके कर्ता विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि ही होना चाहिए। जहाँ तक ज्ञाणज्जयण को निर्युक्तिकार भद्रबाहु की रचना मानने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में हमारे पास में कोई भी ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है, केवल यह मान करके कि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकनिर्युक्ति की व्याख्या में इसे समाहित किया है, मात्र इसी आधार पर इसे निर्युक्तिकार की रचना नहीं माना जा सकता है। क्योंकि आचार्य हरिभद्र ने आवश्यकनिर्युक्ति की टीका में अन्य-अन्य ग्रन्थों के भी संदर्भ दिये हैं और जिनके कर्ता निश्चित ही निर्युक्तिकार नहीं हैं। अतः आचार्य हरिभद्र की टीका में उद्धृत होने मात्र से इसे निर्युक्तिकार की रचना मानना संभव नहीं है। निर्युक्तियों के बाद में भाष्यों और चूर्णियों का काल आता है और प्रस्तुत कृति हरिभद्र के पूर्व होने से उसे भाष्यकार की रचना मानना ही उपयुक्त है, क्योंकि चूर्णियाँ तो प्राकृत गद्य में लिखित हैं, अतः उनकी शैली भिन्न है। शैली, भाषा आदि की अपेक्षा से इसे विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता जिनभद्रगणि की कृति मान लेना ही संभव है।

### रचनाकाल

जहाँ तक प्रस्तुत कृति के रचनाकाल का प्रश्न है यदि हम इसे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की रचना मानते हैं तो उनका जो काल है वही इस कृति का रचनाकाल होगा। विचारश्रेणी ग्रन्थ के अनुसार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्वर्गवास वीर संवत् ११२० में हुआ। तदनुसार उनका स्वर्गवास विक्रम संवत् ६५० या ईस्वी सन् ५९३ माना जा सकता है। धर्मसागरी पट्टावली के अनुसार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का स्वर्गवास काल वि.सं. ७०५ के लगभग माना जाता है। तदनुसार

वे ईस्वी सन् ६४९ में स्वर्गस्थ हुए। चूँकि विशेषावश्यकभाष्य और उनकी स्वोपज्ञटीका उनकी अन्तिम कृति के रूप में माने जाते हैं, अतः इतना सुनिश्चित है कि 'ज्ञाणज्ज्ञयण' की रचना ईस्वी सन् की ७वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही कभी हुई है। यह निश्चित है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण शक संवत् ५३१ अर्थात् ईस्वी सन् ६०९ के पूर्व हुए हैं, क्योंकि शक संवत् ५३१ में लिखी विशेषावश्यकभाष्य ताड़पत्रीय प्रति के आधार पर प्रतिलिपि की गई अन्य ताड़पत्रीय प्रति आज भी जैसलमेर भंडार में उपलब्ध है। इस प्रकार विशेषावश्यकभाष्य की रचना शक संवत् ५३१ अर्थात् ईस्वी सन् ६०९ से पूर्व ही हुई है। विशेषावश्यकभाष्य का रचनाकाल सातवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद नहीं ले जाया जा सकता है। अतः ध्यानशतक की रचना ईस्वी सन् की छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और सातवीं शती प्रथम दशक के पूर्व ही माननी होगी।

पं. दलसुखभाई ने इसे निर्युक्तिकार भद्रबाहु की रचना होने की कल्पना की है। यद्यपि हम पूर्व में ही कल्पना को निरस्त कर चुके हैं फिर भी यदि हम निर्युक्तियों का रचनाकाल ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी मानते हैं तो प्रस्तुत कृति के रचनाकाल की पूर्व सीमा ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी और उत्तर सीमा ईस्वी सन् की छठी शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है।

पं. बालचन्द्र जी ने अपनी प्रस्तावना में ध्यानशतक के आधार रूप में स्थानांगसूत्र आदि सभी अर्द्धमागधी आगमों को वलभी वाचना अर्थात् ईसा की ५वीं शताब्दी की रचना माना है, किन्तु यह उनकी भ्रांति ही है। वलभी वाचना वस्तुतः अर्द्धमागधी आगमों का रचनाकाल न होकर उनकी अंतिम वाचना का अर्थात् उनका सम्पादन काल है। उनकी रचना तो उसके पूर्व ही हो चुकी थी। स्थानांगसूत्र को प्रस्तुत ध्यानशतक का आधार ग्रन्थ माना जा सकता है। उसकी रचना उसके काफी पूर्व ही हो चुकी थी, चूँकि स्थानांगसूत्र एक संकलनात्मक ग्रन्थ है, उसमें नौ गण आदि के जो उल्लेख हैं वे भी उसे ईस्वी सन् की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से परवर्ती सिद्ध नहीं करते हैं। स्थानांगसूत्र में आयारदसा आदि दस दशा-ग्रन्थों के नाम और उनकी विषय-वस्तु के जो उल्लेख हैं वे समवायांगसूत्र और नन्दीसूत्र में वर्णित उनकी विषय-वस्तु से काफी प्राचीन हैं, वे नागार्जुनीय (तीसरी शती) और देवर्द्धिगणि की वाचना के पूर्व के हैं और ध्यानाध्ययन में ध्यान के उसी प्राचीन रूप का अनुसरण देखा जाता है। यदि ज्ञाणज्ज्ञयण अपरनाम ध्यानशतक का आधार स्थानांगसूत्र रहा हो तो भी वह ईस्वी सन् की दूसरी शती से पूर्ववर्ती तथा पाँचवीं-छठी शती से परवर्ती नहीं है, क्योंकि

विक्रम की आठवीं शताब्दी और तदनुसार ईस्वी सन् सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में हुए हरिभद्र स्वयं इसे न केवल उद्धृत कर रहे हैं, अपितु आवश्यकवृत्ति के अन्तर्गत उस पर टीका भी लिख रहे हैं।

अतः ज्ञानज्ज्ञयण अपरनाम ध्यानशतक का रचनाकाल ईसा की दूसरी शती के पश्चात् और ईस्वी सन् की सातवीं शती के प्रथम दशक के पूर्व हो सकता है। फिर भी मेरी दृष्टि में इसे जिनभद्र क्षमाश्रमण की रचना होने के कारण ईस्वी सन् की छठी शती के अन्तिम चरण की रचना मानना अधिक उपयुक्त है।

### ग्रन्थ की विषय-वस्तु और उसका वैशिष्ट्य

प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वप्रथम मंगलगाथा में ग्रन्थ रचना के उद्देश्य को स्पष्ट करने के पश्चात् दूसरी गाथा में ध्यान को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि अध्यवसायों की एकाग्रता 'ध्यान' है और उनकी चंचलता 'चित्त' है। यह चित्त भी तीन प्रकार का है— १. भावना रूप २. अनुप्रेक्षा रूप और ३. चिन्ता रूप। भावना की अपेक्षा अनुप्रेक्षा में और अनुप्रेक्षा की अपेक्षा चिन्ता में चित्त की चंचलता वृद्धिगत होती जाती है, जबकि ध्यान में चित्त एकाग्र रहता है। सामान्य व्यक्तियों के लिए अन्तर्मुहूर्त तक चित्तवृत्ति का एकाग्र होना ध्यान है, किन्तु तेरहवें गुणस्थानवर्ती जिन जब चौदहवें गुणस्थान में योग निरोध करते हैं अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति का निरोध करते हैं, तब उसे ध्यान कहते हैं। इसके पश्चात् ध्यान के चार प्रकारों अर्थात् आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान का उल्लेख करते हुए प्रथम दो को भवभ्रमण का कारण और अन्तिम दो को मुक्ति का साधन बताया गया है। चार ध्यानों को चार गतियों से जोड़ते हुए जैन परम्परा में यह कहा गया है कि आर्त्तध्यान तिर्यचगति का, रौद्रध्यान नारक गति का, धर्मध्यान मनुष्य या देवगति का तथा शुक्लध्यान मोक्षगति का हेतु है। इसके पश्चात् प्रस्तुत ग्रन्थ में आर्त्तध्यान के चार प्रकारों— १. अनिष्ट या अमनोज्ञ का संयोग २. रोगादि की वेदना ३. इष्ट का वियोग और ४. निदान अर्थात् भविष्य सम्बन्धी आकांक्षा का उल्लेख हुआ है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि रोगादि की वेदना में और रोग-मुक्ति के प्रयासों में भी वास्तविक मुनि को आर्त्तध्यान नहीं होता है, क्योंकि आलम्बन प्रशस्त होता है। इसी प्रकार मोक्ष की इच्छा भी निदान रूप नहीं है, क्योंकि उसमें राग-द्वेष और मोह नहीं है। इसके पश्चात् आर्त्तध्यान के लक्षण-आक्रन्द, दैन्य आदि की चर्चा है। अन्त में आर्त्तध्यान में कौन-सी लेश्या होती है और आर्त्तध्यान का स्वामी कौन है अर्थात् आर्त्तध्यान किन गुणस्थानवर्ती जीवों को होता है, इसकी चर्चा है। इस प्रकार गाथा ६ से

लेकर १८ तक तेरह गाथाओं में आर्त्तध्यान सम्बन्धी विवेचन है। ज्ञातव्य है कि जैनधर्म में आर्त्तध्यान को ध्यान का एक रूप स्वीकार करके भी त्याज्य माना गया है।

आगे गाथा क्रमांक १९ से २२ तक चार गाथाओं में रौद्रध्यान के चार प्रकारों- १. हिंसानुबन्धी २. मृषानुबन्धी ३. स्तेयानुबन्धी और ४. संरक्षणानुबन्धी के स्वरूपों का विवेचन हुआ है। इसके पश्चात् गाथा क्रमांक २३-२४ में यह बताया गया है कि रौद्रध्यान स्वयं करना, अन्य से कराना अथवा करते हुए का अनुमोदन करना- ये तीनों ही राग-द्वेष और मोह युक्त होने से नरक गति के हेतु हैं। इसके पश्चात् २५वीं गाथा में आर्त्तध्यान में कौन-सी लेश्या होती है, इसकी चर्चा की गई है। तदनन्तर रौद्रध्यान के लक्षणों की चर्चा की गई है। रौद्रध्यान को ध्यान के अन्तर्गत वर्गीकृत करके भी उसे हेय और नरकगति का हेतु बताया गया है। आर्त्त और रौद्रध्यान हेय या त्याज्य होने से प्रस्तुत कृति में इन दोनों का विवेचन अत्यन्त संक्षेप में मात्र २१ गाथाओं (७-२७) में हुआ है। जबकि धर्मध्यान और शुक्लध्यान का विवेचन लगभग ७८ गाथाओं में किया गया है।

धर्मध्यान की चर्चा के प्रसंग में प्रस्तुत ग्रन्थ में धर्मध्यान का विवेचन निम्न बारह द्वारों अर्थात् विभागों में किया गया है- १. भावनाद्वार २. देश अर्थात् स्थल द्वार ३. काल अर्थात् ध्यान का समय ४. ध्यान के आसन, ५. धर्मध्यान के आलम्बन (स्वाध्याय) ६. ध्यान का क्रम ७. ध्यान का विषय ८. ध्याता की योग्यता जैसे अप्रमत्तता आदि ९. अनुप्रेक्षा अर्थात् ध्यान में चिन्तनीय विषय १०. धर्मध्यान की लेश्या (मनोवृत्ति) ११. धर्मध्यान के लक्षण १२. धर्मध्यान फल या परिणाम। इसी क्रम में धर्मध्यान के प्रकारों का भी उल्लेख हुआ है- १. आज्ञाविचय अर्थात् वीतराग परमात्मा ने क्या-क्या करने या नहीं करने का आदेश दिया है, उसका चिन्तन करना २. अपायविचय अर्थात् राग, द्वेष, मोह कषाय आदि की दोषरूपता का चिन्तन करना ३. विपाकविचय अर्थात् कर्मविपाक (फल) पर विचार करना ४. संस्थानविचय अर्थात् लोक के स्वरूप पर विचार करना। साथ ही यह भी बताया गया है कि अप्रमत्तसंयत अर्थात् सातवें गुणस्थान से लेकर ११वें उपशांतमोहनीय या १२वें क्षीणमोहनीय गुणस्थानवर्ती मुनि धर्मध्यान के अधिकारी या ध्याता होते हैं।

इसी प्रकार धर्मध्यान के ध्याता में तेजो, पद्म और शुक्ल ये तीन शुभ लेश्याएँ होती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रस्तुत कृति ध्यानशतक या ध्यानाध्ययन

में गाथा क्रमांक २८ से ६८ तक ४१ गाथाओं में धर्मध्यान का विवेचन हुआ है। इसके आगे ३७ गाथाओं में शुक्लध्यान का विवेचन है।

प्रस्तुत कृति में धर्मध्यान के समान शुक्लध्यान के भी बारह द्वार बताये गये हैं, किन्तु इनमें भावना, देश(स्थान), काल (ध्यान के योग्य समय) तथा आसन (ध्यान के आसन)— ये चार धर्मध्यान और शुक्लध्यान में समान होने से शुक्लध्यान की चर्चा के प्रसंग में इनका पुनः उल्लेख नहीं किया गया है। अतः सर्वप्रथम शुक्लध्यान के क्षांति (क्षमा), मार्दव (विनम्रता), आर्जव (सरलता) और मुक्ति (निलोभता) ये चार आलम्बन बताये गये हैं। वस्तुतः शुक्लध्यान का मुख्य लक्ष्य कषायों पर विजय प्राप्त करना है, अतः क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों के प्रतिरोधी चार धर्मों को शुक्लध्यान का आलम्बन कहा गया है। ध्यान-क्रम की चर्चा करते हुए इसमें यह बताया गया है कि विषय संकोच अर्थात् संसार के विषयों के प्रति अनात्म भाव जाग्रत करते हुए, अर्थात् ये मेरे नहीं है, मैं इनसे भिन्न हूँ, आत्मा के शुद्ध ज्ञाता-द्रष्टा भाव पर चित्त को केन्द्रित करना— यह विषय संकोच का क्रम है। छद्मस्थ जीव इसी क्रम में शुक्लध्यान करता है, किन्तु वीतराग परमात्मा का शुक्लध्यान योगनिरोध रूप शैलेषी अवस्था रूप होता है— यहाँ 'मन' 'अमन' हो जाता है। इसके तीन दृष्टान्त दिए गये हैं— जैसे मान्त्रिक शरीर में व्याप्त जहर को डंक स्थान पर लाकर निर्मूल कर देता है, वैसे ही शुक्लध्यानी अपने विषयों में व्याप्त मन को, क्रमशः उसके विषय रूप विष का संकोच करते हुए, आत्मतत्त्व पर केन्द्रित कर अमन या निर्विषय बना देता है। जिस प्रकार ईंधन को जलाते हुए ईंधन के अभाव में अग्नि स्वयं नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार मन अपने विषयों का त्याग करते हुए अन्त में अमन बन जाता है। जैसे कच्चे घड़े को अग्नि में पकाने पर इनकी आर्द्रता समाप्त हो जाती है, वैसे ही ध्यानाग्नि में तपाने से मन की आर्द्रता अर्थात् विषयानुगामिता समाप्त हो जाती है। फिर मनयोग, वचनयोग और काययोग का निरोध किस प्रकार और किस क्रम से होकर शैलेषी अवस्था को प्राप्त करती है, इसकी चर्चा है। इसके पश्चात् शुक्लध्यान के चार चरणों— १. पृथक्त्व-वितर्क-विचार अर्थात् आत्म-अनात्म का भेद-विज्ञान २. एकत्व-वितर्क-अविचार अर्थात् आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिरता ३. सूक्ष्मक्रिया-अनिवृत्ति अर्थात् योग निरोध में प्रवर्तनशील आत्म स्थिति और ४. व्युच्छिन्नक्रिया-अप्रतिपाती अर्थात् त्रियोग निरोध की अंतिम स्थिति या निर्विकल्प आत्म-समाधि की अवस्था का विवेचन किया गया है। तत्पश्चात् शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाओं अर्थात् आस्रव हेतु,



संसार की अशुभता, भवभ्रमण की अनन्त परम्परा और वस्तु की परिणमनशीलता का विचार किया गया है। यद्यपि ये अनुप्रेक्षाएँ शुक्लध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में ही संभव हैं। फिर शुक्लध्यान में लेश्या की स्थिति की चर्चा करते हुए कहा गया है कि शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों में शुक्ललेश्या, तीसरे चरण में परम शुक्ललेश्या और चौथे चरण में लेश्या का अभाव होता है। लेश्या मनोवृत्ति रूप है। शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में मन 'अमन' हो जाता है, अतः वहाँ लेश्या नहीं होती है। तदनन्तर अवद्य (पूर्ण अहिंसा), असम्मोह, विवेक और व्युत्सर्ग-इन शुक्लध्यान के चार लक्षणों की चर्चा की गई है। शुक्लध्यान में आत्मा स्वरूपघात (स्वहिंसा) और अपघात दोनों से रहित होता है, उसकी मोहदशा का निवारण हो जाने पर उसमें असम्मोह और विवेक गुण प्रकट हो जाते हैं। फिर शुक्लध्यान का जो व्युत्सर्ग लक्षण है वह महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यही एक ऐसा लक्षण है जो शुक्लध्यान को अपने सम्यक् अर्थ में कायोत्सर्ग बना देता है, वीतराग-ध्यान बना देता है।

सामान्यतया जनसाधारण ध्यान और कायोत्सर्ग को एक मान लेते हैं, किन्तु दोनों में अन्तर है। तप के बारह भेदों में ध्यान और कायोत्सर्ग को अलग-अलग माना गया है। ध्यान चित्त की एकाग्रता है, जबकि कायोत्सर्ग या व्युत्सर्ग निर्ममत्व का अभ्यास है। दूसरे शब्दों में ध्यान तो किसी एक विषय पर मन का एकाग्र होना है, जबकि व्युत्सर्ग में मन 'अमन' हो जाता है। यही कारण है कि व्युत्सर्ग ध्यान की उच्चतम या अन्तिम अवस्था है। व्युत्सर्ग में निर्ममत्व के साथ-साथ त्याग भी है। व्युत्सर्ग 'पर' में अनात्म बुद्धि या निर्ममत्व बुद्धि है। वह योग-निरोध है। वह वीतरागता की साधना से भी एक चरण आगे बढ़ा हुआ है। यही कारण है कि व्युत्सर्ग शुक्लध्यान का लक्षण कहा गया है।

एतदर्थ यह बताया गया है कि छद्मस्थ के सम्बन्ध में मन की एकाग्रता को ध्यान कहा जाता है, जबकि वीतराग के सम्बन्ध में काय कि निश्चलता को अर्थात् योग-निरोध की शैलेषी अवस्था को ध्यान कहा जाता है। शुक्लध्यान के फल या परिणाम की चर्चा करते हुए कहा गया है कि शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों का फल शुभास्रवजन्य अनुत्तर स्वर्ग का सुख है, जबकि अन्तिम दो चरणों का फल कर्मक्षय और मोक्ष की प्राप्ति है। कहा गया है कि तप से कर्म-निर्जरा होती है, कर्म-निर्जरा से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ध्यान तप का प्रधान अंग है, अतः वह मोक्ष का हेतु है। अन्त में अनेक दृष्टान्तों द्वारा ध्यान मोक्ष का हेतु है इस बात को सिद्ध किया गया है और कहा गया है कि ध्यान सभी

गुणों का आधार स्थल है, दृष्ट और अदृष्ट सभी सुखों का साधक है, अत्यन्त प्रशस्त है, वह सदैव ही श्रद्धेय, ज्ञातव्य एवं ध्यातव्य है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रंथ ध्यान की परिभाषा, ध्यान का स्वरूप, ध्यान के प्रकार, उनके प्रभेद, स्वरूप, लक्षण, आलम्बन, ध्येय विषय, लेश्या, विभिन्न ध्यानों के स्वामी या अधिकारी ध्यान के योग्य स्थान, ध्यान के योग्य समय, ध्यान के आसन/मुद्रा आदि पर प्रकाश डालता है। इसके विवेच्य विषयों में ध्यान के भेद, प्रभेद, उनके लक्षण, आलम्बन आदि की चर्चा तो स्थानांगसूत्र और तत्त्वार्थसूत्र पर आधारित है, किन्तु ध्यान के स्थान, काल, आसन आदि की चर्चा इसकी अपनी मौलिकता है, जिसका परवर्ती ग्रन्थों जैसे ज्ञानार्णव, योगशास्त्र आदि में भी अनुसरण किया गया है।



## आचारांगसूत्र की मनोवैज्ञानिक दृष्टि

प्रस्तुत शोध-निबन्ध का उद्देश्य आचारांगसूत्र में वर्णित मनोवैज्ञानिक तथ्यों का आधुनिक मनोविज्ञान के संदर्भ में विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना है। आचारांगसूत्र जैन आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है, जबकि विज्ञान की एक स्वतंत्र विधा के रूप में मनोविज्ञान का विकास अभी-अभी ही हुआ है। इस प्रकार कालक्रम की दृष्टि से दोनों में लगभग दो सहस्राब्दियों का अन्तर है। यह भी एक सत्य है कि आचारांगसूत्र मनोविज्ञान का ग्रन्थ न होकर आचारशास्त्र का ग्रन्थ है और इसलिये उसमें मनोवैज्ञानिक तथ्यों का विवेचन उस रूप में तो उपलब्ध नहीं है जिस रूप में वह एक मनोविज्ञान की पुस्तक में पाया जाता है। फिर भी उसमें आचार के सिद्धांतों और नियमों के लिए जिस मनोवैज्ञानिक आधारभूमि और मनोवैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया गया है वह तुलनात्मक अध्ययन के लिए गवेषणीय है।

आचारांगसूत्र मुख्यतः श्रमण आचार के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक पक्ष को प्रस्तुत करता है। चूँकि मानवीय आचार मन और बुद्धि से निकट रूप से जुड़ा हुआ है अतः यह स्वाभाविक है कि आचार के सम्बन्ध में कोई भी प्रामाणिक चिन्तन मनोवैज्ञानिक सत्त्यों को नकार कर आगे नहीं बढ़ सकता है। हमें क्या होना चाहिए यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम क्या हैं? और क्या हो सकते हैं? हमारी क्षमताएँ एवं संभावनाएँ क्या हैं? आचरण के किसी साध्य और सिद्धांत का निर्धारण साधक के मनोवैज्ञानिक प्रकृति को समझे बिना संभव नहीं है। प्रस्तुत निबन्ध में हमें यह देखना है कि आचारांगसूत्र में आचार के सिद्धांतों एवं नियमों के प्रतिपादन में किस सीमा तक मनोवैज्ञानिक दृष्टि सन्निहित है।

### आचारांग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि

आचारांगसूत्र के उत्थान में ही हमें उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिल जाता है। सूत्र का प्रारम्भ ही अस्तित्व सम्बन्धी मानवीय जिज्ञासा से होता है। पहला ही प्रश्न है—

अत्थि में आया उववाइए, णत्थि मे आया उववाइए,  
के अहं आसी, के वा इओ चुओ पेच्चा भविस्सामि।

१/१/१/३

इस जीवन के पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं अथवा इस जीवन के पश्चात् मेरी सत्ता बनी रहेगी या नहीं? मैं क्या था और मृत्यु के उपरान्त किस रूप में होऊँगा? यही अपने अस्तित्व का प्रश्न मानवीय जिज्ञासा और मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न है, जिसे सूत्रकार ने सर्वप्रथम उठाया है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के लिए मूलभूत प्रश्न अपने अस्तित्व या सत्ता का ही है। धार्मिक एवं नैतिक चेतना का विकास भी इसी अस्तित्व-बोध या स्वरूप-बोध पर आधारित है। मनुष्य की जीवन-दृष्टि क्या और कैसी होगी? यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि अपने अस्तित्व, अपनी सत्ता और अपने स्वभाव के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है? पाप और पुण्य अथवा धर्म और अधर्म की सारी मान्यताएँ अस्तित्व की धारणा पर ही खड़ी हुई हैं। इसीलिये सूत्रकार ने कहा है कि जो इस 'अस्तित्व' या स्व-सत्ता को जान लेता है वही आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है और क्रियावादी है। (से आयावादी लोयावादी कम्मावादी किरियावादी-१/१/१/३) व्यक्ति के लिए मूलभूत और सारभूत तत्त्व उसका अपना अस्तित्व ही है, और सत्ता या अस्तित्व के इस मूलभूत प्रश्न को उठाकर ग्रन्थकार ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी जिजीविषा और जिज्ञासा को मानव की मूल प्रवृत्तियाँ माना गया है। मानवीय जिज्ञासावृत्ति को महत्त्व देते हुए तो यहाँ तक कहा गया है कि संसयं परिजाणतो संसारे परिण्णाते- (५/१/१४९) अर्थात् संशय के ज्ञान से ही संसार का ज्ञान है। आज समस्त वैज्ञानिक ज्ञान के विकास में संशय (जिज्ञासा) की पद्धति को आवश्यक माना गया है। संशय की पद्धति को आज एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में मान्यता प्राप्त है। ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति का यही एकमात्र मार्ग है जिसे सूत्रकार ने पूरी तरह समझा है।

### आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण

आत्मा के स्वरूप या स्वभाव का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कहा है- जे आता से विन्नाता, जे विन्नाता से आता। जेण विजाणति से आता। तं पडुच्च पडिंसखाये। -(१/५/५/१७१)। इस प्रकार वह ज्ञान को आत्म-स्वभाव या आत्म-स्वरूप बताता है। जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान चेतना के ज्ञान, अनुभूति और संकल्प ऐसे तीन लक्षण बताता है वही आचारांगसूत्र आत्मा

के ज्ञान लक्षण पर बल देता है। स्थूल-दृष्टि से देखने पर यही दोनों में अन्तर प्रतीत होता है, किन्तु अनुभूति (वेदना) और संकल्प यह दोनों लक्षण शरीराश्रित बद्धात्मा के हैं अतः शुद्ध आत्मा का लक्षण तो मात्र ज्ञान है, पुनः अनुभूति और संकल्प ज्ञान प्रसूत है, अतः ज्ञान ही प्रथम लक्षण सिद्ध होता है। वैसे आचारांगसूत्र में और परवर्ती जैन ग्रन्थों में भी मनोविज्ञान सम्मत इन तीनों लक्षणों को देखा जा सकता है, फिर भी आचारांगसूत्र में आत्मा के विज्ञाता स्वरूप पर बल देने का एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक कारण है। क्योंकि आत्मा की अनुभूत्यात्मक एवं संकल्पात्मक अवस्था में पूर्णतः समभाव या समाधि की उपलब्धि संभव नहीं है, जब तक सुख दुःखात्मक वेदना की अनुभूति है या संकल्प-विकल्प चक्र चल रहा है आत्मा परभाव में स्थित होती है, चित्त में समाधि नहीं रहती है। आत्मा का स्वरूप या स्वभाव धर्म तो समता है जो केवल उसके ज्ञाता-द्रष्टा रूप में स्वरूपतः उपलब्ध होती है। वेदक और कर्ता रूप में वह स्वरूप उपलब्ध नहीं है, प्रयास साध्य है।

### मन का ज्ञान साधना का प्रथम चरण

निर्ग्रन्थ साधक के लक्षणों का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहता है- जे मण परिजाणति से णिग्गंथे जे य मण अपावए- २/१५/७७८ जो मन को जानता है और उसे अपवित्र नहीं होने देता है वही निर्ग्रन्थ है। इस प्रकार निर्ग्रन्थ श्रमण की साधना का प्रथम चरण है- मन को जानना और दूसरा चरण है- मन को अपवित्र नहीं होने देना। मन की शुद्धि भी स्वयं मनोवृत्तियों के ज्ञान पर निर्भर है। मन को जानने का मतलब है अन्दर झाँककर अपनी मनोवृत्तियों को पहचानना, मन की ग्रंथियों को खोजना, यही साधना का प्रथम चरण है। बिमारी का ज्ञान या बिमारी का निदान, बिमारी से छुटकारा पाने के लिए आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण-विधि में भी मनोग्रंथियों से मुक्त होने के लिए उनका जानना आवश्यक माना गया है। अन्तर्दर्शन जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण विधि मानी गयी है, वहीं उसे निर्ग्रन्थ साधना का प्रथम चरण बताया गया है। वस्तुतः आचारांगसूत्र की साधना अप्रमत्तता की साधना है और यह अप्रमत्तता अपनी चित्तवृत्तियों के प्रति सतत् जागरूकता है। चित्तवृत्तियों का दर्शन ही सम्यक्-दर्शन है, स्व-स्वभाव में रमण है। आधुनिक मनोविज्ञान जिस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिये मनोग्रन्थियों के तोड़ने की बात कहता है उसी प्रकार जैन दर्शन भी आत्मशुद्धि के लिये ग्रन्थि-भेद की बात कहता है। ग्रन्थि, ग्रन्थि-भेद और निर्ग्रन्थ शब्द के प्रयोग स्वयं आचारांगसूत्र की मनोवैज्ञानिक

दृष्टि के परिचायक हैं। वस्तुतः ग्रन्थियों से मुक्ति ही साधना का लक्ष्य है (गंधेहिं विवत्तेहिं आयुकालस्सपारए १/८/८/२७) जो ग्रन्थियों से रहित है वही निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ होने का अर्थ है राग-द्वेष या आसक्ति रूपी गाँठ का खुल जाना। जीवन में अन्दर और बाहर से एकमय हो जाना, मुखौटा की जिन्दगी से दूर हो जाना। क्योंकि ग्रन्थ का निर्माण होता है— रागभाव से, आसक्ति से। इस प्रकार आचारांगसूत्र एक मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रस्तुत करता है। आचारांगसूत्र के अनुसार बंधन और मुक्ति के तत्त्व बाहरी नहीं, आंतरिक हैं। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि बंधप्पमोक्खो तुज्झज्झत्थेव - १/५/२/१५५ बंधन और मोक्ष हमारे अध्यक्षीय किवां मनोवृत्तियों पर निर्भर हैं। मानसिक बंधन ही वास्तविक बंधन है। वे गाँठे जिन्होंने हमें बाँध रखा है वे हमारे मन की ही गाँठे हैं। वह स्पष्ट उद्घोषणा करता है कि कामेसु गिद्धा णिचयंकरेति - १/३/२/११३ कामभोगों के प्रति आसक्ति से ही बंधन की सृष्टि होती है। वह गाँठ जो हमें बाँधती है— आसक्ति की गाँठ है, ममत्व की गाँठ है, अज्ञान की गाँठ है। इस आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हिंसा व्यक्ति की और संसार की सारी पीड़ाओं का मूल स्रोत है, यही जीवन में नरक की सृष्टि करती है, जीवन को नारकीय बनाती है। (एस खलु गंधे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए - १/१/२/१५) आचारांगसूत्र के अनुसार विषय भोग के प्रति जो आतुरता है वही समस्त पीड़ाओं की जननी है। आतुरा परितावेति १/१/२/११) यहाँ हमें स्पष्ट रूप से विश्व की समस्त पीड़ाओं का एक मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्राप्त होता है। सूत्रकार स्पष्ट रूप से कहता है कि आसं च छंदं च विगिंच धीरे। तुमं चेव तं सल्लमाहड्डु। (१/२/४/८३) हे धीर पुरुष! विषय भोगों की आकांक्षा और तत्सम्बन्धी संकल्प-विकल्पों का परित्याग करो। स्वयं इस कांटे को अपने अन्तःकरण में रखकर दुःखी हो रहे हो। इस प्रकार आचारांगसूत्र बंधन, पीड़ा या दुःख के प्रति एक आत्मनिष्ठ एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। वह कहता है जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा, ते आसवा (१/४/२/१३४) अर्थात् बाहर में जो बंधन के निमित्त हैं वे कभी मुक्ति के निमित्त बन जाते हैं और जो मुक्ति के निमित्त हैं वे ही कभी बंधन के निमित्त बन जाते हैं। इसका आशय यही है कि बंधन और मुक्ति का सारा खेल साधक के अन्तरंग भावों पर आधारित है। यदि इसी प्रश्न पर हम आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो यह पाते हैं कि आकांक्षाओं का उच्च स्तर ही मन में कुण्डलों को उत्पन्न करता है और उन कुण्डलों के कारण मनोग्रन्थियों की रचना होती है जो अन्ततोगत्वा व्यक्ति में मनोविकृतियाँ उत्पन्न करती हैं।

## मन के पवित्रीकरण की मनोवैज्ञानिक विधि

पुनः मन को अपवित्र नहीं होने देने के लिए भी मन की वृत्तियों को देखना जरूरी है। क्योंकि यह मन को दुष्प्रवृत्तियों से बचाने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्ता की दो भूमिकाओं का निर्वाह नहीं कर सकता है। इसलिये कहा गया अप्यमत्तो कामेहिं उवरतो पावकम्मेहिं (१/२/१/१०९), सव्वतो पमत्तस्य भयं सव्वतो अप्यमत्तस्स णत्थि भयं (१/३/१/१२९), जो अप्रमत्त है वह कामनाओं से और पाप कर्मों से उपरत है, प्रमत्त को ही विषय-विकार में फँसने का भय है, अप्रमत्त को नहीं। अप्रमत्तता या सम्यक् द्रष्टा की अवस्था में पापकर्म बन्ध नहीं होता है, इसीलिए कहा गया- सम्मत्तदंसी न करेति पावं (१/३/२/११२) सम्यक्-द्रष्टा कोई पाप नहीं करता है। आचारांगसूत्र में मन को जानने अथवा अप्रमत्त चेतना की जो बात बार-बार कही गई है वह मन को वासनामुक्त करने का या मन के पवित्रीकरण का एक ऐसा उपाय है जिसकी प्रामाणिकता आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है। जब साधक अप्रमत्त चेतना से मुक्त होकर द्रष्टाभाव में स्थित होता है तब सारी वासनाएँ और सारे आवेग स्वतः शिथिल हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र यह कहकर भी 'आयंक दंसी न करेह पावं' पुनः एक मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया गया है जो अपनी पीड़ा या वेदना को देख लेता है, समझ लेता है। उसके लिये भी पापकर्म में फँसना एक मनोवैज्ञानिक असंभावना बन जाती है। जब व्यक्ति पापकर्म या हिंसा जनित पीड़ा का स्वयं आत्मनिष्ठ रूप में अनुभव करता है, हिंसा करना उसके लिए असम्भव हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार पाप से विरत होने के लिए मनोवैज्ञानिक सत्यों पर अधिष्ठित पद्धति प्रस्तुत करता है।

## धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

आचारांगसूत्र में धर्म क्या है? इसके दो निर्देश हमें उपलब्ध होते हैं? प्रथम श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्यायन के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ में अहिंसा को शाश्वत, नित्य और शुद्ध धर्म कहा गया है (सव्वे पाणा सव्वेभूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा- एस धम्मे सुद्धे, नितिए, सासए, समेच्च लोयं खेतण्णेहिं पवेदिति (१/४/१/१३२) और प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्याय के तीसरे उद्देशक में समता को धर्म कहा गया है (समियाए धम्मे आरिएहिं पवेदिति -१/८/३)। वस्तुतः धर्म की ये दो व्याख्यायें दो दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अहिंसा व्यावहारिक व समाज सापेक्ष धर्म है, जबकि वैयक्तिक एवं आंतरिक दृष्टि से

समभाव ही धर्म है। सैद्धान्तिक दृष्टि से अहिंसा और समभाव में अभेद है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वे अलग हैं। समभाव की बाह्य अभिव्यक्ति अहिंसा बन जाती है और यही अहिंसा जब स्वकेन्द्रित (स्व-दया) होती है तो समभाव बन जाती है।

**समत्व या समता धर्म क्यों?**

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि समता को धर्म क्यों माना जाये? जैन परम्परा में धर्म की व्याख्या वत्थु सहावो धम्मो के रूप में की गयी है, अतः समता तभी धर्म माना जा सकता है जबकि वह प्राणीय स्वभाव सिद्ध हो। आइये जरा इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें।

जैन दर्शन में मानव प्रकृति एवं प्राणीय प्रकृति का गहन विश्लेषण किया गया है। महावीर से जब यह पूछा गया कि आत्मा क्या है? और आत्मा का साध्य या आदर्श क्या है? तब महावीर ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था वह आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है। महावीर ने कहा था, आत्मा समत्वरूप है और समत्व ही आत्मा का साध्य है। (आयाए समाइए आया समाइस्स अट्ठे। भगवतीसूत्र।) वस्तुतः जहाँ-जहाँ भी जीवन है, चेतना है, वहाँ-वहाँ समत्व संस्थापन के अनवरत प्रयास चल रहे हैं। परिवेशजन्य विषमताओं को दूर कर समत्व के लिए प्रयासशील बने रहना यह जीवन या चेतना का मूल स्वभाव है। शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर समत्व का संस्थापन ही जीवन का लक्षण है। डॉ. राधाकृष्णन् के शब्दों में जीवन गतिशील संतुलन है। (जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ. २५९)। स्पेन्सर के अनुसार परिवेश में निहित तथ्य जीवन के संतुलन को भंग करते रहते हैं और जीवन अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुनः इस संतुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह संतुलन बनाने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है। (फर्स्ट प्रिन्सपल-स्पेन्सर, पृ. ६६)। विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के लिये संघर्ष कहा है, किन्तु मेरी अपनी दृष्टि में इसे अस्तित्व के लिए संघर्ष कहने की अपेक्षा समत्व के संस्थापन का प्रयास कहना ही अधिक उचित है। समत्व के संस्थापन एवं समायोजन की प्रक्रिया ही जीवन का महत्त्वपूर्ण लक्षण है। आचारांगसूत्र के अनुसार चेतना न तो जन्म है और न मृत्यु। चेतना इन दोनों से ऊपर है, जन्म और मृत्यु तो एक शरीर में उसके आगमन और ले जाने की सूचनाएँ भर हैं, वह इनसे अप्रभावित है। सच्चा चेतन जीवन तो अप्रमत्त दशा, समभाव में अवस्थिति है। आचारांगसूत्र में ही इसे स्वरूप में रमण कहा गया है।



हमारी साधना का लक्ष्य क्या है? यह प्रश्न मनोविज्ञान और नैतिक दर्शन दोनों की ही दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जैन दर्शन में इसे मोक्ष कहकर अभिव्याप्त किया गया है, किन्तु यदि हम जैन दर्शन के मोक्ष का विश्लेषण करें तो मोक्ष वीतरागता की अवस्था है और वीतरागता चेतना के पूर्ण समत्व की अवस्था है। इस प्रकार जैन दर्शन में समता या समत्व को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना गया है। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरती है। संघर्ष नहीं, अपितु समत्व ही सामाजिक जीवन का आदर्श हो सकता है क्योंकि यही हमारा स्वभाव है और जो स्व-स्वभाव है वही आदर्श है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है। स्पेन्सर, डार्विन एवं मार्क्स प्रभृति कुछ पाश्चात्य विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं, लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वभाव वह होता है, जिसका निराकरण नहीं किया जाता। जैन दर्शन के अनुसार नित्य और निरपवाद वस्तुधर्म ही स्वभाव है। यदि हम इस कसौटी पर कसें, तो संघर्ष एवं तनाव जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य का स्वभाव संघर्ष है, मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है। संघर्ष ही जीवन का नियम है। किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। यदि संघर्ष ही जीवन का नियम है तो फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है? संघर्ष मिटाने के लिये होता है, जो मिटाने की, निराकरण करने की वस्तु है, क्या उसे स्वभाव कहा जा सकता है? संघर्ष यदि मानव इतिहास का एक तथ्य है तो वह उसके दोषों का इतिहास है, उसके स्वभाव का इतिहास नहीं। मानव स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की साधना है क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिये हो रहे हैं।

संघर्ष अथवा समत्व से विचलन जीवन में पाये जाते हैं लेकिन वे जीवन के स्वभाव नहीं, क्योंकि जीवन की प्रक्रिया उनके समाप्त करने की दिशा में ही प्रयासशील है। समता की उपलब्धि ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का साध्य है। कामना, आसक्ति, राग-द्वेष, वितर्क आदि सभी मानसिक असंतुलन एवं तनाव की अवस्था को अभिव्यक्ति करते हैं, अतः आचारांगसूत्र में इन्हें अशुभ माना गया है। इसके विपरीत वासनाशून्य, निष्काम, अनासक्त और वीतराग अवस्था ही जीवन का आदर्श है, क्योंकि वह समत्व की स्थिति है। राग और द्वेष की वृत्तियाँ हमारे चेतन समत्व को भंग करती हैं। अतः उनसे ऊपर उठकर वीतरागता की अवस्था को प्राप्त कर लेना ही सच्चे समत्व की अवस्था है। वस्तुतः समत्व

की उपलब्धि को आचारांगसूत्र और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से मानव जीवन का साध्य माना जा सकता है। अतः जो जीवन का साध्य एवं स्वभाव हो वही धर्म कहा जा सकता है। आचारांगसूत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि जो समता को जानता है वही मुनि धर्म को जानता है।

### आचारांगसूत्र में अहिंसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

आचारांगसूत्र में अहिंसा के सिद्धांत को मनोवैज्ञानिक आधार पर ही स्थापित करने का प्रयास किया गया है। अहिंसा को आर्हत प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है।

सर्वप्रथम हमें यह विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जाये। सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है, वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है (सव्वे पाणा पिआउया सुहसाता दुक्खपडिकूला, १/२/३/७८) अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा को स्थापित किया है। यद्यपि मैकेन्ज़ी ने अहिंसा का आधार 'भय' को माना है, किन्तु उसकी यह धारणा गलत है, क्योंकि भय के सिद्धांत को यदि अहिंसा का आधार बनाया जायेगा तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा निर्बल की हिंसा से नहीं। भय को आधार मानने पर तो जिससे भय होगा उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी। जबकि आचारांग तो प्राणियों के प्रति ही नहीं अपितु वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात करता है, अतः आचारांगसूत्र में अहिंसा को भय के आधार पर नहीं, अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्त्यों के आधार पर अधिष्ठित किया गया है। पुनः अहिंसा के इन मनोवैज्ञानिक सत्त्यों के साथ तुल्यता बोध को बौद्धिक सिद्धांत पर खड़ा किया गया। वहाँ कहा गया है कि जे अज्झत्थं जाणति से बहिया जाणति। एयं तुल्लमण्णेसिं (१/१/७/५६)। जो अपनी पीड़ा का जान पाता है वही तुल्यता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता। यह प्राणीय पीड़ा का तुल्यता बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा का आधार है। सूत्रकार तो अहिंसा के इस सिद्धांत को अधिक गहराई तक अधिष्ठित करने के प्रयास में यहाँ तक कह देता है कि जिसे तू मारना चाहता है, पीड़ा देना चाहता है, सताना चाहता है वह तू ही है (आचारांगसूत्र १/५/५)। आगे वह यहाँ तक कह देता है कि जो लोक का अपलाप करता है वह स्वयं अपनी

आत्मा का अपलाप करता है (आचारांगसूत्र १/१/२) यहाँ अहिंसा को अधिक गहन मनोवैज्ञानिक आधार देने के प्रयास में वह जैन दर्शन के आत्मा सम्बन्धी अनेकात्मवाद के स्थान पर एकात्मवाद की बात करता प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य को देख रहा है कि केवल आत्मभाव में हिंसा असम्भव हो सकती है। जब तक दूसरे के प्रति पर-बुद्धि है, परायेपन का भाव है तब तक हिंसा की संभावनाएँ उपस्थित हैं। व्यक्ति के लिये हिंसा तभी असंभव हो सकती है जब उसमें प्राणी जगत् के प्रति अपनत्व या आत्मीय दृष्टि जागृत हो। अहिंसा की स्थापना के लिए जो मनोवैज्ञानिक भूमिका अपेक्षित थी उसे प्रस्तुत करने में सूत्रकार ने आत्मा की वैयक्तिकता की धारणा का भी अतिक्रमण कर उसे अभेद की धारणा पर स्थापित करने का प्रयास किया है। हिंसा के निराकरण के प्रयास में भी सूत्रकार ने एक ओर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया है कि हिंसा से हिंसा या घृणा से घृणा का निराकरण संभव नहीं है। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है शस्त्रों के आधार पर या भय और हिंसा के आधार पर शान्ति की स्थापना संभव नहीं है, क्योंकि एक शस्त्र का प्रतिकार दूसरे शस्त्र के द्वारा संभव है। शान्ति की स्थापना तो निर्वैरता या प्रेम द्वारा ही संभव है क्योंकि अशस्त्र से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। (आचारांगसूत्र १/३/३)

### आचारांगसूत्र में मानवीय व्यवहार का प्रेरक तत्त्व

सामान्यतया राग और द्वेष यह दो कर्मबीज माने गये हैं, किन्तु इनमें भी राग ही प्रमुख तथ्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि आसक्ति ही कर्म का प्रेरक तथ्य है (१/३/२) आचारांगसूत्र और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि मानवीय व्यवहार का मूलभूत प्रेरक तत्त्व वासना या काम है। फिर भी आचारांगसूत्र और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों में वासना के मूलभूत प्रकार कितने हैं? इस सम्बन्ध में कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में जहाँ फ्रायड काम या राग को ही एकमात्र मूल प्रेरक मानते हैं वहीं दूसरे विचारकों ने मूलभूत प्रेरकों की संख्या सौ तक मान ली है फिर भी पाश्चात्य मनोविज्ञान में सामान्यतया १४ निम्न मूल प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं— १. पलायनवृत्ति (भय) २. घृणा, ३. जिज्ञासा, ४. आक्रामकता (क्रोध), ५. आत्म गौरव (मान); ६. आत्महीनता, ७. मातृत्व की संप्रेरणा ८. समूह भावना, ९. संग्रहवृत्ति, १०. रचनात्मकता, ११. भोजनान्वेषण, १२. काम, १३. शरणागति और १४. हास्य (आमोद)। आचारांगसूत्र में भय, द्वेष, जिज्ञासा, क्रोध, मान, माया, लोभ, आत्मीयता, हास्य आदि का यत्र-तत्र बिखरा हुआ उल्लेख उपलब्ध

है। इसके अतिरिक्त हिंसा के कारणों को निर्देश करते हुए कुछ कर्म प्रेरकों का उल्लेख है यथा जीवन जीने के लिए, प्रशंसा और मान-सम्मान पाने के लिये, जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए, शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की निवृत्ति हेतु प्राणी हिंसा करता है (१/१/४/३७)।

### आचारांगसूत्र का सुखवादी दृष्टिकोण

आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह बताता है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिये होता है कि उसका जीवन-शक्ति को बनाये रखने की दृष्टि से दैहिक मूल्य है और दुःख इसलिये प्रतिकूल होता है कि वह जीवन-शक्ति का ह्रास करता है। यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक है। आचारांगसूत्र भी प्राणीय व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करता है। (आचारांगसूत्र १/२/३/८१)। अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण यह इन्द्रिय स्वभाव है। अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति, प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति यह एक नैसर्गिक तथ्य है, क्योंकि सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल होता है, इसलिये प्राणी सुख को प्राप्त करना चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। वस्तुतः वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दुःख का रूप ले लेती है जिससे वासना की पूर्ति हो वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासनापूर्ति में बाधा उत्पन्न हो वह दुःख। इस प्रकार वासना से ही सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का नियमन करने लगते हैं।

### दमन का प्रत्यय और आचारांगसूत्र

सामान्यतया आचारांगसूत्र में इंद्रिय-संयम पर काफी बल दिया गया है वह तो शरीर को सुखा देने की बात भी कहता है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या पूर्ण इंद्रिय-निरोध संभव है? आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से इंद्रिय व्यापारों का निरोध एक अस्वाभाविक तथ्य है। आँख के समक्ष जब उसका विषय प्रस्तुत होता है तो वह उसके सौन्दर्य दर्शन से वंचित नहीं रह सकती। भोजन करते समय स्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह विचारणीय प्रश्न है कि इंद्रिय-दमन के सम्बन्ध में क्या आचारांगसूत्र का दृष्टिकोण आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहमत है? आचारांगसूत्र इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यही कहता है कि इंद्रिय व्यापारों के निरोध का अर्थ इंद्रियों को अपने विषयों से विमुख करना नहीं, वरन् विषय सेवन के मूल में जो निहित राग-द्वेष है उसे समाप्त करना है। इस सम्बन्ध में उसमें जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया

गया है वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उसमें कहा गया है कि यह शक्य नहीं है कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जायें, अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि आँखों के सामने आने वाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाये; अतः रूप का नहीं; अपितु रूप के प्रति जाग्रत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं कि नासिका के समक्ष आया हुआ सुगन्ध सूँघने में न आये, अतः गन्ध का नहीं, किन्तु गन्ध के प्रति जगने वाली राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आये, अतः रस का नहीं; किन्तु रस के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि शरीर से सम्पर्क होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो, अतः स्पर्श का नहीं, किन्तु स्पर्श के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। (आचारांगसूत्र २/३/१५/१०१-१०५)। उत्तराध्ययनसूत्र में भी इसकी पुष्टि की गई है। उसमें कहा गया है कि इन्द्रियों के मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए राग-द्वेष का कारण नहीं होते हैं। ये विषय, रागी पुरुषों के लिए ही दुःख (बंधन) के कारण होते हैं, वीतरागियों के बंधन या दुःख के कारण नहीं हो सकते हैं। काम भोग न किसी को बन्धन में डालते हैं और न किसी को मुक्त ही कर सकते हैं, किन्तु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है (उत्तराध्ययनसूत्र ३२/१००-१०१)।

जैन दर्शन के अनुसार साधना का सच्चा मार्ग औपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है। औपशमिक मार्ग का अर्थ वासनाओं का दमन है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग औपशमिक मार्ग है। आधुनिक मनोविज्ञान की भाषा में यह दमन का मार्ग है। जबकि क्षायिक मार्ग वासनाओं के निरसन का मार्ग है वह वासनाओं से ऊपर उठाता है। यह दमन नहीं, अपितु चित्त विशुद्धि है। दमन तो मानसिक गन्दगी को ढकना मात्र है और जैन दर्शन इस प्रकार के दमन को स्वीकार नहीं करता। जैन दार्शनिकों ने गुणस्थान प्रकरण में स्पष्ट रूप से यह बताया है कि वासनाओं को दबाकर आगे बढ़ने वाला साधक विकास की अग्रिम कक्षाओं से अनिवार्यतया पदच्युत हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन भी आधुनिक मनोविज्ञान के समान ही दमन को साधना का सच्चा मार्ग नहीं मानता है। उसके अनुसार साधना का सच्चा मार्ग वासनाओं का दमन नहीं, अपितु उनके ऊपर उठ जाना है। वह इन्द्रिय निग्रह नहीं, अपितु ऐन्द्रिय अनुभूतियों में भी मन की वीतरागता या समत्व की अवस्था है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन आचारांगसूत्र अपनी विवेचनाओं में मनोवैज्ञानिक आधारों पर खड़ा हुआ है। उत्तम आचार के जो नियम उपनियम बनाये गये हैं वे भी उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं। किन्तु यहाँ उन सबकी गहराईयों में जाना संभव नहीं है। किसी अन्य लेख में उनकी चर्चा करेंगे यद्यपि इस सम्पूर्ण विवेचना का यह अर्थ भी नहीं है कि आचारांगसूत्र में जो कुछ कहा गया है वह सभी मनोवैज्ञानिक सत्यों पर आधारित है। अहिंसा, समता और अनासक्ति के जो आदर्श उसमें प्रस्तुत किये हैं वे चाहे मनोवैज्ञानिक आधारों पर अधिष्ठित हों, किन्तु जीवन में उनकी पूर्ण उपलब्धता की संभावनाओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही प्रश्नचिह्न लगाया जा सकता है। ये आदर्श के रूप में चाहे कितने ही सुहावने हों किन्तु मानव जीवन में इनकी व्यावहारिक संभावना कितनी है यह विवाद का विषय बन सकता है।

\*

## क्या तत्त्वार्थसूत्र स्त्रीमुक्ति का निषेध करता है?

‘तत्त्वार्थसूत्र निकष’ नामक कृति में प्रो. रतनचन्द्रजी जैन का ‘तत्त्वार्थसूत्र में स्त्रीमुक्ति निषेध’ नामक आलेख प्रकाशित हुआ है। इस आलेख में उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के सातवें एवं नौवें अध्यायों के दो सूत्रों को आधार बनाकर अपने मत की पुष्टि करने का प्रयत्न किया है। यहाँ हम यह विचार करेंगे कि उनके ये तर्क कितने समीचीन हैं?

सर्वप्रथम उन्होंने तत्त्वार्थसूत्र के नौवें अध्याय के ‘बादरसम्पराय सर्वे, (९/१२)’ नामक सूत्र को आधार बनाकर यह कहा है कि नौवें गुणस्थान के संवेदभाग पर्यन्त श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार भी बाईस परीषह होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नाग्न्य परीषह भी नौवें गुणस्थान तक होता है। चूँकि स्त्री नग्न नहीं हो सकती है, इसलिए उसे नाग्न्य परीषह भी नहीं होता है। नाग्न्य परीषह के अभाव में स्त्री नौवें गुणस्थान तक भी नहीं पहुँच सकती है। अतः यह सूत्र स्त्री की मुक्ति का विरोधी है, क्योंकि मुक्ति तो १४वें गुणस्थान पर पहुँचने पर होती है।

इस सम्बन्ध में प्रो. रतनचन्द्र जैन का अर्थ घटन सम्यक् नहीं है। क्या उनके मंतव्य का आशय यह है कि परीषहों के सद्भाव में ही मुक्ति सम्भव है। दिगम्बर मान्यता के अनुसार केवली को भी क्षुधा परीषह एवं पीपासा परीषह नहीं होता है अतः वह भी मुक्त नहीं होगा। साथ ही यहाँ वे जिस नौवें गुणस्थान की कल्पना कर रहे हैं, वह भी उचित नहीं है, क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र और उसके स्वोपज्ञभाष्य के काल तक गुणस्थान की अवधारणा का विकास ही नहीं हुआ था, क्योंकि उन दोनों ग्रन्थों में कहीं भी ‘गुणस्थान’ शब्द नहीं मिलता है। श्वेताम्बर आगमों की देवद्विगणिकी वलभी की ई.सन् पाँचवीं शती की जो वाचना है, वहाँ तक भी अर्धमागधी आगमों में कहीं गुणस्थान शब्द का प्रयोग ही नहीं हुआ है। समवायांगसूत्र में जिन चौदह जीवस्थानों का उल्लेख है वह भी परवर्ती प्रक्षेप है। वस्तुतः गुणस्थान का उल्लेख ५वीं शती से पूर्व का नहीं है। यहाँ इस सम्बन्ध में अधिक विस्तार में जाना सम्भव नहीं है। गुणस्थानों की अवधारणा का विकास

परवर्ती काल की घटना है इस सम्बन्ध में मेरी पुस्तक 'गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण' में विस्तृत चर्चा की गई है, पाठक उसे वहाँ देखें।

यहाँ 'बादरसम्पराय सर्वे' का अर्थ इतना ही है कि जब तक स्थूल रूप से कषायों का उदय रहा हुआ है तब तक सभी परीषहों की सम्भावना है। कषायों के क्षय या उपशम का शरीर रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है। कषाय मनोवृत्ति है और मनोवृत्ति पर विजय पाने में शरीर बाधक नहीं है। जब पुरुष शरीर में पुरुषवेद आदि नोकषाय समाप्त हो सकते हैं, तो फिर स्त्री शरीर में स्त्रीवेद आदि नोकषाय क्यों समाप्त नहीं हो सकते हैं?

तत्त्वार्थसूत्र के ही नौवें अध्याय के ग्यारहवें सूत्र में 'एकादश जिने' नामक सूत्र में जिन के भी ग्यारह परीषह माने गये हैं। यह मूल सूत्र सर्वार्थसिद्धि के पाठ में भी है। परीषहों की उपस्थिति या अनुपस्थिति कहीं भी मुक्ति में साधक या बाधक नहीं है। पुनः वे परीषह शब्द का जो अर्थघटन कर रहे हैं वह भी सम्यक् नहीं है, क्योंकि परीषह वह है जो साधना के क्षेत्र में उपस्थित हो जाता है, परीषह जीवनचर्या में सहज उपस्थित होने वाली घटना है, उसका गृहस्थ और मुनि से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। परीषह गृहस्थ को भी हो सकता है। क्षुधा, नाग्न्य आदि अनेक परीषह गरीब व्यक्ति भी सहन करते हैं। पशुओं को नाग्न्य परीषह नहीं होता इसलिए वह मुक्त नहीं होता तो क्या वे यह मानने को भी सहमत हैं कि दिगम्बर मुनि को भी कभी क्षुधा और पीपासा परीषह होते हैं और कभी नहीं भी होते हैं, क्योंकि दिगम्बर मुनि भी आहार करते हैं, जल पीते हैं, यदि आहार करनेवाले को भी क्षुधा और पीपासा परीषह संभव हो सकते हैं, तो वस्त्रधारी को भी वस्त्र की अल्पता अथवा कभी अनुपलब्धि होने पर नाग्न्य परीषह हो सकता है। यदि आहार करते हुए कैवल्य की प्राप्ति होती है, कैवल्य प्राप्ति में आहारक दशा बाधक नहीं है तो फिर वस्त्र कैवल्य में कैसे बाधक हो सकता है।

पुनः परीषह का कैवल्य से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, क्या जो आहार करेगा उसे कैवल्य की प्राप्ति नहीं होगी? ऐसी स्थिति में तो दिगम्बर मुनि को भी कैवल्य की प्राप्ति असंभव हो जायेगी और कैवल्य की प्राप्ति नहीं होगी तो फिर मुक्ति भी नहीं होगी। सत्य यह है कि मुक्ति का परीषह के सद्भाव या अभाव से कोई सीधा सम्बन्ध ही नहीं है।

मेरा, भाई रतनचन्द्रजी से पहला प्रश्न यह है कि आध्यात्मिक विकास या मुक्ति परीषह के सद्भाव में सम्भव है या परीषह के अभाव में संभव है? यदि वे प्रथम विकल्प मानें कि मुक्ति परीषह के सद्भाव में ही संभव है तो फिर यह



बात भी माननी होगी कि नग्नत्व परीषह और स्त्री परीषह के सद्भाव में ही मुक्ति होगी, किन्तु तत्त्वार्थसूत्र में नग्नत्व और स्त्री परीषह दोनों ही चारित्रमोह के कारण माने गये हैं और चारित्रमोह दसवें गुणस्थान तक ही होता है, अतः यह मानना होगा कि ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान में नाग्न्य और स्त्री परीषह का अभाव होता है और इनके अभाव में ही आत्मा मुक्त होती है। अतः यदि साध्वी को नाग्न्य परीषह नहीं होता है, तो उससे उसकी मुक्ति में कोई बाधा नहीं आएगी, क्योंकि सिद्धान्त यह कहता है कि चारित्र मोहजन्य नाग्न्य परीषह के अभाव में ही मुक्ति होगी, सद्भाव में नहीं। अतः तत्त्वार्थसूत्र का नौवें अध्याय का पन्द्रहवाँ सूत्र 'चारित्रमोहे नाग्न्यारतिस्त्रीनिषद्याक्रोशयाचनासत्कारपुस्काराः' यह स्पष्ट कर देता है कि नाग्न्य परीषह का अभाव स्त्रीमुक्ति का विरोधी नहीं है।

पुनः यदि वे दूसरा विकल्प सत्य मानते हैं कि परीषह के अभाव में ही मुक्ति होती है तो उनके अनुसार भी स्त्री में नाग्न्य परीषह का अभाव ही है, अतः वह मुक्त हो सकती है, फलतः तत्त्वार्थसूत्र किसी भी स्थिति में स्त्रीमुक्ति का विरोधी नहीं है, वस्तुतः परीषहों का सद्भाव या अभाव मुक्ति का हेतु ही नहीं है परीषहों के सद्भाव में भी मुक्ति संभव है और परीषहों के अभाव में भी मुक्ति संभव है। क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र के सर्वार्थसिद्धि मान्य दिगम्बर पाठ में और तत्त्वार्थभाष्य मान्य श्वेताम्बर पाठ में 'एकादशे जिने' पाठ तो समान ही है। जिसका स्पष्ट अर्थ तो यही है कि जिन में बाईस में से वेदनीयजन्य ग्यारह परीषह होते हैं और ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तरायजन्य ग्यारह परीषह नहीं होते हैं। वेदनीय आदि अघाती कर्मजन्य परीषहों का सद्भाव मुक्ति में बाधक नहीं है और मोहनीय आदि घाती कर्मजन्य परीषह का सद्भाव मुक्ति में बाधक है। तत्त्वार्थसूत्र में नाग्न्य और स्त्री परीषह का सम्बन्ध चारित्र मोह से है, वहाँ चारित्रमोह का सम्बन्ध वस्त्र की उपलब्धि या अनुपलब्धि से नहीं है, अपितु वस्त्र के प्रति आसक्ति से है, लज्जा के भाव से है, साथ ही स्त्री परीषह का मतलब स्त्री की उपस्थिति या अनुपस्थिति से नहीं है, अपितु कामवासना से है। यह सत्य है कि वस्त्रासक्ति एवं लोक-लज्जा का भाव वस्त्र की उपस्थिति में भी हो सकता है और उसके अभाव में भी हो सकता है। इसी प्रकार वस्त्रासक्ति या लज्जा भाव का त्याग भी वस्त्र की उपस्थिति और अनुपस्थिति दोनों में सम्भव है, जैसे आधुनिक काल में वस्त्र पहनने के जो तरीके हैं, वहाँ वस्त्र के होते हुए भी लज्जा का भाव नहीं होता है। अतः 'बादरसम्पराय सर्वे' सूत्र स्त्रीमुक्ति में बाधक नहीं है।

आदरणीय भाई रतनचन्द्रजी जैन ने तत्त्वार्थसूत्र में स्त्रीमुक्ति निषेध के सम्बन्ध में जो नौवें अध्याय का सूत्र प्रस्तुत किया है वह है— शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः। वे लिखते हैं कि 'तत्त्वार्थसूत्रकार' ने इस सूत्र के द्वारा भी स्त्रीमुक्ति का निषेध किया है, क्योंकि सूत्र में कहा गया है कि चार प्रकार के शुक्लध्यानों में से प्रथम दो ध्यान पृथक्त्व-वितर्क-विचार और एकत्व-वितर्क-अविचार, पूर्वविद् अर्थात् चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता श्रुतकेवली को होते हैं तथा दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों के अनुसार स्त्री को ११ अंगों का ज्ञान ही हो सकता है भले ही वह आर्थिका हो। इससे स्पष्ट है कि उसे चतुर्दश पूर्वों का ज्ञान नहीं हो सकता। फलस्वरूप उसको शुक्लध्यान के आदि के दो ध्यान भी नहीं हो सकते और उनके अभाव में उसे केवलज्ञान होना असंभव है।

उनके इस तर्क का आधार यह है कि 'चतुर्दश पूर्वों के ज्ञान के बिना शुक्लध्यान के प्रथम दो भेद भी संभव नहीं हैं, चूँकि स्त्री दृष्टिवाद का अध्ययन नहीं कर सकती अतः उसमें दृष्टिवाद के ज्ञान का अभाव है, इसलिए वह पूर्वविद् भी नहीं है। पूर्वों के ज्ञान का अभाव होने से उसमें शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण नहीं होंगे तथा शुक्लध्यान के अभाव में केवलज्ञान भी संभव नहीं है और केवलज्ञान के अभाव में उसकी मुक्ति भी संभव नहीं है।'

प्रथम तो यह कि उन्होंने इसमें तत्त्वार्थसूत्र का सन्दर्भ देते हुए जो सातवें अध्याय के ३९वें सूत्र का उल्लेख किया है वह भी तर्कसंगत नहीं है। भाष्यमान पाठ में सूत्र का प्रथम अंश 'शुक्ले चाद्ये' इतना ही मिलता है 'पूर्वविदः' यह भिन्न सूत्र है। भाष्यमान मूलपाठ के अनुसार शुक्लध्यान के प्रथम दो चरण पूर्ण होने पर उपशान्त कषाय अथवा क्षीण कषाय अवस्था की प्राप्ति होती है। यहाँ इस सूत्र में शुक्लध्यान के प्रथम दो चरणों का सम्बन्ध कषाय की उपशमता या क्षीणता से है न कि पूर्वविद होने से। यद्यपि अगला सूत्र पूर्वविद् है, किन्तु वह विकल्प रूप ही है कि शुक्लध्यान के दो चरण को प्राप्त व्यक्ति 'पूर्वविद्' हो भी सकता है अथवा नहीं भी। इस प्रकार इस सूत्र में शुक्लध्यान के लिए पूर्वविद् होना यह आवश्यक नहीं है, किन्तु उपशान्त कषाय या क्षीण कषाय होना आवश्यक है। अतः उनका यह तर्क की स्त्री पूर्वविद् नहीं होती है, इसलिए वह मुक्त नहीं हो सकती है, समुचित नहीं है। मुक्त होने के लिए मात्र क्षीण कषाय होना आवश्यक है न कि पूर्वों का ज्ञान।

पुनः स्त्री पूर्वविद् नहीं होती है, ऐसा एकांत निषेध भी श्वेताम्बर मान्य मूल आगमों में तो मुझे कहीं देखने को नहीं मिला। स्त्री के लिए दृष्टिवाद के अध्ययन का निषेध भी प्राचीन ग्रन्थों में नहीं है। यह निषेध भी परवर्ती आचार्यों के द्वारा ही कल्पित किया गया है। परवर्ती आचार्यों ने तो श्रावक को भी आगम अध्ययन का अधिकारी नहीं माना है, किन्तु प्राचीन स्थिति ऐसी नहीं रही है।

पुनः पूर्वविद् होना यह मुक्ति की अनिवार्य शर्त नहीं है। जैन आचार्यों ने यह माना है कि नौ पूर्वी तक का ज्ञाता भी मिथ्यादृष्टि और अभव्य हो सकता है। ऐसी स्थिति में 'पूर्वज्ञान' मुक्ति की अनिवार्य शर्त नहीं है। इस सम्बन्ध में 'तत्त्वार्थसूत्रनिकष' नामक इसी कृति में विद्वत्वर्य मुनि प्रमाणसागरजी महाराज द्वारा प्रस्तुत दिगम्बर परम्परा के बहुश्रुत विद्वान् एवं चारित्र चूड़ामणि आचार्यप्रवर विद्यासगरजी महाराज का निम्न मन्तव्य द्रष्टव्य है, वे लिखते हैं— 'आचार्य महाराज इस सूत्र का बहुत अच्छा अर्थ करते हैं— 'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' इस सूत्र में 'च' शब्द है, इसके दो अर्थ निकलते हैं— पहला अर्थ तो यह है कि शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः से शुक्ले चाद्ये अपूर्वविदः अर्थ भी निकालना चाहिए, क्योंकि निर्ग्रन्थ का जघन्य श्रुत जो है वह अष्टप्रवचन मातृका बताया गया है जो इस बात का परिचायक है कि कदाचित् जो पूर्वविद नहीं हैं, जैसे शिवभूति महाराज थे, वे अल्पज्ञानी होकर के भी भावश्रुत केवलत्व को प्राप्त कर सके थे।' - इस प्रकार भाई रतनचन्द्रजी के गुरुवर्य परमपूज्य आचार्यश्री के मन्तव्य से ही यह सिद्ध हो जाता है कि मुक्ति के लिए पूर्वविद् होना आवश्यक नहीं है। ऐसी स्थिति में यह सूत्र स्त्रीमुक्ति का निषेधक सिद्ध नहीं होता है।

अपने पक्ष के बचाव में प्रो. रतनचंद्रजी यह लिखते हैं कि 'यदि क्षपक श्रेणी का विशिष्ट परिणाम होने पर श्रुतज्ञानावरण के विशिष्ट क्षयोपशम से स्त्री को शाब्दिक ज्ञान हुए बिना द्वादशांग का अर्थबोध हो जाता है, तो पुरुष के लिए द्वादशांग के अध्ययन की अनिवार्यता असिद्ध हो जाती है।' - इसका उत्तर भी आचार्य श्री के पूर्वोक्त मन्तव्य से ही मिल जाता है। शब्दशः द्वादशांग का अध्ययन मुक्ति के लिए कभी आवश्यक नहीं रहा है। गजसुकमाल मुनि का कथानक दोनों परम्पराओं में मान्य है, उन्होंने जिस दिन पूर्वाह्न में दीक्षा ली उसी दिन अपराह्न में ध्यान-साधना हेतु वे श्मशान में चले गए और उसी रात्रि में कैवल्य को प्राप्त कर मुक्त हो गए। उन्होंने कब द्वादशांग का अध्ययन किया होगा? अतः श्वेताम्बर-दिगम्बर किसी भी परम्परा में यह मान्यता नहीं रही है कि मुक्ति के लिए द्वादशांग

का अध्ययन आवश्यक है। सभी कषायों एवं कर्मों का पूर्णतः क्षय ही मुक्ति की अनिवार्य शर्त है, जिसे उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में भी प्रतिपादित किया है।

पुनः अपने मत की पुष्टि हेतु भाई रतनचन्द्र जी लिखते हैं कि 'दूसरी बात यह है कि १४ पूर्वों के (शाब्दिक) अध्ययन के बिना उनका अर्थबोध उन्हीं ऋषियों को होता है जिन्हें प्रज्ञाश्रमणत्वऋद्धि (लब्धि) प्राप्त होती है। किन्तु दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आम्नायों के आगमों में स्त्रियों को सभी प्रकार की लब्धियों का निषेध किया गया है।' आदरणीय भाई रतनचन्द्रजी का यह कथन भी प्रमाण पुरस्सर नहीं है। प्रथमतः इस सम्बन्ध में उन्होंने किसी आगम या आगमतुल्य ग्रन्थ का प्रमाण ही नहीं दिया है। जहाँ तक मेरी जानकारी है श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों में एवं दिगम्बर परम्परा में मान्य आगमतुल्य ग्रन्थों, यथा कसायपाहुड, षड्खण्डागम, मूलाचार, भगवती-आराधना आदि में इस प्रकार का कोई उल्लेख नहीं है कि 'स्त्रियों को किसी भी प्रकार की लब्धि नहीं होती है।' तिलोयपण्णत्ति में मात्र यह कहा गया है कि 'श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के उत्कृष्ट क्षय या उपशम से प्रज्ञाश्रमणत्व ऋद्धि उत्पन्न होती है, जिससे वह चौदह पूर्वों के विषयों को, सर्वश्रुत और उनके अध्ययनों को जान लेता है।' (४/१०/१७-१८) किन्तु इससे यह तो सिद्ध नहीं होता है कि स्त्रियों को प्रज्ञाश्रमण ऋद्धि नहीं होती है। जिस श्वेताम्बर प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ का सन्दर्भ दिया है, वह आगम ग्रन्थ नहीं है, दूसरे वह पर्याप्त परवर्ती (१३-१४वीं शती) काल का ग्रन्थ है। पुनः उसमें भी भव्य स्त्रियों के लिए जिन लब्धियों का निषेध किया है, वे हैं- अरिहंत, चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव, संभ्रन्नश्रोतृत्व, चारणलब्धि, चौदहपूर्वोत्त्व, गणधर, पुलाक और आहारक। पुनः प्रथमतः श्वेताम्बर परम्परानुसार इन लब्धियों का भी एकान्त निषेध नहीं माना गया है। यहाँ अपवाद सम्भव माने गये हैं। अन्यथा उनके ही आगम ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में वर्णित मल्ली का तीर्थकर होना खण्डित हो जायेगा। अतः प्रवचनसारोद्धार में जो निषेध है, वह भी एकान्त निषेध नहीं है। साथ ही प्रवचनसारोद्धार की जिस गाथा (१५०६) का सन्दर्भ उन्होंने दिया है, वह गाथा भी स्त्रियों में न तो प्रज्ञाश्रमणत्व लब्धि का निषेध करती है और न वादलब्धि का (जिसका उल्लेख प्रो. रतनचन्द्रजी ने अपने इसी लेख के अग्रिम भाग में किया है।) प्रवचनसारोद्धार में जिन अट्टाईस लब्धियों का उल्लेख है, उनमें से स्त्रियों के सम्बन्ध में मात्र उपरोक्त दस लब्धियों का ही निषेध है, शेष का निषेध नहीं है। अतः प्रो. रतनचन्द्रजी किस आधार पर यह कहते हैं कि

स्त्री में प्रज्ञाश्रमणत्वलब्धि का निषेध है। प्रवचनसारोद्धार में यह स्पष्ट लिखा गया है कि भव्य स्त्रियों में दस लब्धियों को छोड़कर शेष लब्धियाँ होती हैं।

अपने लेख के अग्रिम भाग में उन्होंने एक आधार यह बताया है कि तत्त्वार्थसूत्र में अणुगार धर्म के अन्तर्गत केवल पुरुषोचितव्रतनियमों का ही कथन किया गया है। वहाँ स्त्रियों के उचित व्रत नियमों का भूल से भी नाम नहीं लिया गया है। इसके उत्तर में मेरा निवेदन यह है कि तत्त्वार्थसूत्र में कहीं भी श्राविका शब्द का उल्लेख नहीं मिलता है। क्या इस आधार पर वह यह मान लेंगे कि तत्त्वार्थसूत्र श्राविका के व्रतधारी होने का निषेध करता है? क्या उसमें अणुव्रत आदि भी सम्भव नहीं है? आगमों में अथवा मूलाचार आदि में साध्वियों के लिए केवल उन्हीं बातों का अलग से उल्लेख किया गया है जो साधुओं की अपेक्षा भिन्न थीं। समान बातों के बारे में कुछ प्रसंगों को छोड़कर भिक्षु और भिक्षुणी दोनों शब्दों का उल्लेख नहीं है, मात्र भिक्षु का ही उल्लेख है। उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र में श्रावक के व्रतों एवं अतिचारों का उल्लेख करते हुए कहीं भी स्त्री के लिए अलग से उल्लेख नहीं किया है। उसमें उल्लेखित स्वपत्नी-सन्तोष-व्रत केवल पुरुषों के लिए है, तो फिर स्त्री के लिए स्वपति-सन्तोष का उल्लेख क्यों नहीं है? फिर तो यह कहना पड़ेगा कि तत्त्वार्थसूत्र श्राविका के अणुव्रती होने का भी निषेध करता है। भाष्य, आचारचूला आदि व्याख्या-ग्रन्थ हैं, अतः इनमें स्पष्टता के लिए भिक्षुणी आदि शब्दों का उल्लेख हुआ है। भाष्य में तो सिद्धों के भेद में स्त्रीमुक्ति का भी उल्लेख है। चूँकि दिगम्बर विद्वान् जब भाष्य को स्वोपज्ञ ही नहीं मानते हैं तो फिर उसका आधार लेकर स्वमत की पुष्टि का प्रयत्न क्यों करते हैं। मूलाचार में तो स्पष्टरूप से मुनि एवं आर्यिका की मुक्ति (सिद्धि) का उल्लेख है। वहाँ दिगम्बर विद्वान् मुनि के लिए तो तद्भव मुक्ति स्वीकार करते हैं किन्तु जब आर्यिका का प्रश्न आता है तो वह भवान्तर में मुक्त होगी ऐसा अर्थ क्यों करते हैं? मूलाचार, षट्खण्डागम आदि दिगम्बर परम्परा को मान्य ग्रन्थों में जब स्त्रीमुक्ति फलित हो रही है, तो फिर वे स्त्रीमुक्ति का निषेध किस आधार पर करते हैं? यदि हम तत्त्वार्थसूत्र के मूल सूत्रों के मात्र शाब्दिक अर्थों को ग्रहण करें तो उसमें न तो स्त्री और पुरुष के भेद से मुक्ति की कोई चर्चा है और न ही स्त्री मुक्ति का निषेध ही है। 'तत्त्वार्थसूत्र में स्त्रीमुक्ति का निषेध' - ऐसा प्रतिपादन केवल स्वैर कल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है।

\*

## राजप्रश्नीयसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन

राजप्रश्नीयसूत्र अर्धमागधी आगम साहित्य के उपांग वर्ग के अन्तर्गत आता है। उपांगों में यह दूसरा उपांग है और इस अपेक्षा से इसे सूत्रकृतांगसूत्र का उपांग माना गया है, यद्यपि अंग आगमों से यह समीकरण युक्तिसंगत नहीं है, फिर भी सूत्रकृतांगसूत्र में जिन विभिन्न दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा है उनमें से पुनर्जन्म एवं परलोक को नकारनेवाले नास्तिकों की समीक्षा इसमें भी है। इस सूत्र के नाम को लेकर विद्वानों में क्वचित् मतभेद भी देखा जाता है। नन्दीसूत्र में इसका नाम 'रायपसेणिय' दिया गया है। आचार्य मलयगिरि ने भी इसे 'रायपसेणीअ' नाम से उल्लेखित किया है। इन दोनों में विशेष अन्तर नहीं है, अर्धमागधी प्राकृत और महाराष्ट्री प्राकृत की अपेक्षा से यह अन्तर है। आचार्य मलयगिरि इसका संस्कृत रूपान्तरण 'राजप्रश्नीयम्' करते हैं, किन्तु उनके द्वारा किया गया यह संस्कृत रूपान्तरण परवर्ती है। उनके पूर्व तत्त्वार्थवृत्ति में सिद्धसेनगणि ने इसे 'राजप्रसेनकीय' के रूप में उल्लेखित किया है जिसका अर्थ राजप्रसेन का संवाद- ऐसा हो सकता है। मुनिचंद्रसूरि ने तो इसका नाम राजप्रसेनजित् ही बताया है, जिससे यही सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ राजा प्रसेनजित के संवाद से सम्बन्धित है। इसके इन नामों में कौन-सा नाम सम्यक् है, यह एक विचारणीय विषय है क्योंकि इसमें अनेक विप्रतिपत्तियाँ हैं। मेरी दृष्टि में सिद्धसेनगणि की तत्त्वार्थवृत्ति का राजप्रसेनकीय अथवा मुनिचन्द्र द्वारा उल्लेखित राजा प्रसेनजित नाम अधिक उचित प्रतीत नहीं होता है। ज्ञातव्य है कि 'रायपसेणिय' इस प्राकृत शब्द का संस्कृत रूप राजप्रसेणकीय या राजप्रसेनजित चाहे सम्भव भी हो, फिर भी यह अधिक समीचीन नहीं है। क्योंकि इसमें जिस राजा के साथ संवाद हुआ है, उसे अर्धमागधी आगम-साहित्य में 'पएसी' और पालि त्रिपिटक में 'पायासी' कहा गया है। पएसी या पायासी को प्रसेनजित का संक्षिप्त रूप नहीं माना जा सकता है।

मैं राजप्रसेनजित नाम का पक्षधर हो सकता था, यदि दीघनिकाय के पायासीसुत्त में प्रसेनजित और कुमार श्रमण के मध्य संवाद होने का उल्लेख

होता। किन्तु सर्वत्र कुमार श्रमण और 'पएसी' या 'पायासी' के मध्य हुए संवाद का ही उल्लेख है, न कि कुमार श्रमण और प्रसेनजित के मध्य हुए किसी संवाद का। दूसरे प्राकृत 'पएसी' और पालि 'पायासी' नाम वस्तुतः प्रसेनजित का वाचक नहीं है। क्योंकि न तो प्राकृत के किसी भी नियम से प्रसेनजित का 'पएसी' रूप बनता है और न पालि में ही प्रसेनजित का 'पायासी' रूप बनता है। दूसरे दोनों परम्पराओं में प्रसेनजित को कोसल का राजा कहा गया है और उसकी राजधानी श्रावस्ती बताई गई है। जबकि 'पएसी' या 'पायासी' को अर्ध केकय देश का राजा कहा गया है और उसकी राजधानी सेयविया (श्वेताम्बिका) कही गई है। यद्यपि श्वेताम्बिका श्रावस्ती के समीप ही थी, अधिक दूर नहीं थी। दीघनिकाय के अनुसार 'पएसी' या 'पायासी' प्रसेनजित के अधीनस्थ एक राजा था। तभी उसे प्रसेनजित का भय बताकर यह कहा गया था कि जब प्रसेन यह सुनेगा कि 'पएसी नास्तिकवादी है, तो क्या कहेगा?

राजा प्रसेनजित एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व अवश्य हैं और उनका उल्लेख जैन एवं बौद्ध साहित्य में भी पाया जाता है। बौद्ध त्रिपिटक साहित्य का एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ दीघनिकाय है। उसके द्वितीय विभाग में पायासीसुत्त उपलब्ध होता है किन्तु उसका सम्बन्ध भी प्रसेनजित के प्रश्नोत्तर से नहीं है अपितु 'पायासी' से हुए प्रश्नोत्तर से है। उसमें भी पुनर्जन्म, परलोक की सिद्धि के लिए प्रायः वे ही तर्क दिए गए हैं, जो हमें राजप्रश्नीयसूत्र में मिलते हैं। अतः इसका संस्कृत 'राजप्रश्नीयसूत्रः' नाम ही समुचित माना जा सकता है, क्योंकि इसमें राजा के प्रश्नों का समाधान किया गया है।

### राजप्रश्नीयसूत्र का रचनाकाल

राजप्रश्नीयसूत्र के नामकरण के पश्चात् यदि हम इसके काल के सम्बन्ध में विचार करें तो राजप्रश्नीयसूत्र का सबसे प्रथम उल्लेख हमें 'नंदीसूत्र' में कालिक सूत्रों की जो सूची दी गई है, उसमें उपलब्ध होता है। नंदीसूत्र का रचनाकाल ईसा की पाँचवी शताब्दी प्रायः सुनिश्चित है, किन्तु इसे राजप्रश्नीयसूत्र के वर्तमान संस्करण की उत्तर-तिथि ही माना जा सकता है। राजप्रश्नीयसूत्र का अन्तिम भाग जो केशीकुमार श्रमण और पएसी के संवाद रूप है, का अस्तित्व उसके पूर्व भी होना चाहिए, क्योंकि राजप्रश्नीयसूत्र के इस अन्तिम भाग की समरूपता बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के दीघनिकाय के पायासीसुत्त से है और पायासीसुत्त ईस्वी पूर्व की रचना है, 'पएसी' या 'पायासी' का यह कथानक ई. पू. छठी शती का होगा, जिसे दोनों परम्पराओं ने अपने अनुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तित करके अपने ग्रन्थों

का अंग बना दिया है। क्योंकि पायासीसुत्त और राजप्रश्नीयसूत्र का वह अन्तिम भाग जो जीव के पुनर्जन्म, परलोक आदि को सिद्ध करता है, पर्याप्त रूप में समानता रखता है जो इस बात का प्रमाण है कि राजप्रश्नीयसूत्र का यह अन्तिम विभाग निश्चित ही ईस्वी पूर्व की रचना है। किन्तु दूसरी ओर राजप्रश्नीयसूत्र में विमान, प्रेक्षागृह, जिनमंदिर से सम्बन्धित जिन वास्तुकलाओं का चित्रण है तथा उनमें जिनपूजा-विधि के जो उल्लेख हैं वे इसे मौर्यकाल से परवर्ती तथा पूर्व गुप्तकाल का सिद्ध करते हैं। इसके साथ ही राजप्रश्नीयसूत्र में गायन, वादन और नृत्यकला के जो विकसित निर्देश उपलब्ध होते हैं, वे भी इस बात के प्रमाण हैं कि राजप्रश्नीयसूत्र के अग्रिम भाग का रचनाकाल ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शती के पूर्व का नहीं हो सकता है। एक ओर उसमें चिकने पालिश वाली जिस शिला का उल्लेख है, वह मौर्यकालीन पालिश का स्मरण कराती है, तो दूसरी ओर सूर्याभदेव के द्वारा जिनपूजा के पूर्व पुस्तक रत्न के खोलने और पढ़ने के जो निर्देश हैं, वे इस बात के प्रमाण हैं कि राजप्रश्नीयसूत्र के पूर्वभाग की रचना के समय जैन परम्परा में लिखित पुस्तकों का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। पुनः जैसा मैंने पूर्व में कहा है कि इसमें विमान और प्रेक्षागृह की जिस वास्तुकला का तथा नृत्य, संगीत और वाद्ययंत्रों का निर्देश मिलता है वह पूर्वगुप्तकाल से पहले का नहीं हो सकता है। इस प्रकार राजप्रश्नीयसूत्र के लेखन काल का निर्धारण इसे दो भागों में बाँट कर ही किया जा सकता है। इसका उक्त भाग जो 'पएसी' के प्रश्नोत्तर से सम्बन्धित है मौर्यकालीन है और पूर्वभाग जो सूर्याभदेव के कथानक से सम्बन्धित है वह ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी का होना चाहिए। फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि यह ग्रन्थ अपने वर्तमान स्वरूप में बलभी वाचना के पूर्व अस्तित्व में आ गया था।

### राजप्रश्नीयसूत्र की विषय-वस्तु

जहाँ तक राजप्रश्नीयसूत्र की विषय-वस्तु का प्रश्न है इसे मुख्यरूप से दो भागों में बाँटा जा सकता है। प्रथम भाग में सूर्याभदेव का प्रसंग है और दूसरे भाग में चित्त-सारथी की प्रेरणा से केशी कुमार श्रमण और राजा पएसी के मध्य हुए संवाद का उल्लेख है। पुनः इसके पूर्व भाग में वास्तुकला, संगीत, नाटक, वाद्ययंत्र आदि के जो विवरण उपलब्ध होते हैं, वे निश्चित ही इसके सांस्कृतिक महत्त्व को स्पष्ट करते हैं।

प्रस्तुत आलेख में हम इन तीनों ही पक्षों का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।



राजप्रश्नीयसूत्र में सर्वप्रथम आमलकल्या नगरी, उसके चैत्य, वहाँ के राजा 'सेय' एवं रानी 'धारिणी' का वर्णन है। फिर आमलकल्या नगरी में भगवान महावीर के पदार्पण और राजा के उनके दर्शनार्थ जाने का उल्लेख है। प्रस्तुत नगर आदि का वर्णन यहाँ इसलिए किया गया है कि सूर्याभदेव ने इसी नगर में आकर भगवान महावीर की वंदना की थी और गौतम आदि के समक्ष भगवान के जीवनवृत्त सम्बन्धी नाट्य का मंचन किया था।

तदनन्तर इस उपांग में सूर्याभदेव की महत् ऋद्धि का वर्णन किया गया है फिर देवों द्वारा आमलकल्या नगर को स्वच्छ करने आदि के उल्लेख हैं। इसके पश्चात् सूर्याभदेव के आदेश पर सुन्दर और विशालकाय विमान-निर्माण सम्बन्धी विवरण है। इसी क्रम में सूर्याभदेव द्वारा प्रस्तुत नाट्य संगीत आदि का विवरण है। इसके पश्चात् गौतम आदि की जिज्ञासा पर सूर्याभदेव की ऋद्धि और दिनचर्या का वर्णन है, जिसमें उनके अभिषेक आदि क्रियाओं का और सुधर्मा सभा, सिद्धायतन, सूर्याभदेव द्वारा सिद्धायतन में जिन-प्रतिमाओं आदि के अर्चन, पूजन, स्तुति आदि करने का भी निर्देश है। इसके पश्चात् सूर्याभदेव के पूर्व भव में 'पएसी' राजा होने और उनकी केशीकुमार श्रमण से पुनर्जन्म, परलोक आदि सम्बन्धों में जो विस्तृत चर्चा हुई है उसका वर्णन है। तत्पश्चात् पएसी राजा द्वारा श्रावक धर्म के ग्रहण, रानी सूर्यकांता द्वारा उन्हें विष देने, उनके द्वारा समाधिमरण स्वीकार कर मरणोपरान्त सूर्याभदेव के रूप में उत्पन्न होने की कथा है। अन्त में सूर्याभदेव द्वारा देवायु पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होने तथा संयम ग्रहण कर मुक्त होने का निर्देश है।

**राजप्रश्नीयसूत्र में वर्णित वादन, गायन और नृत्य कला**

**(अ) वाद्ययन्त्र**

राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव द्वारा जिस नाटक का मंचन किया गया था, उसमें अनेक वाद्य यन्त्रों का प्रयोग हुआ था। उन वाद्य यन्त्रों का निर्देश निम्नरूप में है-

शंख, शृंग, शृंगिका, खरमुही (काहाला), पेया (महतीकाला), पिरिपिरिका (कोलिक मुखावनद्ध मुखवाद्य), पणव (लघुपटह), पटह, भंभा (ढक्का), होरंभा (महाढक्का), भेरी (ढक्काकृति वाद्य), झल्लरी (चर्मविनद्धा विस्तीर्णवलयाकारा), दुन्दुभि (भेर्याकारा संकटमुखी देवातोद्य), मुरज (महाप्रमाण मदंल), मृदंग (लघु मर्दल), नंदीमृदंग (एकतः कंकरीणः अन्यत्र विस्तृतो

मुरजविशेषः), आलिंग (मुरज वाद्यविशेष) कुस्तुंब (चर्मावनद्धपुटो वाद्यविशेषः), गोमुखी, मर्दल (उभयतः सम), वीणा, विपंजी (त्रितंत्री वीणा), वल्लकी (सामान्यतो वीणा), महती, कच्छभी (भारती वीणा), चित्रवीणा, बद्धीस, सुघोषा, नंदिघोषा, भ्रामरी, षड्भ्रामरी, वरवादनी (सप्ततंत्री वीणा), तूणा, तुम्बवीणा (तुंबयुक्त वीणा), आमोट, झंझा, नकुल, मुकुन्द (मुरज वाद्यविशेष), हुडुक्का, विचिक्की, करटा, डिंडिम, किणित, कडंब, दर्दर, दर्दरिका (यस्य चतुर्भिश्चरणैखस्थानं भुवि स गोधाचर्मावनद्धो, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, १०१), कलशिका, महुया, तल, ताल, कांस्यताल, रिगिसिका (रिंगिसिगिका, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), लत्तिया, मगरिका, शिशुमारिका, वंश, वेणु, वाली (तूणविशेषः, स हि मुखे दत्त्वा वाद्यते), परिलि और बद्धक (पिरलीबद्धकौ तूणरूप वाद्यविशेषौ)।

### सूर्याभदेव द्वारा प्रस्तुत अभिनय का स्वरूप

सूर्याभदेव ने हर्षित चित्त से महावीर को वन्दन कर निवेदन किया कि हे भदन्त! मैं आपकी भक्तिवश गौतम आदि निर्ग्रन्थों के सम्मुख इस दिव्य देवऋद्धि, दिव्य देवद्युति एवं दिव्य देवप्रभाव तथा बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि को प्रस्तुत करना चाहता हूँ। सूर्याभदेव के इस निवेदन पर भगवान महावीर ने उनके कथन का न आदर ही किया और न उसकी अनुमोदना ही की, अपितु मौन रहे। तब सूर्याभदेव ने भगवान महावीर से दो तीन बार पुनः इसी प्रकार निवेदन किया और ऐसा कहकर उसने भगवान महावीर की प्रदक्षिणा की, उन्हें वन्दन-नमस्कार कर उत्तर-पूर्व दिशा में गया। वैक्रियसमुद्घात करके बहुस्मरणीय भूमिभाग की रचना की, जो समतल था एवं मणियों से सुशोभित था। उस सम तथा रमणीय भूमि के मध्यभाग में एक प्रेक्षागृह (नाट्यशाला) की रचना की, जो सैकड़ों स्तम्भों पर सन्निविष्ट था। उस प्रेक्षागृह के अन्दर रमणीय भूभाग, चन्दोवा, रंगमंच तथा मणिपीठिका की रचना की और फिर उसने उस मणिपीठिका के ऊपर पादपीठ, छत्र आदि से युक्त सिंहासन की रचना की जिसका ऊर्ध्व भाग मुक्तादामों से सुशोभित हो रहा था। तब सूर्याभदेव ने भगवान महावीर को प्रणाम किया और कहा हे भगवन्! मुझे आज्ञा दीजिए ऐसा कहकर तीर्थकर की ओर मुख कर उस श्रेष्ठ सिंहासन पर बैठ गया। नाट्यविधि प्रारम्भ करने के लिए उसने श्रेष्ठ आभूषणों से युक्त अपनी दाहिनी भुजा को लम्बवत फैलाया, जिससे एक सौ आठ देवकुमार निकले। वे देवकुमार युवोचित गुणों से युक्त नृत्य के लिए तत्पर तथा स्वर्णिम वस्त्रों से सुसज्जित थे। तदनन्तर सूर्याभदेव ने विभिन्न आभूषणों से युक्त बायीं भुजा को लम्बवत फैलाया। उस भुजा से एक सौ आठ देवकुमारियाँ

निकलीं, जो अत्यन्त रूपवती, स्वर्णिम वस्त्रों से सुसज्जित तथा नृत्य के लिए तत्पर थीं। तत्पश्चात् सूर्याभदेव ने एक सौ आठ शंखों और एक सौ आठ शंखवादकों की, एक सौ आठ श्रृंगों-रणसिंगों और उनके एक सौ आठ वादकों की, एक सौ आठ शंखिकाओं और उनके एक सौ आठ वादकों आदि उनसठ वाद्यों और उनके वादकों की विकुर्वणा की। इसके बाद सूर्याभदेव ने उन देवकुमारों और देवकुमारियों को बुलाया। वे हर्षित हो उसके पास आये और वन्दनकर विनयपूर्वक निवेदन किया- हे देवानुप्रिय! हमें जो करना है उसकी आज्ञा दीजिए। तब सूर्याभदेव ने उनसे कहा- हे देवानुप्रियो! तुम सब भगवान महावीर के पास जाओ, उनकी प्रदक्षिणा करो, उन्हें वन्दन-नमस्कार करो और फिर गौतमादि निर्ग्रन्थों के समक्ष बत्तीस प्रकार की दिव्य नाट्यविधि प्रदर्शित करो तथा नाट्यविधि प्रदर्शन कर शीघ्र ही मेरी आज्ञा मुझे वापस करो। तदनन्तर सभी देवकुमार एवं देवकुमारियों ने सूर्याभदेव की आज्ञा को स्वीकार किया और भगवान महावीर के पास गये। भगवान महावीर को प्रणाम कर गौतमादि निर्ग्रन्थों के पास आये। वे सभी देवकुमार और देवकुमारियाँ पंक्तिबद्ध हो एक साथ मिले, मिलकर सभी एक साथ झुके, फिर एक साथ ही अपने मस्तक को ऊपर कर सीधे खड़े हो गये। इसी क्रम में तीन बार झुककर सीधे खड़े हुए और फिर एक साथ अलग-अलग फैल गये। यथायोग्य उपकरणों, वाद्यों को लेकर एक साथ बजाने लगे, गाने लगे और नृत्य करने लगे। उन्होंने गाने को पहले मन्द स्वर से फिर अपेक्षाकृत उच्च स्वर से और फिर उच्चतर स्वर से गाया। इस तरह उनका वह त्रिस्थान गान त्रिसमय रेचक से रचित था। गुंजारव से युक्त था। रागयुक्त था। त्रिस्थानकरण से शुद्ध था। गूँजती वंशी और वीणा के सस्वरों से मिला हुआ था। करतल, ताल, लय आदि से मिला हुआ था। मधुर था। सरस था। सलिल तथा मनोहर था। मृदुल पादसंचारों से युक्त था। सुननेवालों को प्रीतिदायक था। शोभन समाप्ति से युक्त था। इस मधुर संगीत गान के साथ-साथ वादक अपने-अपने वाद्यों को भी बजा रहे थे। इस प्रकार वह दिव्य वादन एवं दिव्य नृत्य आश्चर्यकारी होने से अद्भुत तथा दर्शकों के मनोनुकूल होने से मनोज्ञ था। दर्शकों के कहकहों से नाट्यशाला को गुंजायमान कर रहा था।

तत्पश्चात् नृत्य-क्रीड़ा में प्रवृत्त उन देवकुमारों और देवकुमारियों ने भगवान महावीर एवं गौतमादि श्रमण निर्ग्रन्थों आदि के समक्ष स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य और दर्पण इन आठ मंगलद्रव्यों का आकार रूप दिव्य नाट्याभिनय दिखलाया। तत्पश्चात् दूसरी नाट्यविधि प्रस्तुत करने के

लिए वे एकत्रित हुए एवं उन्होंने भगवान महावीर एवं गौतम आदि निर्ग्रन्थों के समक्ष आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणि, प्रश्रेणि, स्वस्तिक, सौवस्तिक, पुष्य, माणवक, वर्धमानक, मत्स्याण्डक, मकराण्डक, जार, मार, पुष्पावलि, पद्मपत्र, सागरतरंग, वासन्तीलता और पद्मलता के आकार की नाट्यविधि दिखलायी। उसके पश्चात् उन सभी ने भगवान महावीर के समक्ष ईहामृग, वृषम, तुरंग-अश्व, नर-मानव, मगर, विहग-पक्षी, व्याल-सर्प, किन्नर, रुरु, सरभ, चमर, कुंजर, वनलता और पद्मलता की आकृति रचना रूप दिव्य नाट्यविधि को प्रस्तुत किया। तदनन्तर उन्होंने एकतोवक्र, एकतश्चक्रवाल, द्विघातश्चक्रवाल ऐसी चक्रार्ध-चक्रवाल नामक दिव्य नाट्यविधि प्रस्तुत की। इसी क्रम से उन्होंने चन्द्रावलि, सूर्यावलि, वलयावलि, हंसावलि, एकावलि, तारावलि, मुक्तावलि, कनकावलि, रत्नावलि की विशिष्ट रचनाओं से युक्त दिव्य नाट्यविधि का अभिनय किया। तत्पश्चात् उन्होंने चन्द्रमा और सूर्य के उदय होने की रचनावली उद्गमनोद्गमन नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। उसके पश्चात् चन्द्र-सूर्य आगमन नाट्यविधि अभिनीत की। तदनन्तर चन्द्रग्रहण और सूर्यग्रहण होने पर गगनमण्डल में होने वाले वातावरण की दर्शक आवरणावरण नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके बाद अस्तमयनप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया। उसके पश्चात् चन्द्रमण्डल, सूर्यमण्डल नागमण्डल, यक्षमण्डल, भूतमण्डल, राक्षसमण्डल, महोरगमण्डल और गन्धर्वमण्डल की रचना से युक्त दर्शन मण्डलप्रविभक्ति नामक नाट्यविधि प्रस्तुत की। इसके पश्चात् वृषभमण्डल, सिंहमण्डल की ललित गति अश्व गति और गज की विलम्बित गति, अश्व और हस्ती की विलसित गति, मत्त अश्व और मत्त गज की विलसित गति आदि गति की दर्शक रचना से युक्त द्रुतविलम्बित प्रविभक्ति नामक दिव्य नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके बाद सागर, नगर, प्रविभक्ति नामक अपूर्व नाट्यविधि अभिनीत की। तत्पश्चात् नन्दा, चम्पा, प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके पश्चात् मत्स्याण्ड, माकराण्ड, जार, मार, प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का अभिनय किया। तदनन्तर उन्होंने 'क' अक्षर की आकृति की रचना करके ककार प्रविभक्ति, इसी प्रकार ककार से लेकर पकार पर्यन्त पाँच वर्गों के २५ अक्षरों के आकार का अभिनय-प्रदर्शन किया। तत्पश्चात् पल्लव प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि प्रस्तुत की और इसके बाद उन्होंने नागलता, अशोकलता, चम्पकलता, आम्रलता, वनलता, वासन्तीलता, अतिमुक्तकलता, श्यामलता की सुरचना वाली लता प्रविभक्ति नामक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। इसके पश्चात् अनुक्रम से द्रुत, विलम्बित, द्रुतविलम्बित, अंचित,

रिभित, अंचितरिभित, आरभद, भसोल और आरभटभसोल नामक नाट्यविधियों का प्रदर्शन किया। इन प्रदर्शनों के पश्चात् वे सभी एक स्थान पर एकत्रित हुए तथा भगवान महावीर के पूर्व भवों से सम्बन्धित चरित्र से निबद्ध एवं वर्तमान जीवन सम्बन्धी च्यवनचरित्रनिबद्ध, गर्भसंहरणचरित्रनिबद्ध, जन्म चरित्रनिबद्ध, जन्माभिषेक, बालक्रीड़ानिबद्ध, यौवन-चरित्रनिबद्ध, अभिनिष्क्रमण-चरित्रनिबद्ध, तपश्चरण-चरित्रनिबद्ध, ज्ञानोत्पाद-चरित्रनिबद्ध, तीर्थ-प्रवर्तन चरित्र से सम्बन्धित, परिनिर्वाण चरित्रनिबद्ध तथा चरम-चरित्रनिबद्ध नामक अन्तिम दिव्य नाट्य अभिनय का प्रदर्शन किया।”

धार्मिक नाटकों के मंचन और जिनप्रतिमा के समक्ष नृत्य करने की परम्परा आज भी जैनधर्म में जीवित पायी जाती है। विगत शताब्दी में श्रीपाल मैनासुन्दरी नाटक के मंचन के लिए एक पूरा समुदाय ही था, जो स्थान-स्थान पर जाकर इसे एवं अन्य भक्ति प्रधान नाटकों को मंचित करता था और उसी के सहारे अपनी जीवनवृत्ति चलाता था। आज भी जैनों के धार्मिक समारोहों के अवसर पर जैन परम्परा के कथानकों से सम्बद्ध नाटकों का मंचन किया जाता है। अतः संगीत, नृत्य एवं नाटक जीवित परम्परा के रूप में आज भी जैन विधि-विधानों के साथ जुड़े हुए हैं। यह स्पष्ट है कि जैन साधना में नृत्य, संगीत आदि जिन कलापरक पक्षों का समाहार हुआ है, उस पर भक्तिमार्गी परम्परा का प्रभाव है। निवृत्तिमार्गी परम्परा होने के कारण प्रारम्भ में तो इनका वर्जन ही किया था, किन्तु कालान्तर में भक्तिमार्ग ने जैनधर्म को प्रभावित किया और ये तत्त्व उसमें प्रविष्ट हो गये। यद्यपि इस माध्यम से जैनाचार्यों ने मनुष्य के वासनात्मक पक्ष का उदात्तीकरण किया है, ताकि व्यक्ति को एक सम्यक् दिशा दी जा सके।

राजप्रश्नीयसूत्र में सूर्याभदेव द्वारा की गई जिनपूजा का वर्णन प्राप्त होता है, वह इस प्रकार है- ‘सूर्याभदेव ने व्यवसाय सभा में रखे हुए पुस्तकरत्न को अपने हाथ में लिया, हाथ में लेकर उसे खोला, खोलकर उसे पढ़ा और पढ़कर धार्मिक क्रिया करने का निश्चय किया, निश्चय करके पुस्तकरत्न को वापस रखा, रखकर सिंहासन से उठा और नन्दा नामक पुष्करिणी पर आया। नन्दा पुष्करिणी में प्रविष्ट होकर उन्होंने अपने हाथ-पैरों का प्रक्षालन किया तथा आचमन कर पूर्णरूप से स्वच्छ और शुचिभूत होकर स्वच्छ श्वेत जल से भरी हुई भृंगार (झारी) तथा उस पुष्करिणी में उत्पन्न शतपत्र एवं सहस्रपत्र कमलों को ग्रहण किया फिर वहाँ से चलकर जहाँ सिद्धायतन (जिनमंदिर) था, वहाँ आये। उसमें पूर्वद्वार से प्रवेश करके जहाँ देवछन्दक और जिनप्रतिमा थी वहाँ आकर जिनप्रतिमाओं को

प्रणाम किया। प्रणाम करके लोममयी प्रमार्जनी हाथ में ली, प्रमार्जनी से जिनप्रतिमा को प्रमार्जित किया। प्रमार्जित करके सुगन्धित जल से उन जिनप्रतिमाओं का प्रक्षालन किया। प्रक्षालन करके उन पर गोशीर्ष चंदन का लेप किया। गोशीर्ष चंदन का लेप करने के पश्चात् उन्हें सुवासित वस्त्रों से पोंछा, पोंछकर जिनप्रतिमाओं को अखण्ड देवदूष्य युगल पहनाया। देवदूष्य पहनाकर पुष्पमाला, गंधचूर्ण एवं आभूषण चढ़ाये। तदनन्तर नीचे लटकती लम्बी-लम्बी गोल मालाएँ पहनायीं। मालाएँ पहनाकर पंचवर्ण के पुष्पों की वर्षा की। फिर जिनप्रतिमाओं के समक्ष विभिन्न चित्रांकन किये एवं श्वेत तन्दुलों से अष्टमंगल का आलेखन किया। उसके पश्चात् जिनप्रतिमाओं के समक्ष धूपक्षेप किया। धूपक्षेप करने के पश्चात् विशुद्ध, अपूर्व, अर्थसम्पन्न महिमाशाली १०८ छन्दों से भगवान की स्तुति की। स्तुति करके सात-आठ पैर पीछे हठा। पीछे हटकर बाँया घुटना ऊँचा किया तथा दायाँ घुटना जमीन पर झुकाकर तीन बार मस्तक पृथ्वी तल पर नमाया। फिर मस्तक ऊँचा कर दोनों हाथ जोड़कर मस्तक पर अँजलि करके 'नमोत्थुणं अरहन्ताणं...ठाणं संपत्ताणं नामक शक्रस्तव का पाठ किया। इस प्रकार अर्हन्त और सिद्ध भगवान् की स्तुति करके फिर जिनमंदिर के मध्य भाग में आये। उसे प्रमार्जित कर दिव्य जलधारा से सिंचित किया और गोशीर्ष चंदन का लेप किया तथा पुष्पसमूहों की वर्षा की। तत्पश्चात् उसी प्रकार उन्होंने मयूरपिच्छि से द्वारशाखाओं, पुतलियों एवं व्यालों को प्रमार्जित किया तथा उनका प्रक्षालन कर उनको चंदन से अर्चित किया तथा धूपक्षेप करके पुष्प एवं आभूषण चढ़ाये। इसी प्रकार उन्होंने मणिपीठिकाओं एवं उनकी जिनप्रतिमाओं की, चैत्यवृक्ष की तथा महेन्द्र ध्वजा की पूजा-अर्चना की। इससे स्पष्ट है कि राजप्रश्नीय के काल में पूजा सम्बन्धी मन्त्रों के अतिरिक्त जिनपूजा की एक सुव्यवस्थित प्रक्रिया निर्मित हो चुकी थी। लगभग ऐसा ही विवरण वरांगचरित के २३वें सर्ग में भी है।

यह स्पष्ट है कि जिनपूजा का यह विकसित स्वरूप गुप्तकालीन है और भक्तिमार्ग के विकास के साथ जैनधर्म में प्रविष्ट हुआ है। इस पर हिन्दूधर्म की पूजा-पद्धति का पूर्ण प्रभाव है जिसकी चर्चा मैंने अपनी पुस्तक 'जैनधर्म और तान्त्रिक साधना' में की है। हम यह भी बता चुके हैं कि राजप्रश्नीयसूत्र का यह भाग परवर्ती प्रक्षेप है। मूल भाग केवल राजा पएसी और केशीकुमार श्रमण की चर्चा तक ही सीमित था।

## पुनर्जन्म एवं परलोक के निषेध की राजप्रश्नीयसूत्र में समीक्षा

जैन आगमों में पुनर्जन्म एवं परलोक के निषेधक देहात्मवादी दृष्टिकोण के पक्ष और विपक्ष में तर्क प्रस्तुत करने वाला सर्वप्रथम राजप्रश्नीयसूत्र हैं। यही एक मात्र ऐसा प्राकृत आगम ग्रन्थ है जो उच्छेदवाद और तज्जीवतच्छरीरवाद के पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों के सन्दर्भ में अपने तर्क प्रस्तुत करता है। राजप्रश्नीय में देहात्मवाद के पूर्व पक्ष को और उनका खण्डन करने वाले उत्तर पक्ष को निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है—

राजा पएसी कहता है, हे केशीकुमार श्रमण! मेरे दादा अत्यन्त अधार्मिक थे। आपके कथनानुसार वे अवश्य ही नरक में उत्पन्न हुए होंगे। मैं अपने पितामह को अत्यन्त प्रिय था, अतः मेरे पितामह को आकर मुझसे यह कहना चाहिए कि हे पौत्र! मैं तुम्हारा पितामह था और इसी सेयंविया (श्वेताम्बिका) नगरी में अधार्मिक कृत्य करता था यावत् प्रजाजनों से राजकर लेकर भी यथोचित रूप में उनका पालन-रक्षण नहीं करता था। इस कारण बहुत एवं अतीव कलुषित पापकर्मों का संचय करके मैं नरक में उत्पन्न हुआ हूँ। किन्तु हे पौत्र! तुम अधार्मिक मत होना, प्रजाजनों से कर लेकर उनके पालन-रक्षण में प्रमाद मत करना और न बहुत से मलिन पाप कर्मों का उपार्जन-संचय ही करना।

देहात्मवादियों के इस तर्क के प्रतिउत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न समाधान प्रस्तुत किया— हे राजन्! जिस प्रकार तुम अपने अपराधी को इसलिए नहीं छोड़ देते हो कि वह जाकर अपने पुत्र-मित्र और ज्ञाति जनों को यह बताये कि मैं अपने पाप के कारण दण्ड भोग रहा हूँ, तुम ऐसा मत करना। इसी प्रकार नरक में उत्पन्न तुम्हारे पितामह तुम्हें प्रतिबोध देने के लिए आना चाहकर भी यहाँ आने में समर्थ नहीं हैं। नारकीय जीव निम्न चार कारणों से मनुष्य लोक में नहीं आ सकते। सर्वप्रथम तो उनमें नरक से निकल कर मनुष्य लोक में आने की सामर्थ्य ही नहीं होती। दूसरे नरकपाल उन्हें नरक से बाहर निकलने की अनुमति भी नहीं देते। तीसरे नरक सम्बन्धी असातावेदनीय कर्म के क्षय नहीं होने से वे वहाँ से नहीं निकल पाते। चौथे उनका नरक सम्बन्धी आयुष्य कर्म जब तक क्षीण नहीं होता तब तक वे वहाँ से नहीं आ सकते। अतः तुम्हारे पितामह के द्वारा तुम्हें आकर प्रतिबोध न दे पाने के कारण यह मान्यता मत रखो कि जीव और शरीर एक ही हैं, अपितु यह मान्यता रखो कि जीव अन्य है और शरीर अन्य है। स्मरण रहे कि दीघनिकाय में भी नरक से मनुष्य लोक में न आ पाने के इन्हीं चार कारणों का उल्लेख किया गया है। केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने दूसरा तर्क किया।

हे श्रमण! मेरी दादी अत्यन्त धार्मिक थीं। आप लोगों के मत के अनुसार वह निश्चित ही स्वर्ग में उत्पन्न हुई होगी। मैं अपनी दादी का अत्यन्त प्रिय था, अतः उसे मुझे आकर यह बताना चाहिए कि, हे पौत्र! अपने पुण्य कर्मों के कारण मैं स्वर्ग में उत्पन्न हुई हूँ। तुम भी मेरे समान धार्मिक जीवन बिताओ, जिससे तुम भी विपुल पुण्य का उपार्जन कर स्वर्ग में उत्पन्न होओ। क्योंकि मेरी दादी ने स्वर्ग से आकर मुझे ऐसा प्रतिबोध नहीं दिया, अतः मैं यही मानता हूँ कि जीवन और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशिकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया— हे राजन्! यदि तुम स्नान, बलिकर्म और कौतुकमंगल करके देवकुल में प्रविष्ट हो रहे हो, उस समय कोई पुरुष शौचालय में खड़ा होकर यह कहे कि, हे स्वामिन्! यहाँ आओ! कुछ समय के लिए यहाँ बैठो, खड़े होओ। तो क्या तुम उस पुरुष की बात को स्वीकार करोगे। निश्चय ही तुम उस अपवित्र स्थान पर जाना नहीं चाहोगे। इसी प्रकार हे राजन्! देवलोक में उत्पन्न देव वहाँ के दिव्य काम भागों में इतने मूर्च्छित, गृधु और तल्लीन हो जाते हैं कि वे मनुष्य लोक में आने की इच्छा नहीं करते। दूसरे देवलोक सम्बन्धी दिव्य भोगों में तल्लीन हो जाने के कारण उनका मनुष्य सम्बन्धी प्रेम व्युच्छिन्न हो जाता है, अतः वे मनुष्य लोक में नहीं आ पाते। तीसरे देवलोक में उत्पन्न वे देव वहाँ के दिव्य कामभागों में मूर्च्छित या तल्लीन होने के कारण अभी जाता हूँ अभी जाता हूँ, ऐसा सोचते रहते हैं किन्तु उतने समय में अल्पायुष्य वाले मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाते हैं। (क्योंकि देवों का एक दिन-रात मनुष्य लोक के सौ वर्ष के बराबर होता है, अतः एक दिन का भी विलम्ब होने पर यहाँ मनुष्य कालधर्म को प्राप्त हो जाता है।) पुनः मनुष्य लोक इतना दुर्गन्धित और अनिष्टकर है कि उसकी दुर्गन्ध के कारण देव मनुष्य लोक में आना नहीं चाहते हैं। अतः तुम्हारी दादी के स्वर्ग से नहीं आने पर यह श्रद्धा रखना उचित नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया। राजा ने कहा कि मैंने एक चोर को जीवित ही लौहे की कुम्भी में बन्द करवा कर अच्छी तरह से लोहे से उसका मुख ढक दिया फिर उस पर गरम लोहे और रंगे से लेप करा दिया तथा उसकी देख-रेख के लिए अपने विश्वासपात्र पुरुषों को रख दिया। कुछ दिन पश्चात् मैंने उस कुम्भी को खुलवाया तो देखा कि वह मनुष्य मर चुका था किन्तु उस कुम्भी में कोई भी छिद्र, विवर या दरार



नहीं थी जिससे उसमें बन्द पुरुष का जीव बाहर निकला हो, अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने निम्न तर्क प्रस्तुत किया-

जिस प्रकार एक ऐसी कुटागारशाला जो अच्छी तरह से आच्छादित हो, उसका द्वार गुप्त हो यहाँ तक कि उसमें कुछ भी प्रवेश नहीं कर सके। यदि उस कुटागारशाला में कोई व्यक्ति जोर से भेरी बजाये तो तुम बताओ कि वह आवाज बाहर सुनायी देगी कि नहीं? निश्चय ही वह आवाज सुनायी देगी। अतः जिस प्रकार शब्द अप्रतिहत गति वाला है उसी प्रकार आत्मा भी अप्रतिहत गति वाला है अतः तुम यहाँ श्रद्धा करो कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न हैं। (ज्ञातव्य है कि अब यह तर्क विज्ञान सम्मत नहीं रह गया है, यद्यपि आत्मा की अमूर्तता के आधार पर भी राजा के उपरोक्त तर्क का प्रत्युत्तर दिया जा सकता है।) केशीकुमार श्रमण के इस प्रत्युत्तर को सुनकर राजा ने एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया-

मैंने एक पुरुष को प्राण रहित करके एक लौह कुम्भी में सुलवा दिया तथा ढक्कन से उसे बन्द करके उस पर रांगे का लेप करवा दिया कुछ समय पश्चात् जब उस कुम्भी को खोला गया तो उसे कृमिकुल से व्याप्त देखा, किन्तु उसमें कोई दरार या छिद्र नहीं था जिससे उसमें जीव प्रवेश करके उत्पन्न हुए हों। अतः जीव और शरीर भिन्न-भिन्न नहीं हैं।

राजा के इस तर्क के प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने अग्नि से तपाये लोहे के गोले का उदाहरण दिया। जिस प्रकार लोहे के गोले में छेद नहीं होने पर भी अग्नि उसमें प्रवेश कर जाती है, उसी प्रकार जीव भी अप्रतिहत गति वाला होने से कहीं भी प्रवेश कर जाता है।

केशीकुमार श्रमण का यह प्रत्युत्तर सुनकर राजा ने पुनः एक नया तर्क प्रस्तुत किया। उसने कहा कि, मैंने एक व्यक्ति को जीवित रहते हुए और मरने के बाद दोनों ही दशाओं में तौला किन्तु दोनों के तौल में कोई अन्तर नहीं था। यदि मृत्यु के बाद आत्मा उसमें से निकली होती तो उसका वजन कुछ कम अवश्य होना चाहिए था। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने वायु से भरी हुई और वायु से रहित मशख के तौल के बराबर होने का उदाहरण दिया और यह बताया कि जिस प्रकार वायु अगुरुलघु है उसी प्रकार जीव भी अगुरुलघु है। अतः तुम्हारा यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है कि जीव और शरीर भिन्न-भिन्न

नहीं है। (अब यह तर्क भी वैज्ञानिक दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं रह गया है। क्योंकि वैज्ञानिक यह मानते हैं कि वायु में वजन होता है। दूसरे यह भी प्रयोग करके देखा गया है कि जीवित और मृत शरीर के वजन में अंतर पाया जाता है। उस युग में सूक्ष्म तुला के अभाव के कारण यह अन्तर ज्ञात नहीं होता रहा होगा।)

राजा ने फिर एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया और कहा कि मैंने एक चोर के शरीर के विभिन्न अंगों का काटकर, चीरकर देखा लेकिन मुझे कहीं भी जीव नहीं दिखाई दिया। अतः शरीर से पृथक् जीव की सत्ता सिद्ध नहीं होती। इसके प्रत्युत्तर में केशीकुमार श्रमण ने उसे निम्न उदाहरण देकर समझाया—

‘हे राजन्! तू बड़ा मूढ़ मालूम होता है मैं तुझे एक उदाहरण देकर समझाता हूँ। एक बार कुछ वनजीवी साथ में अग्नि लेकर एक बड़े जंगल में पहुँचे। उन्होंने अपने एक साथी से कहा, हे देवानुप्रिय! हम जंगल में लकड़ी लेने जाते हैं तू इस अग्नि से आग जलाकर हमारे लिए भोजन बनाकर तैयार रखना। यदि अग्नि बुझ जाय तो लकड़ियों को घिस कर अग्नि जला लेना। संयोगवश उसके साथियों के चले जाने पर थोड़ी ही देर बाद आग बुझ गई। अपने साथियों के आदेशानुसार वह लकड़ियों को चारों ओर से उलट-पलट कर देखने लगा लेकिन आग कहीं नजर नहीं आई। उसने अपनी कुल्हाड़ी से लकड़ियों को चीरा, उनके छोटे-छोटे टुकड़े किये किन्तु फिर भी आग दिखाई नहीं दी। वह निराश होकर बैठ गया और सोचने लगा कि देखो, मैं अभी तक भी भोजन तैयार नहीं कर सका। इतने में जंगल में से उसके साथी लौटकर आ गये, उसने उन लोगों से सारी बातें कही। इस पर उनमें से एक साथी ने शर बनाया और शर को अरणि के साथ घिस कर अग्नि जलाकर दिखायी और फिर सबने भोजन बना कर खाया। हे पएसी! जैसे लकड़ी को चीर कर आग पाने की इच्छा रखने वाला उक्त मनुष्य मूर्ख था, वैसे ही शरीर को चीर कर जीव देखने की इच्छा वाले तुम भी कुछ कम मूर्ख नहीं हो। जिस प्रकार अरणि के माध्यम से अग्नि अभिव्यक्त होती है उसी प्रकार आत्मा भी शरीर के माध्यम से अभिव्यक्त होती है किन्तु शरीर को चीरकर उसे देखने की प्रक्रिया उसी प्रकार मूर्खतापूर्ण है जैसे अरणि को चीर फाड़कर अग्नि को देखने की प्रक्रिया। अतः हे राजन यह श्रद्धा करो कि आत्मा अन्य है और शरीर अन्य है।

यहाँ यह कहा जा सकता है कि ये सभी तर्क वैज्ञानिक युग में इतने सबल नहीं रह गये हैं, किन्तु ई.पू. सामान्यतया चार्वाकों के पक्ष के समर्थन में और उनका खण्डन करने के लिए ये ही तर्क प्रस्तुत किये जाते थे। अतः चार्वाक

दर्शन के ऐतिहासिक विकास-क्रम की दृष्टि से इनका अपना महत्त्व है। जैन और बौद्ध परम्परा में इनमें अधिकांश तर्क समान होने से इनकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता और प्राचीनता भी स्वतःसिद्ध है।

जैन साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से जहाँ तक चार्वाक दर्शन के तर्क पुरस्सर प्रस्तुतीकरण एवं समीक्षा का प्रश्न है— सर्वप्रथम उसे आगमिक व्याख्या साहित्य के एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य (ईस्वी सन् की छठी शती) में देखा जा सकता है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा ईस्वी सन् की छठी शती में प्राकृत भाषा में निबद्ध इस ग्रन्थ की लगभग ५०० गाथाएँ तो आत्मा, कर्म, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, बन्धन-मुक्ति आदि अवधारणाओं की तार्किक समीक्षा से सम्बन्धित हैं। इस ग्रन्थ का यह अंश गणधरवाद के नाम से जाना जाता है और अब स्वतंत्र रूप से प्रकाशित भी हो चुका है। प्रस्तुत निबंध में इस समग्र चर्चा को समेट पाना सम्भव नहीं था अतः इस निबंध को यहीं विराम दे रहे हैं।



## वृष्णिदशा : एक परिचय

जैन धर्म की श्वेताम्बर परम्परा में मान्य अर्धमागधी आगम साहित्य के एक वर्ग उपांग साहित्य में बारहवें उपांग के रूप में 'वृष्णिदशा' का नाम आता है। नन्दीसूत्र में जो कालिक और उत्कालिक सूत्रों की सूची दी गई है उसमें उत्कालिक सूत्रों के अन्तर्गत वृष्णिदशा का नामोल्लेख मिलता है। इससे यह तथ्य तो स्पष्ट हो जाता है कि, 'वृष्णिदशा' नामक इस उपांग का अस्तित्व कम से कम नन्दीसूत्र के पूर्व अर्थात् ईसा की पाँचवीं शती के पूर्व था। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि स्थानांगसूत्र में जिन दस दशाओं के उल्लेख हैं उनमें कहीं भी वृष्णिदशा का उल्लेख नहीं है। वृष्णिदशा का सर्वप्रथम उल्लेख नन्दीसूत्र में ही मिलता है। नन्दीसूत्र की चूर्णि (लगभग सातवीं शती) में प्रस्तुत उपांग का नाम 'अन्धकवृष्णिदशा' दिया गया है। मात्र यही नहीं, चूर्णि अन्धक शब्द का अर्थ भी स्पष्ट करती है और उसे पुल के रूप में उल्लेखित करती है। इससे स्पष्ट है कि वृष्णिदशा का पूर्व नाम अन्धक वृष्णिदशा था। कालान्तर में अन्धक शब्द लुप्त हो गया और केवल वृष्णिदशा ऐसा नाम ही शेष रह गया। इसका रचनाकाल ईस्वी सन् की पाँचवी शती से पूर्व है किन्तु इसके रचयिता का कोई उल्लेख नहीं है।

हरिवंशपुराण में 'अन्धकवृष्णि' का उल्लेख मिलता है। उसमें यह बताया गया है कि बलराम, कृष्ण और अरिष्टनेमि का जन्म अन्धकवृष्णि कुल में हुआ था। वहाँ अन्धकवृष्णि को कृष्ण, बलराम और बाइसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि का दादा कहा गया है। अन्धकवृष्णि के समुद्रविजय, वसुदेव आदि दस पुत्र हुए। जहाँ समुद्रविजय से अरिष्टनेमि का जन्म हुआ वहीं वसुदेव के कृष्ण और बलराम नामक पुत्र हुए। हिन्दू परम्परा के हरिवंशपुराण के तैतीसवें अध्याय में भी यदुवंश की उत्पत्ति का तथा चौतीसवें अध्याय में वृष्णिवंश का उल्लेख मिलता है।

दोनों परम्पराओं के आधार पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि अन्धकवृष्णि से ही वृष्णिवंश का प्रारम्भ हुआ। प्रस्तुत उपांग वृष्णिदशा में हमें वृष्णिवंश के निम्न बारह राजकुमारों का उल्लेख मिलता है— १. निषथ २. मातलि ३. वह

८४ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक २ / अप्रैल-जून २००८

४. वहे ५. यगया ६. युक्ति ७. दशरथ ८. दृढरथ ९. महधन्वा १०. सप्तधन्वा  
११. दशधन्वा १२. शतधन्वा।

वृष्णिदशा में निषध आदि जिन बारह बालकों का उल्लेख है उन्हें कृष्ण के बड़े भ्राता बलराम की रानी रेवती का पुत्र बताया गया है।

यहाँ दो तीन बातें विशेष रूप से विचारणीय हैं- प्रथम तो यह कि वृष्णिदशा के नाम से ऐसा लगता है कि यह दस अध्यायों का कोई ग्रन्थ है। किन्तु वर्तमान में इसमें बारह अध्याय पाये जाते हैं। इस ग्रन्थ में जो बारह अध्यायों के नाम उल्लेखित किये गए हैं, उनमें मात्र प्रथम अध्याय का ही विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है शेष अध्याय का विवरण न देकर मात्र यह कह दिया गया है कि शेष ग्यारह अध्यायों का वर्णन प्रथम अध्याय के समान ही जान लेना चाहिए। इस आधार पर यहाँ यह विचार उत्पन्न होता है कि क्या शेष ग्यारह राजकुमार भी कृष्ण के बड़े भ्राता बलदेव की रानी रेवती के ही पुत्र थे? किन्तु मूल ग्रन्थ में इस सम्बन्ध में कोई स्पष्ट निर्देश नहीं मिलता है, फिर भी इतना तो निश्चित है कि ये सभी राजकुमार वृष्णिवंश से सम्बन्धित रहे हैं।

जहाँ तक वृष्णिदशा नामक इस बारहवें उपांगसूत्र की विषय-वस्तु का प्रश्न है मूल ग्रन्थ में सर्वप्रथम द्वारिका नगरी का वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् रेवतक पर्वत तथा उसकी तलहटी में स्थित नन्दनवन का उल्लेख हुआ है। यह सभी विवरण अन्तकृतदशा नामक अष्टम अंगसूत्र के समान ही है, इसमें कोई नवीनता या भिन्नता परिलक्षित नहीं होती है। तदनन्तर इस नन्दनवन उद्यान में अरिष्टनेमि के आगमन का उल्लेख है। फिर कृष्ण वासुदेव द्वारा निषधकुमार आदि अपने परिवार के साथ अरिष्टनेमि भगवान के दर्शनार्थ जाने का उल्लेख है। निषधकुमार को देखकर वरदत्त मुनि के मन में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। अरिष्टनेमि वरदत्त अणगार की इस जिज्ञासा को शान्त करते हुए सर्वप्रथम निषधकुमार के वीरांगद नामक पूर्व भव का विवेचन करते हैं। उसके बाद निषधकुमार की दीक्षा और साधना का वर्णन किया गया है। अन्त में निषधकुमार के स्वर्गवास के पश्चात् उनकी देवलोक में उत्पत्ति का वर्णन किया गया है। फिर यह बताया गया है कि निषधकुमार का जीव देवलोक से च्युत होकर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होगा और दीक्षित होकर अपने साधनों के द्वारा मुक्ति को प्राप्त करेगा। यह मूल ग्रन्थ अति संक्षिप्त है, फिर भी इसमें निषधकुमार के पूर्वभव का तथा परवर्ती भव सहित तीन भवों का उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त मूलग्रन्थ में विशेष

कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता है। फिर भी निषधकुमार के तीन भवों के उल्लेख से पुनर्जन्म और आत्मा की नित्यता की पुष्टि हो जाती है।

इसमें शेष ग्यारह अध्यायों की, प्रथम अध्याय से जो समरूपता बताई गई है, उसका तात्पर्य इतना ही है कि निषधकुमार के समान शेष भाइयों ने भी संयमव्रत ग्रहण किया होगा और संथारापूर्वक देहत्याग करके स्वर्ग में उत्पन्न हुए होंगे और फिर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

प्रस्तुत कृति में अष्टमंगल का उल्लेख है और अष्टमंगल का अंकन हमें मथुरा के शिल्प में ईसा की प्रथम-द्वितीय शताब्दी से मिलने लगता है अतः वृष्णिदशा का रचनाकाल भी इसी के आस-पास होना चाहिए। मेरी दृष्टि में निर्ग्रन्थ परम्परा में कृष्ण और उनके वृष्णिवंश का उल्लेख भी इन्हीं शताब्दियों में प्रारम्भ हुआ होगा।

इसके अतिरिक्त वृष्णिदशा में द्वारिका नगरी, रैवतक पर्वत, नन्दनवन उद्यान, सुरप्रिय यक्षायतन, अरिष्टनेमि के आगमन और कृष्णवासुदेव, बलदेव आदि के दर्शनार्थ जाने आदि के जो उल्लेख इस उपांगसूत्र में हैं, वे अंतकृद्दशा आदि ग्रन्थों में भी मिलते हैं, उसमें न तो किसी प्रकार की नवीनता है और न कोई वैशिष्ट्य ही है।

\*

## जैन इतिहास : अध्ययन विधि एवं मूलस्रोत

समय एवं संश्लेषणात्मक अध्ययन की आवश्यकता

भारतीय संस्कृति के सम्यक् ऐतिहासिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उसकी प्रकृति को पूरी तरह से समझ लिया जाये। सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भारतीय संस्कृति एक संश्लेषण संस्कृति है। वस्तुतः कोई भी विकसित संस्कृति संश्लेषण संस्कृति ही होती है, क्योंकि उसके विकास में अनेक संस्कृतियों का अवदान होता है। भारतीय संस्कृति को हिन्दू, बौद्ध, जैन आदि चारदीवारी में अवरुद्ध करके कभी भी सम्यक् रूप से नहीं समझा जा सकता है। जिस प्रकार शरीर को खण्ड-खण्ड कर देखने से शरीर की क्रिया-शक्ति को नहीं समझा जा सकता है, ठीक उसी प्रकार भारतीय संस्कृति को खण्डों में विभाजित करके देखने से उसकी आत्मा ही मर जाती है। अध्ययन की दो दृष्टियाँ होती हैं- विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक। विश्लेषणात्मक पद्धति तथ्यों को खण्डों में विभाजित करके देखती है, तो संश्लेषणात्मक विधि उसे समग्र रूप से देखती है। भारतीय संस्कृति के इतिहास को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसके विभिन्न घटकों अर्थात् हिन्दू, बौद्ध, जैन परम्पराओं का समन्वित या समग्र रूप से अध्ययन किया जाये। जिस प्रकार एक इंजन की प्रक्रिया को समझने के लिए न केवल उसके विभिन्न घटकों अर्थात् कल-पुर्जों का ज्ञान आवश्यक है, अपितु उनके परस्पर संयोजित स्वरूप को तथा एक अंग की क्रिया के दूसरे अंग पर होने वाले प्रभाव को भी समझना होता है। सत्य तो यह है कि भारतीय इतिहास के शोध के संदर्भ में अन्य सहवर्ती परम्पराओं के अध्ययन के बिना भारतीय संस्कृति का समग्र इतिहास प्रस्तुत ही नहीं किया जा सकता।

कोई भी धर्म और संस्कृति शून्य में विकसित नहीं होती है, वह अपने देश-काल तथा अपनी सहवर्ती अन्य परम्पराओं से प्रभावित होकर ही अपना स्वरूप ग्रहण करती है। यदि हमें हिन्दू, बौद्ध या जैन किसी भी भारतीय सांस्कृतिक धारा के इतिहास का अध्ययन करना है, तो उसके देशकाल और परिवेश को तथा उसकी सहवर्ती परम्पराओं के प्रभाव को सम्यक् प्रकार से समझना होगा।

भारत के सांस्कृतिक इतिहास को समझने और उसके प्रामाणिक लेखन के लिए एक समग्र किन्तु देशकाल सापेक्ष दृष्टिकोण को अपनाना आवश्यक है।

ऐतिहासिक अध्ययन के लिए जहाँ एक ओर विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर एक समग्र दृष्टिकोण भी आवश्यक है। भारतीय ऐतिहासिक अध्ययन का यह दुर्भाग्य रहा है कि उसे विभिन्न धर्मों और परम्पराओं के एक घेरे में आबद्ध करके अथवा उसके विभिन्न पक्षों को खण्ड-खण्ड करके देखने का प्रयत्न हुआ है। अपनी आलोचनात्मक और विश्लेषणात्मक दृष्टि के कारण हमने एक-दूसरे की कमियों को ही अधिक देखा है। मात्र यही नहीं, एक परम्परा में दूसरी परम्परा के इतिहास को और उसके जीवन मूल्यों को भ्रान्त रूप से प्रस्तुत किया गया है।

भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के लेखन में पहली भूल तब हुई, जब दूसरी परम्पराओं को अपनी परम्परा से निम्न दिखाने के लिए, उन्हें गलत ढंग से प्रस्तुत किया गया। प्रत्येक परम्परा की अगली पीढ़ी दूसरी परम्परा के उस गलत प्रस्तुतीकरण को ही आगे बढ़ाती रही। दूसरे शब्दों में कहे तो भारतीय संस्कृति और विशेष रूप से भारतीय दर्शन में प्रत्येक पक्ष ने दूसरे पक्ष का विकृत चित्रण ही प्रस्तुत किया। मध्यकालीन दार्शनिक ग्रंथों में इस प्रकार का चित्रण हमें प्रचुरता से उपलब्ध होता है।

सौभाग्य या दुर्भाग्य से जब पाश्चात्य इतिहासकार इस देश में आये और यहाँ के इतिहास का अध्ययन किया तो उन्होंने भी अपनी संस्कृति से भारतीय संस्कृति को निम्न सिद्ध करने के लिए विकृत पक्ष को उभार कर इसकी गरिमा को घूमिल ही किया। फिर भी पाश्चात्य लेखकों में कुछ ऐसे अवश्य हुए हैं, जिन्होंने इसको समग्र रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया और एक के ऊपर दूसरी परम्परा के प्रभाव को देखने का भी प्रयास किया। किन्तु उन्होंने अपने राजनैतिक स्वार्थों के लिए भारतीय संस्कृति की एक धारा को दूसरी धारा के विरोध में खड़ा कर दिया और इस प्रकार भारतीय संस्कृति की एकात्मकता को खण्डित किया। यदि हमें भारतीय संस्कृति का प्रामाणिक इतिहास प्रस्तुत करना है तो यह आवश्यक है कि हमारे सांस्कृतिक इतिहास का एक समन्वित और समग्र दृष्टिकोण के आधार पर पुनर्मूल्यांकन हो।



## आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ अध्ययन : जैन दृष्टिकोण

किसी भी व्याख्या या अध्ययन के दो पक्ष होते हैं—

१. आत्मनिष्ठ और २. वस्तुनिष्ठ। आत्मनिष्ठ व्याख्या में व्याख्याता का अपना दृष्टिकोण प्रधान होता है और वह अपने दृष्टिकोण के अनुरूप तथ्यों को व्याख्यायित करता है, जबकि वस्तुनिष्ठ व्याख्या में तथ्य/घटनाक्रम प्रधान होता है और व्यक्ति निरपेक्ष होकर उसे व्याख्यायित करता है, फिर भी इतना निश्चित है कि व्याख्या व्याख्याता से पूर्णतः निरपेक्ष नहीं हो सकती है। व्याख्या में तथ्य/घटनाक्रम और व्याख्याता-व्यक्ति दोनों ही आवश्यक है। अतः कोई भी व्याख्या एकान्त रूप में आत्मनिष्ठ या वस्तुनिष्ठ नहीं हो सकती है। उसके आत्मनिष्ठ और वस्तुनिष्ठ दोनों ही पक्ष होते हैं।

ऐतिहासिक अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि उसका अध्ययन और ऐतिहासिक तथ्यों का मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ आधार पर हो। दूसरे शब्दों में प्रामाणिक इतिहास लेखन, अध्ययन और मूल्यांकन के लिए वस्तुनिष्ठ या तथ्यपरक आग्रही दृष्टि आवश्यक है, इसमें किसी प्रकार का वैमत्य नहीं है। इतिहास लेखन, अध्ययन एवं मूल्यांकन सभी व्यक्ति से सम्बन्धित हैं और व्यक्ति चाहे कितना ही तटस्थ और आग्रही क्यों न हो, फिर भी उसमें कहीं न कहीं आत्मनिष्ठ पक्ष का प्रभाव तो रहता ही है। ऐसे व्यक्ति तो विरल ही होते हैं जो निरपेक्ष और तटस्थ हों। दूसरे, इतिहास लेखन घटनाओं की व्याख्या है और इस व्याख्या में आत्मनिष्ठ पक्ष की पूर्ण उपेक्षा भी संभव नहीं है। जैन दार्शनिकों ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा यह स्थापित किया था कि प्रत्येक वस्तु, तथ्य और घटना अपने आप में जटिल और बहु-आयामी होती है, उसकी व्याख्या अनेक दृष्टिकोणों के आधार पर संभव है। उदाहरण के रूप में ताजमहल का निर्माण एक ऐतिहासिक घटना है, किन्तु ताजमहल निर्माता के चरित्र की व्याख्या विभिन्न रुचियों के व्यक्तियों के द्वारा विभिन्न प्रकार से की जा सकती है। किसी के लिए वह कला का उत्कृष्ट प्रेमी हो सकता है, तो किसी के लिए वह प्रेयसी के प्रेम में अनन्य आसक्त। कोई उसे अत्यन्त विलासी, तो कोई उसे जनशोषक भी कह सकता है। इस प्रकार एक तथ्य की व्याख्या भिन्न-भिन्न प्रकार से हो सकती है।

### तथ्यों की जटिलता-एक सत्य

तथ्य की जटिलता और व्याख्या सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोण की संभावना, ये दो ऐसे तथ्य हैं जिन पर ऐतिहासिक मूल्यांकन निर्भर करता है। जिसे आज

‘हिस्ट्रीओग्राफी’ कहा जाता है वह अन्य कुछ नहीं, अपितु ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या के विभिन्न सिद्धान्तों के मूल्यांकन का शास्त्र है। यह मूल्यांकन विभिन्न दृष्टिकोणों पर आधारित होता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि जैनों का अनेकान्त सिद्धान्त ऐतिहासिक मूल्यांकन के क्षेत्र में भी पूर्णतः लागू होता है। हमें उन दृष्टिकोणों या सिद्धान्तों की सापेक्षता को समझना है, जिसके आधार पर ऐतिहासिक मूल्यांकन होते हैं। जब तक ऐतिहासिक मूल्यांकन का हार्द नहीं समझ पायेंगे तब तक ऐतिहासिक मूल्यांकन एवं ऐतिहासिक घटनाओं की व्याख्या मात्र किसी एक दृष्टिकोण पर या किसी एक सिद्धान्त पर संभव नहीं है। इतिहास न तो पूर्ण वस्तुनिष्ठ हो सकता है न पूर्ण आत्मनिष्ठ ही। जब भी हमें किसी इतिहास लेखक की किसी घटनाक्रम की व्याख्या का अध्ययन करना होता है तो हमें यह देखना होगा कि उस व्यक्ति का दृष्टिकोण क्या है? वह किन परिवेश और परिस्थितियों में उस व्याख्या को प्रस्तुत कर रहा है।

**सहवर्ती परम्परा के प्रभाव और तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता**

यदि हम जैन परम्परा के इतिहास को देखें तो हमें स्पष्ट रूप से यह दिखाई देता है कि किस प्रकार अन्य सहवर्ती धाराओं के प्रभाव से उसके ऐतिहासिक चरित्रों में पौराणिकता या अलौकिकता का प्रवेश होता गया तथा आचार और विचार के क्षेत्र में परिवर्तन आता गया। इसका सबसे अच्छा उदाहरण स्वयं भगवान महावीर का जीवन चरित्र ही है। महावीर के जीवनवृत्त सम्बन्धी सबसे प्राचीन उल्लेख आचारांगसूत्र के प्रथम एवं द्वितीय श्रुतस्कंध में तथा उसके बाद कल्पसूत्र में उपलब्ध होता है। तत्पश्चात् निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णी साहित्य में उनके जीवन का चित्रण मिलता है। उनके बाद जैन पुराणों और चरित्रकाव्यों में उनके जीवनवृत्त का चित्रण किया गया है। यदि हम उन सभी विवरणों को सामने रखकर तुलनात्मक दृष्टि से उनका अध्ययन करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान महावीर के जीवन में किस प्रकार क्रमशः अलौकिकताओं का प्रवेश होता गया। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के नौवें अध्ययन में महावीर एक कठोर साधक हैं, जो कठोर जीवनचर्या और साधना के द्वारा अपनी जीवन-यात्रा को आगे बढ़ाते हैं, किन्तु आचारांगसूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध से प्रारम्भ होकर कल्पसूत्र और परवर्ती महावीर चरित्रों में अलौकिकताओं का प्रवेश हो गया। अतः सामान्य रूप से प्राचीन भारतीय इतिहास और विशेष रूप से जैन इतिहास जो हमें पौराणिक ग्रंथों में उपलब्ध होता है, उसके ऐतिहासिक तथ्यों की खोज अत्यन्त सावधानीपूर्वक करनी होगी। यह कहना उचित नहीं है कि समस्त पौराणिक आख्यान ऐतिहासिक न होकर

मात्र काल्पनिक हैं। दूसरी ओर यह भी सत्य है कि पुराणों और चरितकाव्यों में काल्पनिक अंश इतना अधिक है कि उसमें से ऐतिहासिक तथ्यों को निकाल पाना एक दुरूह कार्य है। जो स्थिति हिन्दू पुराणों की है वही स्थिति जैन पुराणों और चरित ग्रंथों की भी है। यह भी सत्य है कि जैन इतिहास के लेखन के लिए हमारे पास जो आधारभूत सामग्री है वह इन्हीं ग्रंथों में निहित है, किन्तु इस सामग्री का उपयोग अत्यन्त सावधानीपूर्वक करना होगा।

### जैन इतिहास के अध्ययन के स्रोत

#### (क) जैन आगम, आगमिक व्याख्याओं एवं पुराणों के कथानक

पुराणों के अतिरिक्त आगमिक व्याख्याओं विशेषतः निर्युक्ति, भाष्यों और चूर्णियों में भी अनेक ऐतिहासिक कथानक संकलित हैं किन्तु उनमें भी वही कठिनाई है जो जैन पुराणों में है। ऐतिहासिक कथानक और काल्पनिक कथानक दोनों एक-दूसरे से इतने मिश्रित हो गए हैं कि उन्हें अलग-अलग करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। सत्य तो यह है कि एक ही कथानक में ऐतिहासिक और काल्पनिक दोनों ही तत्त्व समाहित हैं और उन्हें एक-दूसरे से पृथक् करना एक जटिल समस्या है। फिर भी उनमें जो ऐतिहासिक सामग्री है उसका प्राचीन भारतीय इतिहास की रचना में उपयोग महत्त्वपूर्ण एवं आवश्यक है। आगमिक व्याख्याओं में अधिकांश कथानक व्रतपालन अथवा उसके भंग के कारण हुए दुष्परिणामों को अथवा किसी नियम के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई आपवादिक स्थिति को स्पष्ट करने के लिए दिए गए हैं। ऐसे कथानकों में चाणक्य कथानक, भद्रबाहु कथानक, कालक-कथा, भद्रबाहु द्वितीय और वाराहमिहिर आदि के कथानक ऐसे हैं जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है। मरणविभक्ति तथा भगवती आराधना की मूल कथाओं और उन कथाओं को लेकर बने बृहद् आराधना कथाकोश आदि का भारतीय इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा आगे करेंगे। जहाँ तक अर्धमागधी आगम साहित्य और आगमिक व्याख्या साहित्य का प्रश्न है उसमें ऐतिहासिक सामग्री न केवल प्रचुरता में उपलब्ध है, अपितु वे भारतीय इतिहास के अनेक अनुद्घाटित तथ्यों को उजागर करती हैं। सर्वप्रथम आचारांगसूत्र को ही लें। यद्यपि यह एक उपदेश एवं आचारप्रधान ग्रन्थ है, फिर भी इसके प्रथम श्रुतस्कन्ध के नौवें उपधान-श्रुत नामक अध्याय में महावीर का जो जीवनवृत्त उल्लेखित है, उसकी वस्तुनिष्ठ सत्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता है यद्यपि इसमें मूलतः महावीर की साधना काल का ही वर्णन है, यह महावीर के गृही जीवन और संघ स्थापना के पश्चात् के जीवनवृत्त का वर्णन नहीं करता है, फिर

भी साधना-काल में उनका विचरण क्षेत्र क्या रहा तथा इस काल में उन्हें क्या-क्या कष्ट उठाने पड़े और उन्होंने किस प्रकार की साधना की, इसका एक पूर्ण प्रामाणिक विवरण उपलब्ध हो जाता है। यह विवरण पूर्णतः श्रद्धातिरेक और अतिशयोक्ति से रहित है। आचारांगसूत्र के दूसरे श्रुतस्कन्ध के अन्तिम भावना नामक अध्ययन में भी महावीर का जीवनवृत्त मिलता है। इससे महावीर के दीक्षापूर्व और कैवल्य की प्राप्ति के पश्चात् के काल का विवरण भी मिल जाता है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा यह विवरण अधिक व्यापक एवं विस्तृत है और उनके जीवन को समग्रता से प्रस्तुत करता है, फिर भी इसकी वस्तुनिष्ठता एवं प्रामाणिकता को लेकर विद्वान् पूर्ण आश्चस्त नहीं हो पाते हैं। इसमें उनके जीवनवृत्त के साथ अनेक अतिशय जुड़ गये हैं। आचारांगसूत्र के पश्चात् महावीर के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में क्वचित् उल्लेख सूत्रकृतांगसूत्र के छठे अध्ययन में मिलता है, यद्यपि यह अध्ययन महावीर की स्तुतिरूप है, फिर भी इसमें कुछ तथ्यात्मक जानकारी है, जैसे महावीर ने पार्श्वपत्य परम्परा से भिन्न होकर स्त्री-सम्पर्क और रात्रि-भोजन निषेध किया था (से वारिया इत्थी सरायभत्त) सूत्रकृतांगसूत्र में बाहुक, देवल, द्वैपायन, रामगुप्त, पराशर, उदक पेढालपुत्र आदि (१/३/४) के जो उल्लेख हैं वे औपनिषदिक और बौद्ध स्रोतों से भी पुष्ट होते हैं, अतः उनकी ऐतिहासिकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है।

इसी प्रकार समवायांगसूत्र (९/२९) में भगवान महावीर की परम्परा के नौ गणों का उल्लेख मिलता है। यद्यपि परवर्ती काल में इन गणों को ११ गणधरों की ९ वाचनाओं से जोड़कर व्याख्यायित किया गया है, किन्तु मूल ग्रंथ में गोदासगण से लेकर कोटिक आदि जिन गणों का उल्लेख है, वे अब बड्डमाणु एवं मथुरा के प्रथम द्वितीय शताब्दी के अभिलेखों एवं कल्पसूत्र की पट्टावली से संपुष्ट होकर एक ऐतिहासिक तथ्य की जानकारी देते हैं। ज्ञातव्य है कि इन गणों, कुलों और उनकी शाखाओं के उल्लेख न केवल मथुरा के अभिलेखों के स्रोतों से सम्पुष्ट होते हैं, अपितु कल्पसूत्र के अंत में उल्लेखित पट्ट परम्परा से भी सम्पुष्ट होते हैं। कल्पसूत्र के तीन विभाग हैं उनमें जिन-चरित्र और पट्टावली ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान महावीर के जन्म, केवलज्ञान की उपलब्धि एवं निर्वाण स्थलों आदि की जानकारी हमें इसी ग्रंथ से उपलब्ध होती है।

भगवतीसूत्र में गोशालक, जामाली, जयन्ती एवं पार्श्वपत्य परम्परा के श्रावकों तथा अनेक नगरों और उनमें राजाओं आदि के जो उल्लेख हैं, उनकी

ऐतिहासिकता को भी नकारा नहीं जा सकता है। भगवतीसूत्र के पश्चात् ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा और विपाकदशा में भी हमें कुछ ऐतिहासिक तथ्यों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। यद्यपि इन ग्रंथों के कथा विभाग में अनेक कथानक प्राक्-ऐतिहासिक या पौराणिक हैं, किन्तु श्रेणिक, कुणिक आदि के अनेक कथानक ऐसे भी हैं, जिनकी ऐतिहासिकता में संदेह नहीं किया जा सकता है। उदाहरण के लिए उपासकदशांग के दसों उपासकों के, जो जीवनवृत्त हैं, उनमें उनकी सम्पत्ति आदि के सम्बन्ध में चाहे कुछ अतिरेक हो, किन्तु वे पूर्णतया काल्पनिक हैं ऐसा भी नहीं कहा जा सकता। इन ग्रंथों के कथानकों में सम्पत्ति, व्यवसाय, गोधन आदि के जो उल्लेख हैं वे महावीर काल की देश की आर्थिक स्थिति के सम्बन्ध में सम्यक् सूचना प्रदान करते हैं।

इसी क्रम में उपांग साहित्य में राजप्रश्नीयसूत्र नामक जो ग्रंथ है, उसमें जो राजा प्रसेनजित एवं राजा प्रदेशी के उल्लेख हैं, वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं क्योंकि उनकी सम्पुष्टि बौद्ध त्रिपिटक के पसेनीयसुत्त से भी होती है। इसी प्रकार इसी राजप्रश्नीयसूत्र में जो जिनप्रतिमा एवं जिनमंदिरों के उल्लेख मिलते हैं, वे भारतीय पुरासम्पदा की विकास-यात्रा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं। क्योंकि इनमें ईस्वी सन् की प्रथम-द्वितीय शती की मंदिर संरचना के सम्बन्ध में एक प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध होती है। राजप्रश्नीय का पिता-पुत्र का संवाद उत्तराध्ययन में भी है।

उपांग साहित्य के अन्य ग्रंथ चाहे ऐतिहासिक सूचनाओं की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण हों, किन्तु औपपातिकसूत्र में ईसा पूर्व में भारतीय संन्यासियों की जो विविध परम्पराएँ अपने अस्तित्व में थीं और उनमें साधना की जो विविध विधियाँ प्रचलित थीं उनका एक प्रामाणिक विवरण उपलब्ध होता है।

इसी प्रकार ईसा पूर्व में भारतीय खगोलशास्त्र की मान्यताओं के संदर्भ में सूर्यप्रज्ञप्ति एवं चन्द्रप्रज्ञप्ति से भी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। जिसके माध्यम से हम भारतीय ज्योतिषशास्त्र की ऐतिहासिक विकास-यात्रा को समझ सकते हैं, क्योंकि इन दोनों में सूर्य, चन्द्र आदि की गति सम्बन्धी जो उल्लेख हैं, वे वैदिक काल के हैं या उनके समतुल्य हैं। इसी क्रम में छेदसूत्र, जो उत्सर्ग और अपवाद मार्ग की चर्चा करते हुए विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान करते हैं, उनके माध्यम से भारतीय सांस्कृतिक विकास-यात्रा को समझने में हमें सहायता मिल सकती है। इसी क्रम में उत्तराध्ययनसूत्र महावीर और पार्श्व की

परम्पराओं की विभिन्नता एवं उनके समन्वय के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि प्रस्तुत करता है। उसमें उल्लेखित कपिल, संजय, गर्दभिल्ल आदि के कथानक भी ऐतिहासिक मूल्य के माने जा सकते हैं। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययनसूत्र के गर्दभिल्ल और विक्रमादित्य के कथानक में उल्लेखित गर्दभिल्ल भिन्न व्यक्ति प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में जैन आचार्यों का जो क्रमिक इतिहास वर्णित है, उसके भी ऐतिहासिक मूल्य को नकारा नहीं जा सकता। उसमें वर्णित सभी आचार्य ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, चाहे उनके कालक्रम में क्वचित् मतभेद हो सकता है, किन्तु उनकी ऐतिहासिक सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता।

इसी क्रम में ऋषिपालित द्वारा रचित देवेन्द्रस्तव नामक प्रकीर्णक में अशोक स्तम्भ के निर्माणकला की ऐतिहासिक पीठिका की सूचना हमें मिलती है। अशोक स्तम्भ की रचना-कला का यह ग्रंथ महत्त्वपूर्ण साहित्यिक आधार है।

प्रकीर्णक साहित्य के अनेक ग्रंथ समाधिमरण की साधना से सम्बन्धित हैं। इन ग्रंथों में समाधिमरण करने वाले जिन साधकों के उल्लेख हैं उनके नाम श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के समाधिमरण सम्बन्धी साहित्य के अन्य ग्रंथों से भी संपुष्ट होते हैं, अतः उनकी ऐतिहासिकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है।

इस प्रकार जैनागम साहित्य की ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मूल्यवत्ता सिद्ध होती है। भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के सम्बन्ध में यदि इन ग्रंथों का सहयोग लिया गया होता, तो निश्चित ही भारतीय सांस्कृतिक इतिहास का एक नया स्वरूप ही हमें नजर आता। भारतीय सांस्कृतिक विकास के इतिहास में जो पालि और प्राकृत स्रोतों की उपेक्षा हुई है उसके कारण इसका यथार्थ चित्रण हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं हो सका है। जैन आगम साहित्य में कभी प्रश्नव्याकरणसूत्र का अंगीभूत रहे ऋषिभाषित नामक ग्रंथ में औपनिषदिक, बौद्ध निर्ग्रन्थ एवं अन्य श्रमण परम्पराओं के ३४५ ऋषियों के उपदेश संकलित हैं। यह ग्रंथ अपनी भाषा-शैली एवं रचनाकाल की उपेक्षा से प्राचीनतम अंग आगम आचारांग एवं सूत्रकृतांगसूत्र का समकालिक प्रतीत होता है। इस ग्रंथ में नारद, असितदेवल, पराशर, याज्ञवल्क्य, आरुणि, उद्दालक आदि औपनिषदिक ऋषियों का; सारिपुत्र, महाकश्यप और वज्जीपुत्र आदि बौद्ध श्रमणों का; गोलाशक आदि आजीवक श्रमणों का तथा पार्श्व और वर्धमान ऐसे जैन श्रमण परम्परा के महापुरुषों के उपदेशों का संकलन है। इन ऋषियों के उल्लेख औपनिषदिक, जैन और बौद्ध परम्परा के अन्य ग्रंथों में भी मिलते हैं, जिससे इनकी ऐतिहासिकता और इनके

उपदेशों की प्रमाणिकता को सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य के इन ग्रंथों में भारतीय इतिहास की महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है।

आगामिक मूल ग्रंथों पर कालान्तर में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, वृत्ति, विवरण, टिप्पण और टब्बे लिखे गये। इन सभी आगामिक व्याख्या ग्रंथों में भी ऐतिहासिक महत्त्व की विपुल सामग्री भरी हुई है। कालक्रम की दृष्टि से आगमों पर सर्वप्रथम निर्युक्तियाँ लिखी गईं। मेरी दृष्टि में निर्युक्तियों का काल ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी के लगभग माना जा सकता है और इनके रचनाकार के रूप में कल्पसूत्र की पट्टावली में उल्लेखित गौतम गोत्रीय आर्यभद्र को माना जा सकता है। ज्ञातव्य है कि इन आर्यभद्र के नाम पर जो भद्रान्वय प्रचलित हुआ था, उसका उल्लेख भी लगभग ईसा की चौथी शताब्दी के विदिशा के रामगुप्त के अभिलेख में मिलता है। निर्युक्ति साहित्य में हमें जो ऐतिहासिक उल्लेख मिलते हैं, वे वीर निर्वाण के लगभग ६०० वर्ष पश्चात् तक के हैं। इन उल्लेखों में निर्ग्रन्थ संघ में जमालि आदि सात निहवों के होने के उल्लेख हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण एवं प्रमाणिक लगते हैं। क्योंकि इन निहवों के कुछ सिद्धान्त नैयायिक एवं बौद्धों से प्रभावित लगते हैं। इसी प्रकार निर्युक्ति साहित्य में प्रसंगानुसार अनेक कथानकों के नाम निर्देश भी प्राप्त हो जाते हैं। जिनके ऐतिहासिक मूल्य को नकारा नहीं जा सकता। उदाहरण के रूप में आर्यवज्र के द्वारा भद्रगुप्त से पूर्व साहित्य का अध्ययन करना एवं उनका समाधिमरण करवाना आदि से सम्बन्धित कथानक। निर्युक्तियों में पादलिप्त, तोसलिप्त आदि अनेक जैन आचार्यों के नाम भी उपलब्ध हो जाते हैं, जो जैन इतिहास की महत्त्वपूर्ण कड़ी मानी जा सकती है।

निर्युक्ति साहित्य के पश्चात् ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी में इन निर्युक्तियों पर भाष्य लिखे गये। भाष्य प्राकृत पद्य में उपलब्ध होते हैं। इन भाष्यों में बृहदकल्पभाष्य, व्यवहारभाष्य, निशीथभाष्य और विशेषावश्यकभाष्य विशेष महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं। उत्तराध्ययन, जीतकल्प आदि अन्य कुछ भाष्य ग्रंथ मिलते हैं जो आकार में संक्षिप्त हैं। इनमें भी ईसा की पाँचवीं-छठी शताब्दी तक की ऐतिहासिक सामग्री और विशेषरूप से भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की सामग्री विपुल मात्रा में उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में गम्भीर अध्ययन अभी भी अपेक्षित है। ऐतिहासिक दृष्टि से व्यवहारभाष्य में आर्यरक्षित, आर्यसमुद्र, आर्य मंशु, आर्य स्कन्दक, खुडुगणि, गोविन्द, पुष्यभूति, वज्रभूषित आदि के उल्लेख हैं।

भाष्यों के पश्चात् चूर्णियों का काल आता है। चूर्णियाँ संस्कृत मिश्रित प्राकृत में एवं गद्य में लिखी गई हैं। इन चूर्णियों में भी अनेक कथानक मिलते हैं। जो भगवान महावीर के काल से लेकर ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी तक के अनेक ऐतिहासिक तथ्यों को उद्घाटित करती हैं। ऐसे कथानकों में स्थूलिभद्र का कथानक, नन्द साम्राज्य का कथानक, चाणक्य का कथानक, मौर्य साम्राज्य का कथानक कालक का कथानक और भद्रबाहु द्वितीय एवं वराहमिहिर के कथानक ऐसे हैं, जिनका ऐतिहासिक मूल्य है और जो गुप्तोत्तर काल की राजनैतिक व्यवस्थाओं को समझने के सम्यक् आधार माने जा सकते हैं।

आवश्यकचूर्ण में भरत द्वारा अष्टापद पर्वत पर स्थित जिनालयों की सुरक्षा हेतु यन्त्र-चालित-लौह-मानव (रोबोट) स्थापित करने का जो उल्लेख है वह आज के वैज्ञानिक प्रगति के युग के लिए भी एक चुनौती है।

चूर्णियों के पश्चात् लगभग आठवीं शताब्दी से संस्कृत भाषा में आगमिक टीका ग्रंथ लिखे गये। इन ग्रंथों में यद्यपि उनके पूर्ववर्ती आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य का ही उपयोग हुआ है, फिर भी इनमें ईसा की ८वीं शताब्दी से लेकर १३वीं शताब्दी तक के भारतीय इतिहास के संदर्भ में और विशेष रूप से जैन इतिहास के संदर्भ में अनेक ऐतिहासिक मूल्य की सामग्री हमें उपलब्ध हो जाती है। मुख्य रूप में इन टीका ग्रंथों की, जो हस्तलिखित प्रतिलिपियाँ हैं, उनमें टीकाकार के अतिरिक्त प्रतिलिपिकार अथवा जिनके अध्ययन के लिए (पठनार्थ) यह प्रतिलिपि लिखी गई उनका भी निर्देश मिलता है, साथ ही जिस गृहस्थ ने ये प्रतिलिपियाँ करवाई, उसका नाम निर्देश ही नहीं बल्कि पूरी वंशावली भी मिल जाती है। इस प्रकार ये टीका ग्रन्थ और उनकी ग्रन्थप्रशस्तियाँ भारतीय इतिहास और विशेष रूप से जैन इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत सिद्ध होते हैं।

### (ख) ऐतिहासिक चरितकाव्य एवं स्थविरावलियाँ

इसी प्रकार परवर्ती काल में अनेक ऐतिहासिक चरितकाव्य भी लिखे गये हैं, जैसे- त्रिशष्टिलाकापुरुषचरित, कुमारपालचरित, कुमारपालभूपालचरित आदि जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। ऐसे ही जैन आगमों विशेष रूप से कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र के प्रारम्भ में जो स्थविरावलियाँ दी गयी हैं वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व की हैं। उनमें दिए गए अनेक आचार्यों के नाम तथा उनके गण, कुल, शाखा आदि के उल्लेख मथुरा के अभिलेखों में मिलने से उनका ऐतिहासिक महत्त्व स्पष्ट है।



### ( ग ) ग्रन्थ प्रशस्तियाँ

ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से ग्रन्थ प्रशस्तियों का भी अत्यन्त महत्त्व होता है। उनमें लेखक न केवल अपनी गुरु परम्परा का उल्लेख करता है, अपितु अनेक सूचनाएँ भी देता है, जैसे यह ग्रन्थ किसके काल में, किसकी प्रेरणा से और कहाँ लिखा गया। यह ठीक है कि ग्रन्थ प्रशस्तियों में विस्तृत जीवन परिचय नहीं मिलता किन्तु उनमें संकेत रूप में जो सूचना मिलती है, वह इतिहास लेखन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करती है।

### ( घ ) पट्टावलियाँ

जैन परम्परा में अनेक पट्टावलियाँ (गुरु-शिष्य परम्परा) भी लिखी गयी हैं। उनमें आचार्यों के सम्बन्ध में उल्लेखित कुछ चमत्कारों को छोड़ दें तो शेष सूचनाएँ जैन संघ के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण और उपयोगी कही जा सकती हैं। इन स्थविरावलियों और पट्टावलियों में न केवल आचार्य परम्परा का निर्देश होता है, अपितु उसमें कुछ काल्पनिक बातों को छोड़कर अनेक आचार्यों के व्यक्तित्व व कृतित्व के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ मिलती हैं। हिमवंत स्थविरावली और नन्दीसंघ पट्टावली जिनकी प्रामाणिता के सम्बन्ध में कुछ प्रश्नचिह्न हैं, फिर भी वे जैनधर्म के इतिहास को एक नवीन दिशा देने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में आज भी शताधिक ऐसी पट्टावलियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनके इतिहास लेखन सम्बन्धी महत्त्व को हम नहीं नकार सकते। उनका ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्यांकन आवश्यक है।

### ( ङ ) प्रबन्ध ग्रन्थ

पट्टावलियों के अतिरिक्त अनेक प्रबन्ध भी (१२वीं से १५वीं शती तक) लिखे गये जिनमें कुछ विशिष्ट जैनाचार्यों के कथानक संकलित हैं। इनमें हेमचन्द्र कृत परिशिष्टपर्व, प्रभाचन्द्र कृत प्रभावकचरित, मेरुतुंग कृत प्रबन्धचिन्तामणि, राजशेखर कृत प्रबन्धकोश आदि प्रमुख हैं। इन प्रबन्धों के कथानकों में भी अनेक स्थलों पर आचार्यों के चरित में अलौकिकता का मिश्रण है। आज उनकी सत्यता का हमारे पास कोई आधार नहीं है, फिर भी इन प्रबन्धों में अनेक ऐतिहासिक तथ्य निहित हैं।

### ( च ) चैत्य-परिपाटियाँ

स्थविरावलियों, पट्टावलियों, प्रबन्धों के अतिरिक्त जैन इतिहास की महत्त्वपूर्ण विधा चैत्य-परिपाटियाँ या यात्रा-विवरण है जिसमें विभिन्न तीर्थों के

निर्देश तो हैं ही, उनके सम्बन्ध में अनेक ऐतिहासिक सत्य भी वर्णित हैं। मरुगुर्जर में हमें सैकड़ों चैत्य-परिपाटियाँ (१६वीं से १९वीं शती तक) उपलब्ध होती हैं। जिनमें आचार्यों ने अपने यात्रा विवरणों को संकलित किया है। इसी से मिलती-जुलती एक विधा तीर्थमालाएँ हैं। यह भी चैत्य-परिपाटी और यात्रा-विवरणों का ही एक रूप है। इसमें लेखक विभिन्न तीर्थों का विवरण देते हुए तीर्थ के अधिनायक की स्तुति करता है। यद्यपि परवर्ती काल की तीर्थमालाओं में मुख्य रूप से तीर्थनायक की प्रतिमा के सौन्दर्य वर्णन को प्रमुखता मिली है, किन्तु प्राचीन तीर्थमालाएँ मुख्य रूप से नगर, राजा और वहाँ के सांस्कृतिक परिवेश का भी विवरण देती हैं और इस दृष्टि से वे महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत करती हैं। अधिकांश तीर्थमालाएँ १५वीं से १८-१९वीं शताब्दी के मध्य की हैं और इनकी भाषा मुख्यतः मरुगुर्जर है, किन्तु विविधतीर्थकल्प आदि कुछ तीर्थमालाएँ प्राचीन भी हैं। इसी क्रम में जैनाचार्यों ने अनेक नगर वर्णन भी लिखे हैं, जैसे नगरकोट काण्डा वर्णन। नगर वर्णन सम्बन्धी इन रचनाओं में न केवल नगर का नाम है अपितु उनकी विशेषताएँ तथा उन नगरों से सम्बन्धित उस काल के अनेक ऐतिहासिक वर्णन भी निहित हैं। चैत्य परिपाटियों और तीर्थमालाओं की एक विशेषता यह होती है कि वे उस नगर या तीर्थ के सम्बन्ध में पूरा विवरण देती हैं।

### ( छ ) विज्ञप्ति पत्र

एक अन्य विधा जिसमें इतिहास सम्बन्धी सामग्री व नगर-वर्णन दोनों ही होते हैं वे विज्ञप्ति पत्र कहे जाते हैं। विज्ञप्ति पत्र वस्तुतः एक प्रकार का विनंति पत्र है, जिसमें किसी आचार्य विशेष से उनके नगर में चार्तुमास करने का अनुरोध किया जाता है। ये पत्र इतिहास के साथ ही साथ कला के भी अनुपम भंडार होते हैं। इनमें जहाँ एक ओर आचार्य की प्रशंसा और महत्त्व का वर्णन होता है, वहीं दूसरी ओर उस नगर की विशेषताओं के साथ-साथ नगर निवासियों के चरित्र का भी उल्लेख होता है। लगभग १५वीं शती से प्रारम्भ होकर १६-१७वीं शती तक के अनेक विज्ञप्ति पत्र आज भी उपलब्ध हैं। ये विज्ञप्ति पत्र जन्मपत्री के समान लम्बे आकार के होते हैं, जिसमें नगर के महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के सुन्दर चित्र भी होते हैं, जिससे इनका कलात्मक महत्त्व भी बढ़ जाता है।

इस प्रकार से हम यह कह सकते हैं कि आगम, आगमिक व्याख्यायें, स्वतंत्र ग्रन्थों की प्रशस्तियाँ, धार्मिक कथानक, चरित ग्रन्थ, प्रबन्ध साहित्य, पट्टावलियाँ, स्थविरावलियाँ, चैत्य परिपाटियाँ, तीर्थमालाएँ, नगर वर्णन और विज्ञप्ति पत्र आदि सब मिलकर सामान्य रूप से भारतीय इतिहास विशेषतः जैन इतिहास के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करते हैं।

## (ज) अभिलेख

इन साहित्यिक स्रोतों के अतिरिक्त अभिलेखीय स्रोत भी जैन इतिहास के महत्त्वपूर्ण स्रोत हैं। इनमें परिवर्तन-संशोधन की गुंजाइश कम होने तथा प्रायः समकालीन घटनाओं का उल्लेख होने से उनकी प्रामाणिकता में भी सन्देह का अवसर कम होता है। जैन अभिलेख विभिन्न उपादानों पर उत्कीर्ण मिलते हैं जैसे-शिला, स्तम्भ, गुफा, धातु प्रतिमा, स्मारक, शय्यापट्ट, ताम्रपट्ट आदि। ये अभिलेख मुख्यतया दो प्रकार के हैं- १. राजनीतिक और २. धार्मिक। राजनीतिक या शासन पत्रों के रूप में जो अभिलेख हैं वे प्रायः प्रशस्तियों के रूप में हैं जिसमें राजाओं की विरुदावलियाँ, सामरिकविजय, वंश-परिचय आदि होते हैं। धार्मिक अभिलेखों में अनेक जैन जातियों के सामाजिक इतिहास, जैनाचार्यों के संघ, गण, गच्छ आदि से सम्बन्धित उल्लेख होते हैं।

जैन अभिलेखों की भाषा प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़मिश्रित संस्कृत, कन्नड़, तमिल, गुजराती, पुरानी हिन्दी आदि है। दक्षिण के कुछ लेख तमिल में तथा अधिकांश कन्नड़ मिश्रित संस्कृत में हैं, जिनमें एहोल प्रशस्ति, राष्ट्रकूट गोविन्द का मन्त्रे से प्राप्त लेख, अमोघवर्ष का कोन्नर शिलालेख आदि मुख्य हैं।

प्राकृत भाषा के अभिलेखों में अजमेर से ३२ मील दूर बारली (बड़ली) नामक स्थान से प्राप्त एक जैन लेख, जो एक पाषाण स्तम्भ पर ४ पंक्तियों में खुदा है, सबसे प्राचीन बताया गया है। इस लेख की लिपि को स्व. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अशोक से पूर्व का माना है। इस लेख को वीर निर्वाण संवत् ८४ का माना जाता है। यद्यपि एक अन्य विद्वान् ने इस अभिलेख का एक अंश उदयपुर संग्रहालय में होने का उल्लेख करते हुए इसे वीर निर्वाण संवत् ५८४ का सिद्ध किया है और इसका सम्बन्ध आर्यरक्षित से जोड़ा है। ई. पू. ३-२ शती से जैन अभिलेख बहुतायत मिलते हैं। मात्र मथुरा से ही लगभग ई.पू. २ शती से लेकर १२वीं शती तक के २०० से भी अधिक अभिलेख मिले हैं। मथुरा से प्राप्त ये अभिलेख प्राकृत, संस्कृत मिश्रित प्राकृत तथा संस्कृत में हैं। इन अभिलेखों का विशेष महत्त्व इसलिए भी है, क्योंकि इनकी पुष्टि कल्पसूत्र और नन्दीसूत्र की स्थविरावलियों से भी होती है। इससे पूर्व कलिंग नरेश खारवेल का उड़ीसा के हाथी गुम्फा से प्राप्त शिलालेख एक ऐसा अभिलेख है जो खारवेल के राजनीतिक क्रिया-कलापों पर प्रकाश डालने वाला एकमात्र स्रोत है। यह अभिलेख न केवल ई.पू. प्रथम-द्वितीय शती के जैन संघ के इतिहास को प्रस्तुत करता है, अपितु खारवेल के राज्यकाल व उसके प्रत्येक वर्ष के कार्यों का भी

विवरण देता है। अतः यह सामान्य रूप से भारतीय इतिहास और विशेष रूप से जैन इतिहास की महत्वपूर्ण थाती है। खारखेल के इस अभिलेख में द्विपदात्मक नमस्कारमंत्र में 'नमोसव्वसिद्धाणं' पाठ है, जिसकी पुष्टि अंगविज्जा के साहित्यिक स्रोत से भी होती है।

परवर्ती अभिलेखों विशेषतः दक्षिण से प्राप्त ५-६ठी शती के अभिलेखों में चालुक्य पुलकेशी द्वितीय का रविकीर्ति रचित शिलालेख (६३४ ई.), हथुंडी के धवल राष्ट्रकूट का बीजापुर लेख (९९७ई.) आदि प्रमुख हैं। दक्षिण से प्राप्त अभिलेखों की विशेषता यह है कि उनमें आचार्यों की गुरु-परम्परा, कुल, गच्छ आदि का विवरण तो मिलता ही है साथ ही अभिलेख लिखवाने वाले व्यक्तियों व राजाओं के सम्बन्ध में भी सूचना मिलती है। दक्षिण के इन्हीं अभिलेखों से जैनधर्म के यापनीय और कूर्चक सम्प्रदायों की सूचना मिलती है। साथ ही हलसी के एक अभिलेख से पाँचवी शती में उत्तरी कर्नाटक में श्वेताम्बरों की उपस्थिति की सूचना मिलती है। इस काल तक श्वेताम्बर और दिगम्बरों के मन्दिर अलग-अलग नहीं होते थे और श्वेताम्बर भी नग्नमूर्ति की ही उपासना करते थे यह भी ज्ञात होता है।

अन्य प्रमुख अभिलेखों में कक्क का घटियाल प्रस्तर लेख (वि.सं. ११८), कुमारपाल की बडनगर प्रशस्ति (वि.सं. १२०८), विक्रमसिंह कछवाहा का दूबकुण्ड लेख (१०८८ ई.), जयमंगलसूरि रचित चाचिग-चाहमान का सुन्ध पर्वत अभिलेख आदि हैं, जिनसे धार्मिक इतिहास के साथ ही साथ राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास भी ज्ञात होता है।

इसी प्रकार जैन साहित्यिक व अभिलेखीय दोनों ही स्रोतों से महत्वपूर्ण सामग्री प्राप्त होती है। हमें यह समझ लेना चाहिए कि जैन विद्वानों, रचनाकारों ने भारतीय इतिहास के लिए हमें महत्वपूर्ण अवदान दिया है, जिसका सम्यक् मूल्यांकन और उपयोग अपेक्षित है। हम इतिहासविदों से अनुरोध करते हैं कि वे अपने अध्ययन एवं भारतीय इतिहास की नवीन व्याख्या के लिए इन स्रोतों का भरपूर उपयोग करें, ताकि कुछ नवीन तथ्य सामने आ सकें।

\*

## शंखेश्वर तीर्थ का इतिहास

जैन धर्म तीर्थकर प्रणीत है। तीर्थकर उसे कहा जाता है, जो तीर्थ की स्थापना करता है। तीर्थकर द्वारा स्थापित तीर्थ धर्मतीर्थ कहलाता है। वस्तुतः शाब्दिक दृष्टि से 'तारयति इतितार्थ' इस व्युत्पत्ति के आधार पर तीर्थ शब्द उस स्थल के लिए प्रयुक्त होता है, जहाँ से नदी, समुद्र आदि के पार जाया जाता है। इस मूल अर्थ की दृष्टि से धर्म के क्षेत्र में तीर्थ का आशय है - जिसके द्वारा साधक संसाररूपी समुद्र को पार कर मोक्षरूपी लक्ष्य को प्राप्त करता है। इस प्रकार जैनाचार्यों की दृष्टि में तीर्थ वह है, जो व्यक्ति को संसार समुद्र से पार कराता है और ऐसे तीर्थों की स्थापना करने वाले तीर्थकर कहलाते हैं। इस प्रकार मोक्षमार्ग को ही तीर्थ कहा गया है। आवश्यकनिर्युक्ति में तीर्थ, श्रुतधर्म, साधनामार्ग, प्रावचन एवं प्रवचन - इन पाँचों को पर्यायवाची कहा गया है (१/३०)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भ में जैन परम्परा में तीर्थ शब्द केवल नदी तट, पवित्र या पूज्य स्थल के रूप में प्रयुक्त न होकर एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। जैन परम्परा में साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका - इस चतुर्विध संघ को भी तीर्थ कहा गया है और इस चतुर्विध धर्मसंघ की स्थापना करने के कारण अर्हत् परमात्मा को तीर्थकर कहा गया है। धर्मसंघ को तीर्थ इसलिए कहा जाता है कि वह संसार सागर से पार उतारने में सहायक है। उत्तराध्ययनसूत्र में ब्रह्मचर्य को भी शान्तितीर्थ की उपमा से उपमित किया गया है और कहा गया है कि धर्मरूपी सरोवर एवं ब्रह्मचर्यरूपी शान्तितीर्थ में स्नान कर आत्मा निर्मल एवं विशुद्ध हो जाती है। विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि द्रव्यतीर्थ तो मात्र बाह्य मल या शरीर की शुद्धि करते हैं अथवा नदी, समुद्र आदि के तटरूपी तीर्थ व्यक्ति को उस पार पहुँचाने में सहायक होते हैं, वे वास्तविक तीर्थ नहीं हैं जो जीव को संसार समुद्र से पार पहुँचाते हैं, इसीलिए धर्मसंघ और साधना-मार्ग को तीर्थ कहा गया है। वस्तुतः तीर्थ तो वह है जो आत्मा के मल को धोकर उसे संसाररूपी सागर से पार कराये। शब्दकल्पद्रुम में भी तीर्थ शब्द की इसी प्रकार की आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए कहा गया है कि सत्य, क्षमा, इन्द्रिय-निग्रह, करुणा-वृत्ति, चित्त की सरलता, दान, संतोष, ब्रह्मचर्य, प्रियवचन, ज्ञान, धैर्य और पुण्य कर्म ये सभी तीर्थ हैं। इस प्रकार आध्यात्मिक दृष्टि से उन सभी सदगुणों को तीर्थ कहा गया है, जो व्यक्ति को मुक्ति की ओर ले जाते हैं।

वे क्षेत्र या भूमियाँ जो व्यक्ति को मोक्षमार्ग में आगे बढ़ने में प्रेरक या सहायभूत होती हैं, द्रव्यतीर्थ कहलाती हैं। इसी आधार पर जैन परम्परा में तीर्थ के दो

विभाग किए गए हैं - १. द्रव्यतीर्थ एवं २. भावतीर्थ। इस क्रम में भावतीर्थ को जंगम-तीर्थ एवं द्रव्यतीर्थ को स्थावर-तीर्थ भी कहा गया है। सद्गुण और उन सद्गुणों के धारक साधु-साध्वी आदि जंगम-तीर्थ हैं और तीर्थकरों की कल्याणक भूमि आदि स्थावर तीर्थ हैं। दूसरे शब्दों में धर्म की साधना करने वाला चतुर्विध संघ जंगम-तीर्थ है और तीर्थकरों की कल्याणक भूमि आदि स्थावर-तीर्थ हैं। एक अन्य दृष्टि से तीर्थों के दो भेद बताए गए हैं - (१) निश्चय-तीर्थ और (२) व्यवहार-तीर्थ। सम्यक्त्व एवं पाँच महाव्रतों की साधना से विशुद्ध आत्मा निश्चय-तीर्थ है और उन मुक्त जीवों के चरण कमलों से स्पर्शित शत्रुंजय, गिरनार, पावा आदि भी कर्मक्षय का निमित्त कारण होने से व्यवहार-तीर्थ हैं।

जैनधर्म में द्रव्य या स्थावर तीर्थों की अवधारणा का विकास क्रमिक रूप से हुआ है। सर्वप्रथम तीर्थकरों के कल्याणक क्षेत्रों को तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया। उसके पश्चात् विशिष्ट मुनियों और साधकों के निर्वाण स्थल भी तीर्थ के रूप में मान्य किए गए और उन्हें निर्वाण क्षेत्र कहा गया, अन्त में विशिष्ट चमत्कारों से युक्त जिनबिम्ब और कलात्मक दृष्टि से बने जिनचैत्य भी तीर्थ कहलाए, इन्हें अतिशय क्षेत्र कहा गया - इस प्रकार तीर्थों का विभाजन तीन रूपों में हुआ १. कल्याणक क्षेत्र २. निर्वाण क्षेत्र और ३. अतिशय क्षेत्र।

जब हम तीर्थों के इन तीन रूपों के आधार पर शंखेश्वर तीर्थ पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शंखेश्वर तीर्थ निश्चित रूप से कल्याणक क्षेत्र नहीं है और न यह किसी विशिष्ट महापुरुष का निर्वाण या साधना स्थल के रूप में तीर्थ है। वैसे तो ढाई द्वीप की एक इंच भी भूमि ऐसी नहीं है जहाँ से कोई मुक्त नहीं हुआ हो, किन्तु ये सभी तीर्थ भूमि नहीं हैं। शंखेश्वर तीर्थ को एक अतिशय क्षेत्र के रूप में ही प्राचीन काल से मान्यता प्राप्त है। शंखेश्वर तीर्थ की प्रसिद्धि मूलतः वहाँ के पार्श्वनाथ भगवान के जिनबिम्ब के अतिशयों (चमत्कारिता) के कारण ही रही है।

### शंखेश्वर तीर्थ का इतिहास

शंखेश्वर तीर्थ के इतिहास की दृष्टि से हम विचार करें तो इस तीर्थ के महत्त्व का सर्वप्रथम उल्लेख जिनप्रभसूरि के 'विविधतीर्थकल्प' नामक ग्रन्थ में मिलता है। जिनप्रभसूरि ने ई० सन् १३३२ में इस ग्रंथ की रचना की है। इस ग्रंथ में शंखेश्वर पार्श्वनाथ कल्प नामक विभाग में इस तीर्थ का विवरण निम्न रूप में प्रस्तुत किया गया है -

'पूर्व काल में एक बार राजगृह नगरी के राजा नौवें प्रतिवासुदेव जरासंध ने नौवें वासुदेव कृष्ण पर चढ़ाई करने के लिए पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया।

उसके आगमन का समाचार सुनकर कृष्ण भी अपनी सेना के साथ द्वारका से चले और राज्य की सीमा पर आकर डट गए। वहीं पर अरिष्टनेमि ने उनका पांचजन्य नामक शंख बजाया था, जिससे वह स्थान शंखपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ हुआ, तब जरासंध ने कृष्ण की सेना में महामारी फैला दी, जिससे उनकी सेना हारने लगी। इसी समय अरिष्टनेमि की सलाह पर कृष्ण ने तपस्या की और पाताल स्थित भावी तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्राप्त की। फिर उसका प्रतिमान्द्वेषण कराया गया और उसी जल को सेना पर छिड़क दिया गया, जिससे महामारी शान्त हुई, उन्होंने जरासंध को पराजित कर मार डाला। पार्श्वनाथ की उक्त प्रतिमा वहीं (शंखपुर में) स्थापित कर दी गई। कालान्तर में यह तीर्थ विच्छिन्न हो गया तथा बाद में यह प्रतिमा वहीं शंखकूप में प्रकट हुई और उसे चैत्य निर्मित कर वही स्थापित कर दी गई। इस तीर्थ में अनेक चमत्कारिक घटनाएँ हुईं। तुर्क लोग भी यहाँ उपद्रव नहीं करते हैं।’

जिनप्रभसूरि के पूर्व जैन तीर्थों का उल्लेख करने वाली जो रचनाएँ हैं, उनमें आगम और आगमिक व्याख्या साहित्य के चूर्ण के काल तक अर्थात् सातवीं शताब्दी तक हमें कहीं भी शंखेश्वर तीर्थ का उल्लेख नहीं मिलता है।

तीर्थ सम्बन्धी साहित्य में बप्पभट्टिसूरि की परम्परा में हुए यशोदेवसूरि के गच्छ के सिद्धसेनसूरि का ‘सकलतीर्थस्तोत्र’ प्राचीनतम है। यह रचना ई०सन् १०६७ की है। इसमें ५० से अधिक तीर्थों का उल्लेख हुआ है। किन्तु उस सूची में कहीं भी शंखपुर या शंखेश्वर तीर्थ का उल्लेख नहीं है, जबकि शत्रुंजय, गिरनार, मोढेरा, भृगुकच्छ आदि गुजरात के अनेक तीर्थ उसमें उल्लेखित हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि उस काल में शंखेश्वर तीर्थ की प्रसिद्धि नहीं रही होगी। किन्तु विविधतीर्थकल्प (ई०स० १३३२) में जिन तीर्थों का उल्लेख हुआ है, उनमें शंखपुर का उल्लेख है। साहित्यिक साक्ष्य की दृष्टि से शंखपुर अर्थात् शंखेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ का यह प्राचीनतम उल्लेख है। इससे पूर्व का कोई भी साहित्यिक उल्लेख हमें प्राप्त नहीं है।

सिद्धसेनसूरि के सकलतीर्थ (ई०सन् १०६७) और जिनप्रभसूरि के विविध तीर्थकल्प (ई०सन् १३३२) के मध्य अष्टोत्तरी तीर्थमाला नामक महेन्द्रसूरि कृत एक अन्य कृति भी मिलती है, जो वि०सं० १२४१ की रचना है चूँकि यह कृति हमें उपलब्ध नहीं हो सकी, इसलिए उसमें शंखेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ का उल्लेख है या नहीं यह कहना कठिन है। किन्तु यह निश्चित है कि विविधतीर्थकल्प के समय अर्थात् ई० सन् १३३२ में यह तीर्थ अस्तित्व में था। साथ ही इसकी तीर्थ रूप में प्रसिद्धि भी थी, तभी तो उन्होंने इस तीर्थ पर स्वतंत्र कल्प की रचना की। ऐतिहासिक दृष्टि से जिनप्रभसूरि के विविधतीर्थकल्प के पश्चात् उपकेशीगच्छ के कक्कसूरि रचित

नाभिनन्दनजिनोद्धार प्रबन्ध (ई०सन् १३३६) और उसके पश्चात् के अन्य तीर्थमालाओं में भी विविधतीर्थ में कथित शंखेश्वर पार्श्वनाथ तीर्थ के कथानक का यह उल्लेख यथावत् मिलता है। यद्यपि शीलांकाचार्य कृत 'चउप्पनमहापुरिसचरिअं' (ई०स० ८६८), मल्लधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि रचित 'नेमिनाहचरिअं' (१२वीं शती), कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य कृत 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र' (ई०सन् ११७२), मल्लधारगच्छीय देवप्रभसूरि कृत 'पाण्डव महाकाव्य' (ई० सन् १२१३) आदि ग्रन्थों में भी उक्त कथानक प्राप्त होते हैं। इनमें नगर का नाम शंखपुर न बताकर आनंदपुर कहा गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि परवर्ती काल में यह कथानक शंखेश्वर तीर्थ के साथ जोड़ दिया गया है। यहाँ इसे सर्वप्रथम किसने जोड़ा यह कह पाना कठिन है। शंखेश्वर पार्श्वनाथ के वर्तमान जिनालय के पूर्व इसी ग्राम में भगवान पार्श्वनाथ का इंटों का एक प्राचीन जिनालय था। जो आज भी एक खण्डहर के रूप में है - यह इस तीर्थ की प्राचीनता का पुरातात्विक आधार है। माना यह जाता है कि सिद्धराज जयसिंह के मंत्री दण्डनायक सज्जनसिंह ने शंखपुर में स्थित पार्श्वनाथ चैत्यालय का जीर्णोद्धार करवाया था। यह कार्य ई० सन् १०९८ के आस-पास सम्पन्न हुआ था। यद्यपि इस काल के ग्रंथों में इसकी कोई चर्चा नहीं है। इसकी जो भी चर्चा उपलब्ध होती है वह परवर्ती काल के ग्रंथों में ही मिलती है। वस्तुपालचरित्र से यह स्पष्ट होता है कि वस्तुपाल और तेजपाल ने भी शंखेश्वर पार्श्वनाथ जिनालय का जीर्णोद्धार करवाया था और चैत्य के शिखर पर स्वर्णकलश लगवाया था। कुछ विद्वानों की यह मान्यता है कि यह कार्य ई० सन् १२३० में सम्पन्न हुआ था, यद्यपि इस तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में कुछ मतभेद है। किन्तु जिनहर्षगणि कृत वस्तुपालचरित्र (वि०सं० १४९७) से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुपाल इस जिनालय के जीर्णोद्धारकर्ता रहे हैं, उनका सत्ता काल ई० सन् की १३वीं शती का पूर्वार्ध है। पुनः जगद्शाहचरित्र महाकाव्य से ज्ञात होता है कि बीजूवाडा के राणा दुर्जनशाह ने भी इस मंदिर का जीर्णोद्धार लगभग ई० सन् १२४५ में करवाया था, किन्तु उसी ग्रन्थ में यह भी उल्लेख है कि १४वीं शती के अन्तिम दशक में अलाउद्दीन खिलजी ने इस तीर्थ को पूरी तरह विनष्ट कर दिया था, फिर भी मूलनायक की प्रतिमा को सुरक्षित कर लिया गया था। जनसाधारण का इस जिनबिम्ब एवं तीर्थ के प्रति अत्यन्त श्रद्धाभाव था और यही कारण है कि सम्राट अकबर द्वारा गुजरात विजय ई० सन् १५७२ के तुरन्त बाद ही जैनों ने उत्साहपूर्वक पुनः इस मंदिर का जीर्णोद्धार कार्य सम्पन्न किया और इसमें राज्य की ओर से न केवल दान प्राप्त हुआ, अपितु इसकी सुरक्षा के लिए अहमदाबाद के सेठ शांतिदास को शाहजहाँ के द्वारा शाही फरमान भी प्राप्त हुआ। यह जीर्णोद्धार गंधार (गुजरात) निवासी मानशाह द्वारा हुआ था और इसकी प्रतिष्ठा विजयसेन द्वारा हुई थी। ई० सन् १५९८ से १६४२



तक के अनेक लेख इस मंदिर परिसर में उपलब्ध हुए हैं। इनमें २८ लेखों में काल निर्देश हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि ई० सन् १५९८-१६४२ तक इस जिनालय का जीर्णोद्धार होता रहा था।

वर्तमान जिनालय में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं, देहरियों और परिकरों आदि में जो लेख उत्कीर्ण हैं, वे ई० सन् ११५८ से लेकर १८४० तक के हैं। इस आधार पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि यह तीर्थ ई० सन् ११५८ में अस्तित्व में आ गया होगा। इसका अंतिम जीर्णोद्धार ई० सन् १७०४ में विजयप्रभसूरि के पट्टधर विजयरत्न सूरिश्चर जी की प्रेरणा से हुआ। वर्तमान में भी इस मन्दिर के सौन्दर्य में युगानुरूप वृद्धि हो रही है।

इस प्रकार पुरातात्विक साक्ष्यों के आधार पर इस शंखेश्वर तीर्थ का अस्तित्व ई० सन् की १२वीं शती (ई० सन् ११०० से ११५८) तक जाता है। जहाँ तक साहित्यिक साक्ष्यों का प्रश्न है ई० सन् १३३२ के पूर्व के नहीं हैं। अतः इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि यह तीर्थ ई० सन् की बारहवीं शती में अस्तित्व में आ गया था। यदि हम मूलनायक शंखेश्वर पार्श्वनाथ बिम्ब के प्रतिमा के लक्षणों पर विचार करते हैं, तो भी यह प्रतिमा ई० सन् की बारहवीं शती के लगभग की ही सिद्ध होती है। यद्यपि परम्परागत मान्यताएँ तो इसे अरिष्टनेमि के काल की मानती हैं, किन्तु यह तो आस्था का प्रश्न है, मैं इस पर कोई प्रश्नचिह्न खड़ा करना नहीं चाहता। क्योंकि परम्परा के अनुसार अरिष्टनेमि का चिह्न शंख है तथा वासुदेव के प्रतीक चिह्नों में एक शंख भी है। अतः शंख चिह्न के धारक शंखेश्वर और उनके आराध्य पार्श्वनाथ शंखेश्वर पार्श्वनाथ के नाम से अभिहित हुए- इस कथानक के आधार पर परम्परा इस तीर्थ को अरिष्टनेमि कालीन मानती है। यह आस्था अनुभूति जन्य है और एक आस्थाशील व्यक्ति के लिए तो अनुभूति ही प्रमाण होती है।



## ‘नवदिगम्बर सम्प्रदाय’ की कल्पना कितनी समीचीन?

डॉ० हम्पा नागराजैय्या का ‘जैन जनरल’, जनवरी २००८ में ‘नवदिगम्बर सम्प्रदाय’ नामक एक लेख प्रकाशित हुआ है। सामान्यतया श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं से तो हम सभी परिचित हैं। आदरणीय डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, पं० नाथूरामजी प्रेमी आदि के कुछ आलेखों तथा डॉ० कुसुम पटोरिया की ‘यापनीय परम्परा और उसका साहित्य’ एवं मेरी ‘जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ नामक पुस्तकों के प्रकाशित होने से जैन समाज का प्रबुद्ध वर्ग एवं विद्वत्जन यापनीय सम्प्रदाय से भी सुपरिचित हो चुका है। लेकिन परिणाम यह हुआ कि दिगम्बर सम्प्रदाय में मान्य अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ यापनीय परम्परा के माने जाने लगे। फलतः इन ग्रन्थों को दिगम्बर सिद्ध करने का एक उपक्रम प्रारम्भ हुआ। डॉ० नागराजैय्या का प्रस्तुत आलेख भी उसी की एक कड़ी है। इस आलेख के द्वारा डॉ० हम्पा नागराजैय्या ने एक ‘नवदिगम्बर सम्प्रदाय’ की कल्पना की है और यह बताने का प्रयास किया है कि जिन ग्रन्थों को यापनीय कहा जा रहा है, वे दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं। किन्तु उनकी यह कल्पना ऐतिहासिक साक्ष्यों पर आधारित है या नहीं? यही इस आलेख का मुख्य विचारणीय बिन्दु है। साथ ही इस आलेख में उनके द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों की समीक्षा भी की गई है।

जहाँ तक श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सम्प्रदायों का प्रश्न है, उनके सम्बन्ध में प्राचीन और मध्यकालीन अनेक साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध होते हैं। यापनीय सम्प्रदाय के सम्बन्ध में ई० सन् की ५वीं शती से लेकर लगभग १४वीं शती तक के अनेकों साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं। मेरा प्रथम प्रश्न है कि क्या इस ‘नवदिगम्बर सम्प्रदाय’ के सम्बन्ध में कोई एक भी अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध है और यदि ऐसा कोई भी साक्ष्य उपलब्ध नहीं है, तो फिर उनकी इस कल्पना की सत्यता का आधार क्या है? जहाँ तक मेरी जानकारी का प्रश्न है हमें श्वेताम्बर, निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) और यापनीय संघों के साथ-साथ कूर्चकसंघ और मूलसंघ के भी प्राचीन अभिलेखीय उल्लेख मिलते हैं। जहाँ तक मूलसंघ का प्रश्न है, वह यापनीय संघ का ही पूर्वरूप है, इसे मैंने अपनी पुस्तक ‘जैनधर्म का यापनीय

सम्प्रदाय' में अनेक प्रमाणों से सिद्ध भी किया है। यद्यपि दिगम्बर विद्वान् प्रायः उसे दिगम्बर या निर्ग्रन्थ संघ से सम्बन्धित करते हैं। उनका यह मत कितना प्रामाणिक है यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु यहाँ हम इस चर्चा में जाना नहीं चाहते हैं। इस सम्बन्ध में मैंने अपने तर्क अपनी पुस्तक 'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में दिए हैं, इच्छुक जन उन्हें वहाँ देख सकते हैं। प्रस्तुत आलेख में इस चर्चा को उठाने का अवकाश नहीं है। जहाँ तक कूर्चकसंघ का प्रश्न है, मुझे श्वेताम्बर परम्परा में कूर्चकगच्छ का उल्लेख मिला है, किन्तु यह उल्लेख एक तो परवर्ती काल का है और दूसरे इसका सम्बन्ध राजस्थान के कुचेरा नामक स्थान से रहा हुआ है, जबकि कूर्चकसंघ का अभिलेख दक्षिण का है और ५वीं शती का है। कूर्चकसंघ और कूर्चकगच्छ में कोई सम्बन्ध रहा हुआ है या नहीं, यह शोध का विषय है।

डॉ० हम्पा नागजैय्या ने अपने मत के अनुसार यापनीय, श्वेताम्बर, दिगम्बर और नवदिगम्बर- ऐसे चार सम्प्रदायों का उल्लेख किया है। नवदिगम्बर को दिगम्बर, श्वेताम्बर और यापनीय से भिन्न माना है। साहित्यिक ग्रन्थों का वर्गीकरण कर मात्र यह कहा है कि १. विमलसूरि का रामकथा से सम्बन्धित 'पउमचरियं' यापनीय परम्परा का है, २. शीलांक और हेमचंद्र के रामकथा सम्बन्धी कथानक श्वेताम्बर परम्परा के हैं, ३. जिनसेन और गुणभद्र (८९८) का 'आदिपुराण' तथा पुष्पदन्त (९६५) के रामकथा सम्बन्धी विवरण दिगम्बर परम्परा के हैं तथा ४. रविषेण का 'पद्मपुराण', पुत्राट जिनसेन का 'हरिवंश' और हरिषेण की 'वृहत्कथा'- ये कृतियाँ नवदिगम्बर सम्प्रदाय की हैं।

इस सम्बन्ध में मेरी पहली आपत्ति यह है कि क्या रविषेण, पुत्राट जिनसेन और हरिषेण ने अपनी कृतियों में अपने को या अपनी गुरु परम्परा को दिगम्बर या 'नवदिगम्बर' कहा है?

क्या 'नवदिगम्बर' का अन्य कोई भी अभिलेखीय या साहित्यिक उल्लेख है? श्वेताम्बर, दिगम्बर (निर्ग्रन्थ) और यापनीय सम्प्रदायों के तो अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्य हैं, अतः इन्हें तो सम्प्रदाय माना जा सकता है, किन्तु 'नवदिगम्बर' कोई सम्प्रदाय न तो कभी था और न है, अतः उसे किस आधार पर सम्प्रदाय माना जाए? मैं अपनी पुस्तक 'जैन धर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में इस बात को सुस्पष्ट रूप से सिद्ध कर चुका हूँ कि जहाँ तक उमास्वाति, विमलसूरि तथा सिद्धसेन दिवाकर का प्रश्न है, वे श्वेताम्बर, दिगम्बर एवं यापनीय सम्प्रदायों के स्पष्ट विभाजन के पूर्व के हैं। उनके ग्रंथों में उल्लेखित तथ्य जैनसंघ की ई० सन् प्रथम-द्वितीय शताब्दी की स्थिति

से मेल खाते हैं, तब आचार एवं विचार के क्षेत्र में आचार्यों में मतभेद तो अस्तित्व में आ गये थे, किन्तु सम्प्रदाय भेद नहीं हुआ था। सम्प्रदाय भेद के पूर्व के अभिलेखीय और पुरातात्विक प्रमाण तो हमें मथुरा के अभिलेखों और मूर्ति शिल्प में मिल जाते हैं, जो यापनीय और श्वेताम्बरों के अस्तित्व में आने के पूर्वस्थिति के सूचक हैं। उन्हें श्वेताम्बर, दिगम्बर या यापनीय नहीं कहा जा सकता है। दिगम्बर, यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा का सम्प्रदाय के रूप में विकास उसके भी दो-तीन शताब्दी बाद हुआ है।

श्वेताम्बर (श्वेतपट्ट) दिगम्बर (निर्ग्रन्थ) और यापनीय संघों के स्पष्ट उल्लेख पाँचवीं शती से मिलते हैं, उसके पूर्व नहीं। जहाँ तक प्रो० हम्पा नागराजैय्या का यह कथन कि शीलांक और हेमचन्द्र श्वेताम्बर परम्परा का तथा गुणभद्र और पुष्पदन्त दिगम्बर परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं, यह किसी भी दृष्टि से विवाद का विषय नहीं है। किन्तु उनका यह कहना कि रविषेण, पुत्राट जिनसेन और हरिषेण यापनीय न होकर नवदिगम्बर हैं, यह बात प्रमाणों के अभाव में मान्य नहीं हो सकती है। रविषेण, पुत्राट जिनसेन और हरिषेण के ग्रन्थों का यदि हम सूक्ष्मता से अध्ययन करते हैं, तो उनकी अनेक मान्यताएँ यापनीय संघ की मान्यताओं के निकट ही दिखाई देती हैं। मेरी दृष्टि में रविषेण का पद्मचरित्र, पुत्राट जिनसेन का हरिवंशपुराण और हरिषेण की बृहद्कथा- ये तीनों वस्तुतः यापनीय ही प्रतीत होते हैं। क्योंकि इनकी अनेक मान्यताएँ दिगम्बर और श्वेताम्बर-दोनों से भिन्न हैं। ऐसा सम्प्रदाय यापनीय के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता है। उनको नवदिगम्बर कहना एक स्वैरकल्पना के अतिरिक्त कुछ नहीं है, क्योंकि श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्पराओं से आंशिक समानता और आंशिक मतभेद रखने वाली एक मात्र यापनीय परम्परा ही थी, जिसके साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्य मिलते हैं।

आदरणीय डॉ० हम्पा नागराजैय्या के अनुसार रविषेण के पद्मपुराण और पुत्राट जिनसेन के हरिवंशपुराण के रामकथा सम्बन्धी कथानक दिगम्बर परम्परा से भिन्न हैं और विमलसूरि के पउमचरियं के कथानक का अनुसरण करते हैं, इस कारण वे उन्हें नवदिगम्बर परम्परा में रखना चाहते हैं। किन्तु यदि वे यह मानते हैं कि रविषेण ने पद्मचरित्र में यापनीय विमलसूरि का अनुसरण किया है, तो इस आधार पर तो उन्हें भी यापनीय मानना चाहिए न कि नवदिगम्बर। किन्तु यहाँ वे अपनी मान्यता की पुष्टि हेतु कैकयी का कथानक प्रस्तुत करते हैं। वे लिखते हैं कि दशरथ की रानी कैकयी को ‘पउमचरियं’ में मुक्ति को प्राप्त बताया गया है, चूँकि स्त्रीमुक्ति यापनीयों को मान्य है इसलिए विमलसूरि तो यापनीय हैं, किन्तु रविषेण ने अपने पद्मचरित्र में उनकी मुक्ति

का उल्लेख नहीं किया है, इसलिए वे यापनीय न होकर नवदिगम्बर हैं।' किन्तु मात्र कैकयी के निर्वाण का उल्लेख नहीं करने से वे नवदिगम्बर नहीं हो जाते हैं, पद्मचरित्र में ऐसे अनेकों तथ्य हैं जो रविषेण को यापनीय सिद्ध करते हैं। जब हम पद्मचरित्र और पद्मचरित्र का तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि रविषेण का पद्मचरित्र विमलसूरि के पद्मचरित्र का प्रायः संस्कृत रूपांतरण मात्र है। यदि प्रो० नागराजैय्या विमलसूरि को यापनीय मानते हैं तो फिर उनकी रामकथा का अनुसरण करने वाला भी यापनीय होना चाहिए। मात्र यही नहीं रविषेण ने अनेक स्थानों पर यापनीयों के समान आर्थिकाओं को मुनि के समतुल्य माना है न कि दिगम्बर परम्परा के समान उपचार चरित्र वाली या पंचमहाव्रत रूप चरित्र ग्रहण के अयोग्य। दूसरे सामान्यतया जहाँ भी उन्होंने किसी पुरुष या स्त्री की दीक्षा का उल्लेख किया है वहाँ उन्होंने उसके स्वर्ग या निर्वाण प्राप्त करने का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया, किन्तु पद्मपुराण के उपलब्ध संस्करण में कैकयी के सन्दर्भ में उनके तीन सौ स्त्रियों के साथ दीक्षा ग्रहण का उल्लेख करने के बाद 'सम्यक्त्वं धारयन्ति सुनिर्मलं' इतना कह करके सर्ग समाप्त कर दिया गया है। दूसरे यहाँ 'धारयन्ति' क्रिया पद का प्रयोग बहुवचन में हुआ है, अतः इसका सम्बन्ध सभी तीन सौ स्त्रियों के साथ है, मात्र कैकयी के साथ नहीं है। यह छियासीवाँ पर्व न तो कैकयी के स्वर्गगमन का उल्लेख करता है और न निर्वाण का। शरीरान्त के बाद उसका क्या हुआ? यह भी यहाँ नहीं बताया गया है। जबकि भरत के प्रसंग में उसकी दीक्षा के साथ उसके निर्वाण का भी उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार जब सीता की दीक्षा का उल्लेख हुआ है तो उनके भी स्वर्गगमन का उल्लेख हुआ है, तो फिर रविषेण ने यहां दीक्षा ग्रहण के बाद कैकयी का क्या हुआ इसका कोई उल्लेख क्यों नहीं किया? यदि निर्वाण का उल्लेख नहीं करना था तो कम से कम उनके स्वर्गप्राप्ति का तो उल्लेख अवश्य करना था। यहाँ यदि रविषेण मौन हैं, तो इसका क्या अर्थ लिया जाए? क्योंकि यदि प्रो० नागराजैय्या के अनुसार वे नवदिगम्बर हैं और स्त्रीमुक्ति नहीं मानते हैं, तो फिर उन्हें कैकयी के स्वर्गप्राप्ति का उल्लेख तो करना ही था। यहाँ मुझे तो ऐसा लगता है कि परवर्ती प्रतिलिपिकरों या सम्पादकों ने दिगम्बर परम्परा की पृष्टि के लिए वहाँ से उसके निर्वाण प्राप्ति की बात को हटाकर 'सम्यक्त्वं धारयन्ति सुनिर्मलं' ऐसा श्लोकांश जोड़ दिया है अथवा उसके पश्चात् उसके निर्वाण प्राप्ति के उल्लेख वाला जो एक श्लोक रहा होगा उसे ही वहां से हटा दिया है, क्योंकि इस प्रकार की प्रवृत्ति मध्ययुगीन एवं समकालीन साम्प्रदायिक आग्रह वाले विद्वत्जनों की रही है।

यह तो एक सुज्ञात तथ्य है कि षट्खण्डागम के प्रथम खण्ड के ९३ वें सूत्र में जो 'संजद' पद था उसे वहां से हटा दिया गया, क्योंकि वह स्त्रीमुक्ति का समर्थक

था। इस प्रश्न को लेकर दिगम्बर विद्वानों में ही काफी ऊहापोह भी मचा था। षट्खण्डागम की ध्वला टीका के प्रकाशित प्रथम संस्करण में तथा ताम्र पत्रों में वह शब्द आज भी नहीं है, किन्तु दूसरे संस्करण में फिर उसे जोड़ा गया। इसी प्रकार सर्वार्थसिद्धि के ज्ञानपीठ संस्करण में पूर्व के संस्करण के अनेक पदों को परिवर्तित कर दिया गया। मेरी दृष्टि में ऐसी घटना यहाँ भी घटित हुई है और कैकयी का निर्वाण सम्बन्धी अंश हटा दिया गया है। फिर भी इस ग्रन्थ के इसी पर्व में इसके यापनीय होने के अनेक तथ्य आज भी उपस्थित हैं, जैसे दिगम्बर परम्परा में आर्थिकाओं को कभी भी मुनि के समकक्ष नहीं माना गया। जबकि स्वयं कैकयी सम्बन्धी छियासीवें पर्व के अन्त में उपसंहार रूप जो तीन श्लोक दिए गए हैं उनमें स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि ‘कैकयी ने गृहस्थ धर्म रूपी जाल का त्याग करके सर्वश्रेष्ठ आर्थिका धर्म को प्राप्त किया।’ मात्र यही नहीं इन श्लोकों में आगे यह भी कहा गया है कि मुक्ति रूपी धन को प्राप्त करके या परिग्रह से मुक्त हो कर वह अर्थात् कैकयी चन्द्रमा की चाँदनी के समान कलंकहीन शोभित हुई, यहाँ पर दो संकेत हैं, एक उसकी मुक्ति का और दूसरा उसके द्वारा सर्वपरिग्रह के त्याग का—जबकि ये दोनों ही बातें तो उनके तथाकथित नवदिगम्बर सम्प्रदाय को भी मान्य नहीं होंगी। आगे उन श्लोकों में यह कहा गया है कि इधर जहाँ भिक्षुओं का संघ था, वहीं अन्य स्थान पर प्रभायुक्त आर्थिकाओं का समूह भी एकत्रित था। इस प्रकार वह सभा मुनि एवं साध्वी रूपी अनेक कमलों से सुशोभित थी। साथ ही वहाँ व्रत एवं क्रिया से समन्वित पवित्र चित्त वाले अनेक पुरुष भी थे। वस्तुतः ज्ञानरूपी सूर्य के उदय होने पर किस भव्यजन की मुक्ति नहीं होती? अर्थात् होती है। इस प्रकार इसी पर्व में स्त्री और गृही मुक्ति का अव्यक्त संकेत तो आज भी उपस्थित है। अतः रविषेण के पद्मचरित के यापनीय होने में कोई संदेह नहीं रह जाता है। डॉ० हम्पा नागराजैय्या ने श्री विजय (८६५) और पौत्र (९६५) की अनुपलब्ध राम कथाओं का उल्लेख किया है, किन्तु जब ये ग्रन्थ आज उपलब्ध ही नहीं हैं, तो इनके सम्बन्ध में यह कहना कठिन है कि वे यापनीय थे या नवदिगम्बर। यहाँ तक श्वेताम्बर आचार्य उद्योतनसूरि द्वारा अपनी पूर्वज परम्परा के विमलसूरि और यापनीय रविषेण का स्मरण करने से भी यही सूचित होता है कि रविषेण यापनीय हैं, क्योंकि श्वेताम्बरों के यापनीयों से स्नेह सम्बन्ध रहे हैं।

इसके पश्चात् डॉ० नागराजैय्या ने हरिवंशपुराण के कर्ता पुत्राट जिनसेन को नवदिगम्बर परम्परा का बताने का प्रयत्न किया है। उन्होंने यह तो स्वीकार किया है कि हरिवंशपुराण के कथानक अनेक संदर्भों में दिगम्बर परम्परा से भिन्न हैं, फिर भी वे उन्हें यापनीय न मानकर नवदिगम्बर कहना चाहते हैं। वे अपने मत की पुष्टि में कहना चाहते हैं कि हरिवंशपुराण में स्त्रीमुक्ति और केवलमुक्ति का उल्लेख नहीं है, अतः वे

श्वेताम्बर या यापनीय से भिन्न हैं अर्थात् नवदिगम्बर हैं। किन्तु हरिवंशपुराण के पैसठवें सर्ग में स्पष्ट रूप से अन्यतैर्थिकमुक्ति का उल्लेख है। अन्यतैर्थिकमुक्ति श्वेताम्बरों और यापनीयों को ही मान्य है, दिगम्बरों को नहीं। अतः हरिवंशपुराण स्पष्टतः यापनीय सिद्ध होता है उसमें स्पष्ट रूप से तापस रूप में प्रव्रजित नारद की मुक्ति का उल्लेख किया गया है। यदि डॉ० नागराजैय्या यह मानें कि नवदिगम्बर तापस वेशधारी अन्य तैर्थिकों की मुक्ति को मानते थे, तो फिर उन्हें यह भी मानना होगा कि वे प्रकारान्तर से सचेल स्त्रीमुक्ति एवं गृहीमुक्ति को भी स्वीकार करते थे और ऐसी स्थिति में नवदिगम्बर और यापनीय में कोई अंतर नहीं रह जाएगा। वस्तुतः जिन्हें वे नवदिगम्बर कहना चाहते हैं, वे यापनीय ही हैं। यापनीय श्वेताम्बर नहीं हैं, वे दिगम्बर ही हैं, क्योंकि वे भी मुनि के अचेलकत्व के दिगम्बरों की तरह ही समर्थक हैं। यापनीय दिगम्बरों की एक शाखा तो हो सकते हैं, किन्तु वे दिगम्बरों से पृथक् नहीं हैं, क्योंकि इस सम्प्रदाय के उद्भव, विकास और विलय सभी तो दिगम्बर परम्परा से सम्बद्ध है। आज उनका साहित्य, मन्दिर और मूर्तियाँ सभी तो उत्तराधिकार के रूप में दिगम्बर सम्प्रदाय को प्राप्त है। मुझे तो आश्चर्य यही है कि आज हम यापनीयों से नाक-भौं क्यों सिकोड़ते हैं और निरर्थक रूप से उनके लिए नवदिगम्बर जैसे नामों की कल्पना करते हैं। केवल अपने मनोसंतोष के लिए यापनीय आचार्य को और उनके साहित्य को नवदिगम्बर कहना कहाँ तक उचित है? क्योंकि जहाँ यापनीय सम्प्रदाय के अनेक साहित्यिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य हैं, वहाँ नवदिगम्बर का एक भी साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्य नहीं है। यदि प्रो० नागराजैय्या की दृष्टि में जिन आचार्यों और उनकी कृतियों को प्रो० उपाध्येजी, पं० नाथूरामजी प्रेमी, डॉ० कुसुम पटोरिया और मैंने यापनीय सिद्ध किया है वे सभी यदि नवदिगम्बर हैं तो फिर यापनीय साहित्य कौन-सा है? यदि नवदिगम्बर और यापनीय एक ही हैं तो 'नवदिगम्बर' शब्द का कोई अर्थ नहीं रह जाता है।

बृहत्कथाकोशकार हरिषेण को भी वे नवदिगम्बर कहते हैं, किन्तु जब हरिषेण बृहत्कथा में अणुव्रतधर गृहस्थ की मुक्ति का उल्लेख करते हैं तो फिर वे यापनीय से भिन्न कैसे हो सकते हैं। रविषेण ने अपनी जो गुरु परम्परा दी है उसमें इन्द्र और दिवाकर यति का उल्लेख किया है, गोम्मटसार की टीका में इन्द्र को श्वेताम्बर आचार्य बताया गया है, किन्तु पं० नाथूरामजी प्रेमी ने यह माना है कि इन्द्र और दिवाकर यति यापनीय थे। यापनीय परम्परा में यति विरुद्ध का प्रयोग विशेष रूप से हुआ है। वे अपने आचार्यों को 'यतिग्राम-अग्रणी' कहते थे। स्वयं शाकटायन को भी यह विरुद्ध दिया गया है। आदरणीय प्रो० नागराजैय्या जी ने मूलसंघ एवं पुत्राट संघ को दिगम्बर संघ बताया है, किन्तु मैंने अपने ग्रन्थ 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' में अनेक पुष्ट प्रमाणों

के आधार पर सिद्ध किया है कि मूलसंघ, पुत्राटसंघ दोनों ही यापनीय संघ हैं। क्योंकि पाँचवीं शताब्दी के हलसी (उत्तर-पश्चिम कर्नाटक) के अभिलेखों में दिगम्बर संघ के लिए ‘निर्ग्रन्थ संघ’ का प्रयोग हुआ है। अतः पुत्राट जिनसेन नवदिगम्बर नहीं यापनीय ही हैं।

पुनः पुत्राटसंघ यापनीय ‘पुत्रागवृक्षमूलगण’ का ही परवर्ती रूप है। यापनीयों के जिन गणों का उल्लेख अभिलेख में है, वहाँ गण के नाम के आगे ‘मूलगण’ शब्द का प्रयोग हुआ है। मूलसंघ और मूलगण समानार्थक हैं, अतः मूलसंघ वस्तुतः यापनीय संघ का ही पूर्व नाम है, कालान्तर में जब यापनीय गणों का विलय निर्ग्रन्थ-दिगम्बर परम्परा में हुआ, तब से दिगम्बर परम्परा और ‘मूलसंघ’ एक-दूसरे के पर्याय बन गये हैं।

शिवार्य की भगवती आराधना भी यापनीय ग्रन्थ, है, क्योंकि उसके टीकाकार अपराजितसूरि स्पष्टतः यापनीय हैं। भगवती आराधना के आधार पर लिखी गई वड्ड-आराधने तथा एक अन्य आराधना टीका के दिगम्बर होने से भी यह नहीं सिद्ध होता है कि मूलग्रन्थ दिगम्बर है। क्योंकि अनेक बौद्ध एवं दिगम्बर ग्रन्थों पर हरिभद्र, यशोविजय आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने टीकाएँ लिखी हैं, इससे वे बौद्ध या दिगम्बर नहीं कहे जा सकते। सन्मतितर्क और कल्याणमंदिरस्तोत्र भी नवदिगम्बर नहीं कहे जा सकते। सिद्धसेन दिवाकर को दिगम्बर परम्परा में जो स्थान मिला है, वह उनकी कृति की मूल्यवत्ता के आधार पर है। मैंने अपने ग्रन्थ ‘जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय’ में इस बात को स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि सिद्धसेन का सन्मतितर्क दिगम्बर नहीं है। वे श्वेताम्बर और यापनीय परम्परा के पूर्वज आचार्य हैं। आश्चर्य तो यह है कि इतिहास के गम्भीर विद्वान् डॉ० नागराजैय्या ने सन्मतितर्क के टीकाकार अभयदेव को दिगम्बर लिख दिया। जबकि सन्मतितर्क की अभयदेव की टीका में अभयदेव ने अपने को प्रद्युम्नसूरि का शिष्य कहा है और प्रद्युम्नसूरि चन्द्रगच्छीय हैं। मात्र यही नहीं पार्श्वनाथचरित्र की अंतिम प्रशस्ति में उन्हें स्पष्टतः श्वेताम्बर ग्रामनीय लिखा है। डॉ० नागराजैय्या की यह मान्यता कि सिद्धसेन और जटासिंहनन्दी भी नवदिगम्बर थे, सम्यक् नहीं है। क्योंकि सिद्धसेन स्पष्ट सम्प्रदाय-भेद के पूर्व के आचार्य हैं और जटासिंहनन्दी स्पष्ट यापनीय हैं। घेन नामान्त जितने भी आचार्य हैं वे सब सेन संघ के हैं, यह मान्यता भी सत्य से परे है। श्वेताम्बर, दिगम्बर तथा यापनीय तीनों ही परम्पराओं में घेन नामान्त अनेक आचार्य हुए हैं। अतः ‘घेन’ नामान्त आचार्यों को नवदिगम्बर कहना भी उचित नहीं है।

नवदिगम्बर नामक कोई सम्प्रदाय कभी अस्तित्व में नहीं रहा है। श्वेताम्बर और दिगम्बर से भिन्न और दोनों के मध्य समन्वय का सेतु बनाने वाला यदि कोई जैन



सम्प्रदाय रहा है, तो वह यापनीय दिगम्बर ही है, क्योंकि वह अचेलकत्व का समर्थक है। मुझे दुःख केवल इतना ही है कि उन्हें दिगम्बर विद्वान् अपने से पृथक् मानकर उनके नाम से ही नाक-भौंह क्यों सिकोड़ते हैं। यदि जैनाभास के रूप में उल्लेखित द्राविड़ और माथुर संघों तथा उनके साहित्य से हमें कोई विरोध नहीं है, भट्टारकों द्वारा रचित साहित्य को भी हम अपना मान लेते हैं, तो यापनीय साहित्य तथा उनके मंदिर एवं मूर्तियों को अपनाकर भी उनको यापनीय कहने में हमें क्यों संकोच होता है? और उसके लिए नवदिगम्बर जैसे नये नामकरण की क्या आवश्यकता है? वस्तुतः यापनीय ही वह मूलधारा है, जिससे दिगम्बर और श्वेताम्बर धाराओं का विकास हुआ है और जो दोनों के बीच समन्वय का सेतु बनती है। नवदिगम्बर की कल्पना भी हमारे बीच भेद रेखा को अधिक गहरा करेगी, जबकि यापनीय परम्परा हमें एक-दूसरे के निकट लायेगी जो कि युग की आवश्यकता है।



## जैन कथा-साहित्य : एक समीक्षात्मक सर्वेक्षण

कथा-साहित्य का उद्भव उतना ही प्राचीन है, जितना इस पृथ्वी पर मानव का अस्तित्व। चाहे साहित्यिक दृष्टि से कथाओं की रचना कुछ परवर्ती हो, किन्तु कथा-कथन की परम्परा तो बहुत पुरानी है। कथा-साहित्य के लिए अंग्रेजी में Narrative literature शब्द प्रचलित है, अतः आख्यान या रूपक के रूप में जो भी कहा जाता है या लिखा जाता है, वह सभी कथा के अन्तर्गत आता है। सामान्य अर्थ में कथा वह है जो कही जाती है। किन्तु जब हम कथा-साहित्य की बात करते हैं, तो उसका तात्पर्य है, किसी व्यक्ति या वस्तु के सम्बन्ध में कथित या लिखित रूप में जो भी हमारे पास है, चाहे वह किसी भी भाषा में हो, कथा के अन्तर्गत आता है। यह सत्य है कि पूर्व में कथाओं को कहने की परम्परा मौखिक रूप में रही है, बाद में उन्हें लिखित रूप दिया गया। दूसरे शब्दों में पूर्व में कथाएँ श्रुत परम्परा से चलती रही हैं, बाद में ही उन्हें लिखित रूप दिया गया है, यह बात जैन कथा-साहित्य के सन्दर्भ में भी सत्य है। जैन परम्परा में भी कथाएँ पहले अनुश्रुति के रूप में ही चलती रही हैं और यही कारण है कि लौकिक परम्पराओं के आधार पर उनमें समय-समय पर संक्षेपण, विस्तारण, परिशोधन, परिवर्तन एवं सम्मिश्रण होता रहा है, उनका स्वरूप तो उस समय स्थिर हुआ होगा, जब उन्हें लिखित स्वरूप प्रदान कर पुस्तकारूढ़ किया गया होगा।

मौखिक परम्परा के रूप में इन कथाओं ने समग्र भूण्डल की यात्राएँ की हैं और उनमें विभिन्न धर्मों एवं सामाजिक संस्कृतियों के माध्यम से आंशिक परिवर्तन और परिवर्धन भी हुआ है। विभिन्न देशों में प्रचलित कथाओं में भी आंशिक साम्य और आंशिक वैषम्य देखा जाता है, हितोपदेश और ईसप की कथाएँ इसका प्रमाण हैं। जैन कथाओं में भी इन लोक-कथाओं के अनेक आख्यान सम्मिलित हो गये हैं, जैसे-शेखचिल्ली की कथा। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि इन कथाओं के पात्र देव, मनुष्य और पशु-पक्षी सभी रहे हैं। जहां तक जैन कथाओं का प्रश्न है उनके भी मुख्य पात्र देव, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सभी देखे जाते हैं। जैन कथाओं में जैन लेखकों के द्वारा देवों एवं मनुष्यों के साथ-साथ पशु-पक्षी ही नहीं, वृक्षों और फूलों को भी रूपक बनाकर कथाओं को प्रस्तुत किया जाता रहा है। आचारांगसूत्र एवं ज्ञाताधर्मकथांगसूत्र में कछुए की रूपक कथा के साथ-साथ सूत्रकृतांगसूत्र में कमल को भी रूपक बनाकर कथा वर्णित है। लोक परम्परा में प्रेमाख्यान के रूप में हिन्दी में तोता-मैना की कहानियाँ आज

भी प्रचलित हैं, किन्तु ऐसी प्रेमाख्यान जैन परम्परा में नहीं है, उसमें पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, फल-फूल आदि के रूपक भी तप-संयम की प्रेरणा के हेतु ही हैं।

### जैन कथा-साहित्य का सामान्य स्वरूप

जैन कथा-साहित्य बहुआयामी और व्यापक है। रूपक, आख्यानक, संवाद-लघुकथाएँ, एकाकी, नाटक, खण्डकाव्य, चरितकाव्य और महाकाव्य से लेकर वर्तमान कालीन उपन्यास शैली तक की सभी कथा-साहित्य की विधाएँ उसके अन्तर्गत आ जाती हैं। आज जब हम जैन कथा-साहित्य की बात करते हैं, तो जैन परम्परा में लिखित इन सभी विधाओं के साहित्य इसके अन्तर्गत आते हैं। अतः जैन कथा-साहित्य बहुविध और बहुआयामी है।

यह कथा-साहित्य भी गद्य, पद्य और गद्य-पद्य मिश्रित चम्पू इन तीनों रूपों में मिलता है। मात्र इतना ही नहीं वह भी विविध भाषाओं और विविध कालों में लिखा जाता रहा है।

### जैन साहित्य में कथाओं के विविध प्रकार

जैन आचार्यों ने विविध प्रकार की कथाएँ तो लिखीं, फिर भी उनकी दृष्टि विकथा से बचने की ही रही है। दशवैकालिकसूत्र में कथाओं के तीन वर्ग बताये गये हैं- अकथा, कथा और विकथा। उद्देश्यविहीन, काल्पनिक और शुभाशुभ की प्रेरणा देने से भिन्न उद्देश्यवाली कथा को अकथा कहा गया है, जबकि कथा नैतिक उद्देश्य से युक्त कथा है और विकथा वह है जो विषय-वासना को उत्तेजित करे। विकथा के अन्तर्गत जैन आचार्यों ने राजकथा, भातकथा, स्त्रीकथा और देशकथा को लिया है। कहीं-कहीं राजकथा के स्थान पर अर्थकथा और स्त्रीकथा के स्थान पर कामकथा का भी उल्लेख मिलता है।

दशवैकालिकसूत्र में अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा और मिश्रकथा- ऐसा भी एक चतुर्विध वर्गीकरण मिलता है और वहाँ इन कथाओं के लक्षण भी बताये गये हैं। यह वर्गीकरण कथा के वर्ण्य विषय पर आधारित है। पुनः दशवैकालिक में इन चारों प्रकार की कथाओं में से धर्मकथा के चार भेद किये गये हैं। धर्मकथा के वे चार भेद हैं- आक्षेपनी, विक्षेपनी, संवेगिनी और निर्वेदनी। टीका के अनुसार पापमार्ग के दोषों का उद्भावन करके धर्ममार्ग या नैतिक आचरण की प्रेरणा देना आक्षेपणी कथा है। अधर्म के दोषों को दिखाकर उनका खण्डन करना विक्षेपणी कथा है। वैराग्यवर्धक कथा संवेगिनी कथा है। एक अन्य अपेक्षा से दूसरों के दुःखों के प्रति करुणाभाव उत्पन्न करने वाली कथा संवेगिनी कथा है, जबकि जिस कथा से समाधिभाव और

आत्मशांति की उपलब्धि हो या जो वासना और इच्छाजन्य विकल्पों को दूर कर निर्विकल्पदशा में ले जाये वह निर्वेदनी कथा है। ये व्याख्याएँ मैंने अपनी दृष्टि के आधार पर की हैं। पुनः धर्मकथा के इन चारों विभागों के भी चार-चार उपभेद किये गये हैं किन्तु विस्तारभय से यहाँ उस चर्चा में जाना उचित नहीं होगा। यहाँ मात्र नाम निर्देश कर देना ही पर्याप्त होगा।

(अ) अक्षेपनी कथा के चार भेद हैं- १. आचार २. व्यवहार ३. प्रज्ञप्ति और ४. दृष्टिवाद

(ब) विक्षेपनी कथा के चार भेद हैं- १. स्वमत की स्थापना कर, फिर उसके अनुरूप परमत का कथन करना २. पहले परमत का निरूपण कर, फिर उसके आधार पर स्वमत का पोषण करना ३. मिथ्यात्व के स्वरूप की समीक्षा कर फिर सम्यक्त्व का स्वरूप बताना और ४. सम्यक्त्व का स्वरूप बताकर फिर मिथ्यात्व का स्वरूप बताना।

(स) संवेगिनी कथा के चार भेद हैं- १. शरीर की अशुचिता, २. संसार की दुःखमयता और ३. संयोगों का वियोग अवश्यंभावी है- ऐसा चित्रण कर ४. वैराग्य की ओर उन्मुख करना।

(द) निर्वेदनी कथा का स्वरूप हैं- आत्मा के अनन्त चतुष्टय का वर्णन कर व्यक्ति में ज्ञाता-द्रष्टाभाव या साक्षीभाव उत्पन्न करना।

### विभिन्न भाषाओं में रचित जैन कथा-साहित्य

भाषाओं की दृष्टि से विचार करें तो जैन कथा-साहित्य प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़, तमिल, अपभ्रंश, मरुगुर्जर, हिन्दी, मराठी, गुजराती और क्वचित् रूप में बंगला में भी लिखा गया है। मात्र यही नहीं प्राकृत और अपभ्रंश में भी उन भाषाओं के अपने विविध रूपों में मिलता है। उदाहरण के रूप में प्राकृतों के भी अनेक रूपों यथा- अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि में जैन कथा-साहित्य लिखा गया है और बहुत कुछ रूप में आज भी उपलब्ध है। गुणाढ्य ने अपनी बृहत्कथा पैशाची प्राकृत में लिखी थी, यद्यपि दुर्भाग्य से आज वह उपलब्ध नहीं है। आज जो जैन कथा-साहित्य विभिन्न प्राकृत-भाषाओं में उपलब्ध है उनमें सबसे कम शौरसेनी में मिलता है, उसकी अपेक्षा अर्धमागधी या महाराष्ट्री प्रभावित अर्धमागधी में अधिक है, क्योंकि उपलब्ध आगम और प्राचीन आगमिक व्याख्याएँ इसी भाषा में लिखित हैं। महाराष्ट्री प्राकृत में जैन कथा-साहित्य उन दोनों भाषाओं की अपेक्षा विपुल मात्रा में प्राप्त होता है और इसके लेखन में श्वेताम्बर जैनाचार्यों एवं मुनियों का योगदान अधिक है।

दिगम्बर आचार्यों की रुचि अध्यात्म और कर्म-साहित्य में अधिक रही। फलतः भगवती आराधना में संलेखना के साधक कुछ व्यक्तियों के नाम निर्देश को छोड़कर उसमें अधिक कुछ नहीं मिलता है। यद्यपि कुछ जैन नाटकों में शौरसेनी का प्रयोग अवश्य देखा जाता है, इस परम्परा में हरिषेण का बृहत्कथाकोश ही एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जा सकता है, इसके अतिरिक्त आराधना कथाकोश भी है। अर्धमागधी तथा अर्धमागधी और महाराष्ट्री के मिश्रित रूप वाले आगमों और आगमिक व्याख्याओं में जैन कथाओं की विपुलता है, किन्तु उनकी ये कथाएँ मूलतः चरित्र-चित्रण रूप तथा उपदेशात्मक हैं, साथ ही वे नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास करने की दृष्टि से लिखी गई हैं। आगमिक व्याख्याओं में निर्युक्ति साहित्य में मात्र कथा का नाम-निर्देश या कथा-नायक के नाम का निर्देश ही मिलता है। इस दृष्टि से निर्युक्तियों की स्थिति भगवती आराधना के समान ही है, जिनमें हमें कथा निर्देश तो मिलते हैं, किन्तु कथाएँ नहीं हैं। कथाओं का विस्तृत रूप भाष्यों की अपेक्षा भी चूर्णि या टीका साहित्य में ही अधिक मिलता है। चूर्णियाँ जैन कथाओं का भण्डार कही जा सकती हैं। चूर्णि साहित्य की कथाएँ उपदेशात्मक तो हैं ही, किन्तु वे आचार नियमों के उत्सर्ग और अपवाद की स्थितियों को स्पष्ट करने की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। किन परिस्थितियों में कौन आचरणीय नियम अनाचरणीय बन जाता है इसका स्पष्टीकरण चूर्णि की कथाओं में ही मिलता है। इसी प्रकार विभिन्न परिस्थितियों में किस अपराध का क्या प्रायश्चित्त होगा, इसकी भी सम्यक् समझ चूर्णियों के कथानकों से ही मिलती है। इस प्रकार चूर्णिगत कथाएँ जैन आचारशास्त्र की समस्याओं के निराकरण में दिशा-निर्देशक हैं।

जहां तक महाराष्ट्री प्राकृत के कथा-साहित्य का प्रश्न है, यह मुख्यतः पद्यात्मक है और इसकी प्रधान विधा खण्डकाव्य और महाकाव्य है। यद्यपि इसमें धूर्ताख्यान जैसे कथापरक एवं गद्यात्मक ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं। इस भाषा में सर्वाधिक कथा- साहित्य लिखा गया है और अधिकांशतः यह आज उपलब्ध भी है।

प्राकृतों के पश्चात् जैन कथा-साहित्य के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ संस्कृत भाषा में भी उपलब्ध होते हैं। दिगम्बर परम्परा के अनेक पुराण, श्वेताम्बर परम्परा में हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र आदि अनेक चरित्रकाव्य संस्कृत भाषा में लिखे गये हैं। इसके अतिरिक्त जैन नाटक और दूतकाव्य भी संस्कृत भाषा में रचित हैं। दिगम्बर परम्परा में वरांगचरित्र आदि कुछ चरित्रकाव्य भी संस्कृत में रचित है। ज्ञातव्य है कि आगमों पर वृत्तियाँ और टीकाएँ भी संस्कृत भाषा में लिखी गई हैं। इनके अन्तर्गत भी अनेक कथाएँ संकलित हैं। यद्यपि इनमें अधिकांश कथाएँ वही होती हैं जो प्राकृत आगमिक व्याख्याओं में संग्रहीत हैं, फिर भी ये कथाएँ चाहे अपने वर्ण्य विषय की अपेक्षा से समान हों, किन्तु इनके प्रस्तुतीकरण की शैली तो विशिष्ट ही है। उस पर उस

युग से संस्कृत लेखकों की शैली का प्रभाव देखा जाता है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रबन्ध ग्रन्थ भी संस्कृत में लिखित हैं। संस्कृत के पश्चात् जैन आचार्यों का कथा-साहित्य मुख्यतः अपभ्रंश और उसके विभिन्न रूपों में मिलता है, किन्तु यह ज्ञातव्य है कि अपभ्रंश में भी मुख्यतः चरितकाव्य ही विशेष रूप से लिखे गये हैं। स्वयम्भू आदि अनेक लेखकों ने चरितकाव्य भी अपभ्रंश में लिखे हैं- जैसे पउमचरिउ आदि।

भाषाओं की अपेक्षा से अपभ्रंश के पश्चात् जैनाचार्यों ने मुख्यतः मरुगुर्जर अपनाया। कथा-साहित्य की दृष्टि से इसमें पर्व कथाएं एवं चरितनायकों के गुणों को वर्णित करने वाली छोटी-बड़ी अनेक रचनाएं मिलती हैं। विशेष रूप से चरितकाव्य और तीर्थमालाएं मरुगुर्जर में ही लिखी गई हैं। तीर्थमालाएं तीर्थों से सम्बन्धित कथाओं पर ही विशेष बल देती हैं। चरित, चौपाई, ढाल आदि विशिष्ट व्यक्तियों के चरित्र पर आधारित होती हैं और वे गेय रूप में होती हैं। इसके अतिरिक्त इसमें 'रासो' साहित्य भी लिखा गया है जो अर्ध-ऐतिहासिक कथाओं का प्रमुख आधार माना जा सकता है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में हिन्दी, गुजराती, मराठी और बंगला में भी जैन कथा-साहित्य लिखा गया है। महेन्द्रमुनि (प्रथम), उपाध्याय अमरमुनि एवं उपाध्याय पुष्करमुनि जी ने हिन्दी भाषा में अनेक कथाएं लिखी हैं, इसमें महेन्द्रमुनिजी ने लगभग २५ भागों में, अमरमुनिजी ने ५ भागों में और उपाध्याय पुष्करमुनिजी ने १४० भागों में जैन कथाएं लिखी हैं। एक भाग में एक से अधिक कथाएं भी वर्णित हैं। ये सभी कथाएं कथावस्तु और नायकों की अपेक्षा से तो पुराने कथानकों पर आधारित हैं, मात्र प्रस्तुतीकरण की शैली और भाषा में अन्तर है। इसके अतिरिक्त उपाध्याय केवलमुनि जी और कुछ अन्य लेखकों ने उपन्यास शैली में अनेक जैन उपन्यास भी लिखे हैं। जहां तक मेरी जानकारी है वर्तमान में पांच सौ से अधिक जैन कथाग्रन्थ हिन्दी में उपलब्ध हैं और इनमें भी कथाओं की संख्या तो सहस्राधिक होगी।

हिन्दी के अतिरिक्त जैन कथा-साहित्य गुजराती भाषा में भी उपलब्ध है, विशेष रूप से आधुनिक काल के कुछ श्वेताम्बर आचार्यों और अन्य लेखकों ने गुजराती भाषा में अनेक जैन कथाएं एवं नवलकथाएं लिखी हैं, यद्यपि इस सम्बन्ध में मुझे विशेष जानकारी तो नहीं है फिर भी जो छिटपुट जानकारी डॉ० जीतेन्द्र बी० शाह से मिली है, उसके आधार पर इतना तो कहा जा सकता है कि गुजराती भाषा में जैन कथाओं पर लगभग तीन सौ से अधिक ग्रन्थ उपलब्ध हैं। गुजराती कथा लेखकों में रतिलाल देसाई, चुन्नीलाल शाह, बेचरदास दोशी, मोहनलाल धामी, विमलकुमार धामी, कुमारपाल देसाई, धीरजलाल शाह तथा आचार्य भद्रगुप्तसूरि, भुवनभानुसूरि, शीलचन्द्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, रत्नसुंदरसूरि, चन्द्रशेखरसूरि आदि प्रमुख हैं। इसके साथ

ही दिगम्बर परम्परा में भी कुछ कथा ग्रन्थ हिन्दी एवं मराठी में लिखे गये हैं इसके अतिरिक्त गणेशजी लालवानी ने बंगला में भी कुछ जैन कथाएँ लिखी हैं।

जहाँ तक दक्षिण भारतीय भाषाओं का प्रश्न है तमिल, कन्नड़ में अनेक जैन कथा ग्रन्थ उपलब्ध हैं, इनमें तमिल ग्रन्थों में जीवकचिन्तामणि, श्रीपुराणम् आदि प्रमुख हैं। इसके साथ कन्नड़ में भी कुछ जैन कथाग्रन्थ हैं, इनमें 'आराधनाकथै' नामक एक ग्रन्थ है, जो आराधनाकथाकोश पर आधारित है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन कथा-साहित्य बहुआयामी होने के साथ-साथ विविध भाषाओं में भी रचित है। तमिल एवं कन्नड़ के साथ-साथ परवर्तीकाल में तेलगू, मराठी आदि में भी जैन ग्रन्थ लिखे गये हैं।

### विभिन्न काल खण्डों का जैन कथा-साहित्य

कालिकदृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि जैन कथा-साहित्य ई०पू० छठी शताब्दी से लेकर आधुनिक काल तक रचा जाता रहा है। इस प्रकार जैन कथा-साहित्य की रचना अवधि लगभग सत्ताइस सौ वर्ष है। इतनी सुदीर्घ कालावधि में विपुल मात्रा में जैन आचार्यों ने कथा-साहित्य की रचना की है। भाषा की प्रमुखता के आधार पर कालक्रम के विभाजन की दृष्टि से इसे निम्न पाँच काल खण्डों में विभाजित किया जा सकता है -

१. आगमयुग - ईस्वी पूर्व ६ठी शती से ईसा की पाँचवीं शती तक।
२. प्राकृत आगमिक व्याख्या युग - ईसा की दूसरी शती से ईसा की ८वीं शती तक।
३. संस्कृत टीका युग या पूर्वमध्य युग - ईसा की ८वीं शती से १४वीं शती तक।
४. उत्तर मध्य युग या अपभ्रंश एवं मरुगुर्जर युग - ईसा की १४वीं शती से १८वीं शती तक।
५. आधुनिक भारतीय भाषा युग - ईसा की १९वीं शती से वर्तमान तक।

भारतीय इतिहास की अपेक्षा से इन पाँच कालखण्डों का नामकरण इस प्रकार भी कर सकते हैं - १. पूर्व प्राचीनकाल, २. उत्तर प्राचीनकाल, पूर्व मध्यकाल, ४. उत्तर मध्यकाल और ५. आधुनिक काल। इनकी समयावधि तो पूर्ववत् ही मानना होगा। यद्यपि कहीं-कहीं कालावधि में अतिक्रमण है, फिर भी इन कालखण्डों की भाषाओं एवं विधाओं की अपेक्षा से अपनी-अपनी विशेषताएँ भी हैं। आगे हम इन कालखण्डों के कथा-साहित्य की विशेषताओं को लेकर ही कुछ चर्चा करेंगे -

प्रथम कालखण्ड में मुख्यतः अर्धमागधी प्राचीन आगमों की कथाएँ आती हैं—ये कथाएँ मुख्यतः आध्यात्मिक उपदेशों से सम्बन्धित हैं और अर्धमागधी प्राकृत में लिखी गई हैं। दूसरे ये कथाएँ संक्षिप्त और रूपक के रूप में लिखी गई हैं। जैसे—आचारांगसूत्र में शैवाल छिद्र और कछुवे द्वारा चाँदनी दर्शन के रूपक द्वारा सद्धर्म और मानव जीवन की दुर्लभता का संकेत है। सूत्रकृतांगसूत्र में श्वेतकमल के रूपक से अनासक्त व्यक्ति द्वारा मोक्ष की उपलब्धि का संकेत है। स्थानांगसूत्र में वृक्षों, फलों आदि के विविध रूपकों द्वारा मानव-व्यक्तित्व के विभिन्न प्रकारों को समझाया गया है। समवायांगसूत्र के परिशिष्ट में चौबीस तीर्थकरों के कथासूत्रों का नाम-निर्देश है। इसी प्रकार भगवती में अनेक कथा रूप संवादों के माध्यम से दार्शनिक समस्याओं का निराकरण किया गया है। इसके अतिरिक्त आचारांगसूत्र के दोनों श्रुतस्कन्धों के अन्तिम भागों में, सूत्रकृतांगसूत्र के षष्ठ अध्ययन में और भगवती में महावीर के जीवनवृत्त के कुछ अंशों को उल्लेखित किया गया है। इनके कल्पसूत्र और उसकी टीकाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि महावीर के जीवन के कथानकों में अतिशयों का प्रवेश कैसे-कैसे हुआ है।

जैन कथा-साहित्य की अपेक्षा से ज्ञाताधर्मकथा की कथाएँ अति महत्त्वपूर्ण हैं, इसमें संक्षेप रूप से अनेक कथाएँ वर्णित हैं। प्रथम मेघकुमार नामक अध्ययन में वर्तमान मुनि जीवन के कष्ट अल्प हैं और उपलब्धियाँ अधिक हैं, यह बात समझायी गयी है। दूसरे अध्ययन में धन्ना सेठ द्वारा विजय चोर को दिये गये सहयोग के माध्यम से अपवाद में अकरणीय करणीय हो जाता है, यह समझाया गया है। इसी प्रकार इसके सातवें अध्ययन में यह समझाया गया है कि योग्यता के आधार पर दायित्वों का विभाजन करना चाहिये। मयूरी के अण्डे के कथानक से समझाया गया है कि अश्रद्धा का क्या दुष्परिणाम होता है। मल्ली के कथानक में स्वर्णप्रतिमा के माध्यम से शरीर की अशुचिता को समझाया गया है। कछुवे के कथानक के माध्यम से संयमी जीवन की सुरक्षा के लिए विषयों के प्रति उन्मुख इन्द्रियों के संयम की महत्ता को बताया गया है। उपासकदशा में श्रावकों के कथानकों के माध्यम से न केवल श्रावकाचार को स्पष्ट किया गया है, अपितु साधना के क्षेत्र में उपसर्गों में विचलित रहने का संकेत भी दिया गया है। अंतकृतदशा, औपपातिकदशा में विविध प्रकार की तप साधनाओं के स्वरूप को और उनके सुपरिणामों को तथा दुराचार के दुष्परिणामों को समझाया गया है।

उपांग साहित्य में रायपसेणियसुत्त में अनेक रूपकों के माध्यम से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध किया गया है। इसी प्रकार उत्तराध्ययनसूत्र, दशवैकालिकसूत्र आदि में भी उपदेशप्रद कुछ कथानक वर्णित हैं। नन्दीसूत्र में औपपातिकी बुद्धि के अन्तर्गत रोहक की १४ और अन्य २६ ऐसी कुल ४० कथाओं, वैनियकी बुद्धि की १५,



कर्मजाबुद्धि की १२ और पारिणामिकी बुद्धि की २१ कथाओं - इस प्रकार कुल ८८ कथाओं का नाम संकेत है। इसकी टीका में इन कथाओं का विस्तृत विवेचन भी उपलब्ध होता है। किन्तु मूल ग्रन्थ में कथाओं के नाम संकेत से यह तो ज्ञात हो जाता है कि नन्दीसूत्र के कर्ता को उन सम्पूर्ण कथाओं की जानकारी थी। इस काल की जैन कथाएँ विशेष रूप से चरित्र चित्रण सम्बन्धी कथाएँ ऐतिहासिक कम और पौराणिक अधिक प्रतीत होती हैं यद्यपि उनको सर्वथा काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि उनमें वर्णित कुछ व्यक्ति ऐतिहासिक भी हैं। आगमयुग की कथाओं में कुछ चरितनायकों के ही पूर्व जन्मों की चर्चा है जिनमें अधिकांश की या तो मुक्ति दिखाई गई है या फिर भावी जन्म दिखाकर उनकी मुक्ति का संकेत किया गया है। तीर्थकरों के भी अनेक पूर्वजन्मों का चित्रण इनमें नहीं है। समवायांगसूत्र आदि में मात्र एक ही पूर्व भव का उल्लेख है। कहीं-कहीं जातिस्मरण ज्ञान द्वारा पूर्वभवों की चेतना का निर्देश भी किया गया है। आगमों में जो जीवन गाथाएँ हैं, उनमें साधनात्मक पक्ष को छोड़कर कथा विस्तार अधिक नहीं है। कहीं-कहीं तो दूसरे किसी वर्णित चरित्र से इसकी समरूपता दिखाकर कथा समाप्त कर दी गई है।

आगमयुग के पश्चात् दूसरा युग प्राकृत आगमिक व्याख्याओं का युग है। इसे उत्तर प्राचीन काल भी कह सकते हैं। इसकी कालावधि ईसा की दूसरी-तीसरी शती से लेकर सातवीं शती तक मानी जा सकती है। इस कालावधि में जो महत्त्वपूर्ण जैन कथाग्रन्थ अर्धमागधी प्रभावित महाराष्ट्री प्राकृत में लिखे गये उनमें विमलसूरि का पउमचरियं, संघदासगणि की वसुदेवहिण्डी और अनुपलब्ध तरंगवईकहा प्रमुख हैं। इस काल की अन्तिम शती में यापनीय परम्परा में संस्कृत में लिखा गया वारांगचरित्र भी आता है। यह भी कहा जाता है कि विमलसूरि ने पउमचरियं (रामकथा) के समान ही हरिवंशचरियं के रूप में प्राकृत में कृष्णकथा भी लिखी थी किन्तु यह कृति उपलब्ध नहीं है। इस काल के इन दोनों कथाग्रन्थों की विशेषता यह है कि इनमें आवान्तर कथाएं अधिक हैं। इस प्रकार इन ग्रन्थों में कथाप्ररोह शिल्प का विकास देखा जा सकता है। इस काल के कथाग्रन्थों में पूर्व भवान्तरों की चर्चा भी मिल जाती है।

स्वतन्त्र कथाग्रन्थों के अतिरिक्त इस काल में जो प्राकृत आगमिक व्याख्याओं के रूप में निर्युक्ति, भाष्य और चूर्ण साहित्य लिखे गये हैं उनमें अनेक कथाओं के निर्देश हैं। यद्यपि यहां यह ज्ञातव्य है कि निर्युक्तियों में जहां मात्र कथा संकेत है वहां भाष्य और चूर्ण में उन्हें क्रमशः विस्तार दिया गया है। धूर्ताख्यान की कथाओं का निशीथभाष्य में जहां मात्र तीन गाथाओं में निर्देश है, वहीं निशीथचूर्ण में ये कथाएं तीन पृष्ठों में वर्णित हैं। इसी को हरिभद्र ने अधिक विस्तार देकर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना कर की है।

इस काल के कथा-साहित्य की विशेषता यह है कि इसमें अन्य परम्पराओं से कथा-वस्तु को लेकर उसका युक्ति-युक्त करण किया गया है, जैसे पउमचरियं में रामचरित्र में सुग्रीव हनुमान को वानर न दिखाकर वानरवंश के मानवों के रूप में चित्रित किया गया है। इसी प्रकार रावण को राक्षस न दिखाकर विद्याधर वंश का मानव ही माना गया है। कैकयी, रावण आदि के चरित्र को अधिक उदात्त बताया गया है। साथ ही धूर्ताख्यान की कथा के माध्यम से हिन्दू पौराणिक एवं अवैज्ञानिक कथाओं की समीक्षा भी व्यंग्यात्मक शैली में की गई है। राम और कृष्ण को स्वीकार करके भी उनको ईश्वर के स्थान पर श्रेष्ठ मानव के रूप में ही चित्रित किया गया है। दूसरे आगमिक व्याख्याओं विशेष रूप से भाष्यों और चूर्णियों में जो कथाएं हैं, वे जैनाचार के नियमों और उनकी आपवादिक परिस्थितियों के स्पष्टीकरण के निमित्त हैं।

जैन कथा-साहित्य के कालखण्डों में तीसरा काल आगमों की संस्कृत टीकाओं तथा जैन पुराणों का रचना काल है। इसकी कालावधि ईसा की ८ वीं शती से लेकर ईसा की १४ वीं शती मानी जा सकती है। जैन कथा-साहित्य की रचना की अपेक्षा से यह काल सबसे समृद्ध काल है। इस कालावधि में श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय तीनों ही परम्पराओं के आचार्यों और मुनियों ने विपुलमात्रा में जैन कथा साहित्य का सृजन किया है। यह कथा-साहित्य मुख्यतः चरित्र-चित्रण प्रधान है, यद्यपि कुछ कथा-ग्रन्थ साधना और उपदेश प्रधान भी हैं। जो ग्रन्थ चरित्र-चित्रण प्रधान हैं वे किसी रूप में प्रेरणा प्रधान तो माने ही जा सकते हैं। दिगम्बर परम्परा के जिनसेन (प्रथम) का आदिपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण, रविषेण का पद्मचरित्र, जिनसेन द्वितीय का हरिवंशपुराण आदि इसी कालखण्ड की रचनाएँ हैं। श्वेताम्बर परम्परा में हरिभद्र की समराइच्चकहा, कौतूहल कवि की लीलावईकहा, उद्योतनसूरि की कुवलयमाला, सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपंचकथा, शीलांक का चउपन्नमहापुरिसचरियं, धनेश्वरसूरि का सुरसुन्दरीचरियं, विजयसिंहसूरि की भुवनसुन्दरीकथा, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू, धनपाल की तिलकमंजरी, हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, जिनचन्द्र की संवेगरंगशाला, गुणचन्द्र का महावीरचरियं एवं पासनाहचरियं, देवभद्र का पाण्डवपुराण आदि अनेक रचनाएँ हैं। इस कालखण्ड में अनेक तीर्थकरों के चरित्र-कथानकों को लेकर भी प्राकृत और संस्कृत में अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, यदि उन सभी का नामनिर्देश भी किया जाये तो आलेख का आकार बहुत बढ़ जायेगा। इस कालखण्ड की स्वतंत्र रचनाएं शताधिक ही होंगी।

यहां यह ज्ञातव्य है कि इस काल की रचनाओं में पूर्वभवों की चर्चा प्रमुख रही है। इससे ग्रन्थों के आकार में भी वृद्धि हुई है, साथ ही एक कथा में अनेक अन्तर कथाएं भी समाहित की गई हैं। इसके अतिरिक्त इस काल के अनेक स्वतंत्र ग्रन्थों और उनकी टीकाओं में भी अनेक कथाएं संकलित की गई हैं- उदाहरण के रूप में हरिभद्र की दशवैकालिक टीका में ३० और उपदेशपद में ७० कथाएं गुम्फित हैं। संवेगरंगशाला में

१०० से अधिक कथाएँ हैं। पिण्डनिर्युक्ति और उसकी मलयगिरि की टीका में भी लगभग १०० कथाएँ दी गई हैं। इस प्रकार इस कालखण्ड में न केवल मूल ग्रन्थों और उनकी टीकाओं में अवान्तर कथाएँ संकलित हैं, अपितु विभिन्न कथाओं का संकलन करके अनेक कथाकोशों की रचना भी जैनधर्म की तीनों शाखाओं के आचार्यों और मुनियों द्वारा की गई है—जैसे—हरिषेण का 'बृहत्कथाकोश', श्रीचन्द्र का 'कथा-कोश', भद्रेश्वर की 'कहावली', जिनेश्वरसूरि का 'कथा-कोष प्रकरण' देवेन्द्र गणि का 'कथामणिकोष', विनयचन्द्र का 'कथानक कोश', देवचन्द्रसूरि अपरनाम गुणभद्रसूरि का 'कथारत्नकोश' नेमिचन्द्रसूरि का 'आख्यानकमणिकोश' आदि। इसके अतिरिक्त 'प्रभावकचरित्र', 'प्रबन्धकोश', 'प्रबन्धचिन्तामणी' आदि। इसके अतिरिक्त 'प्रभावकचरित्र', 'प्रबन्धकोश', 'प्रबन्धचिन्तामणि' आदि अर्ध-ऐतिहासिक कथाओं के संग्रह रूप ग्रन्थ भी इसी काल के हैं। इसी काल के अन्तिम चरण से प्रायः तीर्थों की उत्पत्ति कथाएँ और पर्वकथाएँ भी लिखी जाने लगी थीं। पर्व कथाओं में महेश्वरसूरि की 'णाणपंचमीकहा' (वि०सं० ११०९) तथा तीर्थ कथाओं में जिनप्रभ का 'विविधतीर्थकल्प' भी इसी कालखण्ड के ग्रन्थ हैं। यद्यपि इसके पूर्व भी लगभग दशवीं शती में 'सारावली प्रकीर्णक' में शत्रुंजय तीर्थ की उत्पत्ति की कथा वर्णित है। यद्यपि अधिकांश पर्व कथाएँ और तीर्थोत्पत्ति की कथाएँ उत्तर मध्यकाल में ही लिखी गई हैं।

इसी कालखण्ड में हार्टले की सूचनानुसार ब्राह्मण परम्परा के दुर्गासिंह के पंचतंत्र की शैली का अनुसरण करते हुए वादीभसिंहसूरि नामक जैन आचार्य ने भी पंचतंत्र की रचना की थी।

ज्ञातव्य है कि जहां पूर्व मध्यकाल में कथाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश में लिखी गईं, वहीं उत्तर मध्यकाल में अर्थात् ईसा की १६वीं शती से १८वीं शती तक के कालखण्ड में मरुगुर्जर भी कथा लेखन का माध्यम बनी है। अधिकांश तीर्थमहात्म्य विषयक कथाएँ, व्रत, पर्व और पूजा विषयक कथाएँ इसी कालखण्ड में लिखी गई हैं। इन कथाओं में चमत्कारों की चर्चा अधिक है। साथ ही अर्ध-ऐतिहासिक या ऐतिहासिक रासो भी इसी कालखण्ड में लिखे गये हैं।

इसके पश्चात् आधुनिक काल आता है, जिसका प्रारम्भ १९वीं शती से माना जा सकता है। जैसा कि हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं यह काल मुख्यतः हिन्दी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित कथा-साहित्य से सम्बन्धित है। इस काल में मुख्यतः हिन्दी भाषा में जैन कथाएँ और उपन्यास लिखे गये। इसके अतिरिक्त कुछ श्वेताम्बर आचार्यों ने गुजराती भाषा को भी अपने कथा-लेखन का माध्यम बनाया। क्वचित् रूप में मराठी और बंगला में भी जैन कथाएँ लिखी गईं। बंगला में जैन कथाओं का श्रेय भी गणेश ललवानी को जाता है। इस युग

में जैन कथाओं और उपन्यासों के लेखन में हिन्दी कथाशिल्प को ही अपना आधार बनाया गया है। सामान्यतः जैन कथाशिल्प की प्रमुख विशेषता नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना ही रही है, अतः उसमें कामुक कथाओं और प्रेमाख्यानकों का प्रायः अभाव ही देखा जाता है, यद्यपि वज्जालगंगं तथा महाकाव्यों के कुछ प्रसंगों को छोड़ दें तो प्रधानता नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना की ही रही है। यद्यपि कथाओं को रसमय बनाने के हेतु कहीं-कहीं प्रेमाख्यानकों का प्रयोग तो हुआ है फिर भी जैन लेखकों का मुख्य प्रयोजन तो शान्तरस या निर्वेद की प्रस्तुति ही रहा है।

### जैन कथाओं का मुख्य प्रयोजन

जैन कथा-साहित्य के लेखन के अनेक प्रयोजन रहे हैं, यथा-

१. जन सामान्य का मनोरंजन कर उन्हें जैन धर्म के प्रति आकर्षित करना।
२. मनोरंजन के साथ-साथ नायक आदि के सदगुणों का परिचय देना।
३. शुभाशुभ कर्मों के परिणामों को दिखाकर पाठकों को सत्कर्मों या नैतिक आचरण के लिए प्रेरित करना।
४. शरीर की अशुचिता एवं सांसारिक सुखों की नश्वरता को दिखाकर वैराग्य की दिशा में प्रेरित करना।
५. किन्हीं आपवादिक परिस्थितियों में अपवाद मार्ग के सेवन के औचित्य और अनौचित्य को स्पष्ट करना।
६. पूर्व भवों या परवर्ती भवों के सुख-दुःखों की चर्चा के माध्यम से कर्म सिद्धान्त की पुष्टि करना।
७. दार्शनिक समस्याओं का उपयुक्त दृष्टान्त एवं संवादों के माध्यम से सहज रूप में समाधान प्रस्तुत करना, जैसे- आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि के लिए रायपसेणियसुत्त के कथानक में राजा के तर्क और केशी द्वारा उनका उत्तर। इसी प्रकार क्रियमान कृत या अकृत है- इस सम्बन्ध में जमाली का कथानक और उसमें भी साड़ी जलने का प्रसंग।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन कथा-साहित्य बहुउद्देशीय, बहुआयामी और बहुभाषी होकर भी मुख्यतः उपदेशात्मक और आध्यात्मिक रहा है। उसका मुख्य उद्देश्य निवृत्तिमार्ग का पोषण ही है। वह सोद्देश्य और आध्यात्मिक मूल्यों का संस्थापक रहा है और लगभग तीन सहस्राब्दियों से निरन्तर रूप से प्रवाहमान है।



## जैन जीवन-दृष्टि

### सम्यक्-जीवन-दृष्टि का विकास आवश्यक

मानव व्यक्तित्व का विकास उसकी अपनी जीवन-दृष्टि पर आधारित होता है। व्यक्ति की जैसी जीवन-दृष्टि होती है, उसी के आधार पर उसके विकास की दिशा निर्धारित होती है। कहा भी गया है कि 'यादृशी दृष्टि तादृशी सृष्टि', व्यक्ति की जिस प्रकार की जीवन-दृष्टि होती है, उसी प्रकार उसका जीवन व्यवहार भी होता है और जैसा उसका जीवन व्यवहार होता है, वैसा ही वह बन जाता है। आत्म-विकास के आकांक्षी तो सभी व्यक्ति होते हैं, किन्तु उनके विकास की दिशा सम्यक् है या नहीं यह बात उनकी सम्यक् जीवन-दृष्टि पर ही निर्भर होती है। अतः जैन दर्शन में सम्यक्-जीवन-दृष्टि के विकास पर सबसे अधिक बल दिया गया है। जब व्यक्ति का दृष्टिकोण सम्यक् होगा, तब ही उसका आचार-व्यवहार भी सम्यक् होगा। जब तक दृष्टिकोण सम्यक् नहीं होगा, तब तक व्यक्ति का ज्ञान और आचरण भी सम्यक् नहीं होगा। यही कारण है कि चाहे जैनों का त्रिविध-साधना मार्ग हो या बौद्धों का अष्टांगिक मार्ग हो उसमें प्रथम स्थान सम्यक्-दर्शन या सम्यक्-दृष्टि को ही दिया गया है। सम्यक्-दृष्टि ही व्यक्ति के आत्म-विकास की सम्यक्-दिशा निर्धारित करती है और उसी के आधार पर व्यक्ति सम्यक्-दशा को प्राप्त करता है। किन्तु यह सम्यक्-दशा अर्थात् मानव-जीवन के लक्ष्य की पूर्णता भी तभी सम्भव होगी, जब हमारे जीवन की दिशा अर्थात् जीवन जीने की पद्धति और जीवन-दृष्टि परिवर्तित होगी। यही कारण था कि महावीर ने दर्शनविशुद्धि अर्थात् जीवन जीने के सम्यक् दृष्टिकोण पर सबसे अधिक बल दिया। अतः यहां महावीर का जीवन-दर्शन अर्थात् जीवन जीने की दृष्टि क्या है? इसे समझना परमावश्यक है।

### जीवन का सम्यक् लक्ष्य : समत्व का सर्जन और ममत्व का विसर्जन

किसी भी धर्म के जीवन दर्शन के लिये सबसे पहली आवश्यकता जीवन के सम्यक् या आदर्श लक्ष्य के निर्धारण की होती है। जैन दर्शन में जीवन का लक्ष्य समभाव या समत्व की उपलब्धि बताया गया है। दूसरे शब्दों में जीवन में समत्व का अवतरण हो यही जीवन का सम्यक् लक्ष्य है। क्योंकि जैन दर्शन के अनुसार आत्मा समत्व रूप है और इस समत्व को प्राप्त कर लेना ही आत्मा का लक्ष्य है। इसी बात को आचारांगसूत्र में प्रकारान्तर से इस प्रकार कहा गया है कि 'आर्यजन समभाव को

धर्म कहते हैं', जैन धर्म के अनुसार साधना का अथ और इति दोनों ही 'समत्व' या समता है। समत्व से तात्पर्य है अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में चित्तवृत्ति में विचलन या विक्षोभ नहीं होना। गीता की भाषा में कहें तो दुःख में अनुद्विग्नता और सुख में विगत स्पृहा होना ही समता है।

सामान्यतया विभिन्न धर्मों और दर्शनों में जीवन का लक्ष्य मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति माना गया है, किन्तु यहां मोक्ष या निर्वाण का जैन दृष्टि में क्या अर्थ है यह समझ लेना आवश्यक है। जैन दर्शन में आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट रूप से कहा है कि 'मोह और शोभ से रहित आत्मा की जो समत्वपूर्ण अवस्था है, वही मोक्ष है।' व्यवहार के क्षेत्र में भी हम देखते हैं कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति तनावों से मुक्त होकर आत्मिक शान्ति को प्राप्त करना चाहता है, क्योंकि यही उसकी आंतरिक आकांक्षा या निज स्वभाव है। इस प्रकार वर्तमान परिप्रेक्ष्य में जैन दर्शन के अनुसार जीवन का सम्यक् लक्ष्य तनावों से मुक्त होना ही है। सभी प्रकार के तनाव इच्छा, अपेक्षा और भोगाकांक्षा (तृष्णा) जन्य है, अतः जैनों के जीवन-दर्शन का लक्ष्य इच्छा और आकांक्षाओं से परे समत्वपूर्ण चैतसिक अवस्था की प्राप्ति है।

मानव समाज का यह दुर्भाग्य है कि वह अपनी अन्तरात्मा से तनावों से मुक्त होना चाहता है, किन्तु उसके सारे प्रयत्न तनावों के सर्जन के लिए ही होते रहते हैं। इच्छा, आकांक्षा, राग-द्वेष, ईर्ष्या, अहंकार, कपटपूर्ण जीवन-व्यवहार आदि सभी व्यक्ति के जीवन की आत्मतुला को उद्वेलित करते रहते हैं और यही आत्म-असंतुलन या चित्तवृत्त के विक्षोभ की स्थिति उसे तनावपूर्ण स्थिति में ले जाती है। अतः जैन दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य तनावों से मुक्ति ही है, यही वास्तविक धर्म है, सम्यक् साधना है, इसे ही आत्मपूर्णता या आत्मिक शान्ति कहते हैं। सूत्रकृतांगसूत्र में कहा गया है कि सभी अर्हत् (वीतराग पुरुष) इसी आत्मिक शान्ति में ही प्रतिष्ठित हैं।

अतः यदि सार रूप में कहना हो तो जैन धर्म-दर्शन के अनुसार जीवन का लक्ष्य तनावों से मुक्ति ही है। वे सभी जीवन व्यवहार जो मेरे वैयक्तिक जीवन में, मेरे परिवार में या समाज में या राष्ट्र में अथवा समग्र विश्व में तनाव उत्पन्न कर स्वयं को व दूसरों को उद्वेलित करते हैं, वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में शान्ति भंग करते हैं, वे सभी अधर्म हैं और वे सभी प्रयत्न या उपाय जिनके द्वारा व्यक्ति इन चैतसिक विक्षोभों को या चैतसिक विचलन को समाप्त कर पाता है, वैयक्तिक एवं सामाजिक जीवन में शान्ति स्थापित करता है, वे सभी धर्म हैं, इसीलिए गीता में भी कहा गया है कि समत्व ही योग है।<sup>६</sup> इसी बात को प्रकारान्तर से भागवत में भी कहा गया है कि समत्व की आराधना ही अच्युत अर्थात् भगवान की आराधना है। इस प्रकार जैन जीवन-दर्शन का प्राथमिक सिद्धान्त है हम तनावों से मुक्त होकर जीवन जीये। वर्तमान युग में जो

भौतिकवादी, भोगवादी और उपभोक्तावादी संस्कृतियों का विकास हुआ है, उसके कारण आज व्यक्ति अधिक तनावग्रस्त होता जा रहा है। मानव आज जिसे विकास समझ रहा है, वह ही किसी दिन मानवीय सभ्यता और संस्कृति के विनाश का कारण सिद्ध होगा। अतः समत्वपूर्ण या समतावादी जीवन दृष्टि का विकास आवश्यक है।

### आत्म-स्वातंत्र्य या परमात्म स्वरूप की उपलब्धि

जैन जीवन-दर्शन का दूसरा मुख्य संदेश स्वातंत्र्य है। यहां यह समझ लेना आवश्यक है कि जैन दर्शन के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ स्वच्छन्दता नहीं है। उसके अनुसार स्वच्छन्दता अनैतिक है, पाप मार्ग है और स्वतन्त्रता नैतिकता है, धर्म है। सभी व्यक्तियों की यही आकांक्षा रहती है कि वे समस्त प्रकार की परतन्त्रताओं या बन्धनों से मुक्त हों। यहां परतन्त्रता का अर्थ है- दूसरों पर निर्भरता। यहां तक कि जैन जीवन-दर्शन पर-पदार्थों की दासता ही नहीं, ईश्वर की दासता को भी स्वीकार नहीं करता। इसी बात को एक उर्दूशायर ने इस प्रकार कहा है-

‘इंसा की बदबख्ती अन्दाज के बाहर है।

कमबख्त खुदा होकर बन्दा नजर आता है।।’

वह यह मानता है कि चाहे जो भी तत्त्व हों जो हमें दासता की ओर ले जाते हैं वे सभी हमारे सम्यक् विकास में बाधक हैं, अतः न केवल मन एवं इन्द्रियों के विषय भोगों की दासता ही दासता है, अपितु ईश्वरीय इच्छा के आगे समर्पित होकर अकर्मण्य हो जाना भी एक प्रकार की दासता ही है। जैन दर्शन उपास्य और उपासक, भक्त और भगवान के भेद को भी शाश्वत मानकर चलने को भी एक प्रकार की परतन्त्रता ही मानता है। इसलिए उसकी मुक्ति की अवधारणा यही रही है कि व्यक्ति परमात्म दशा को उपलब्ध हो जाये। ‘अप्पा सो परमप्पा’, यह उसके जीवन-दर्शन का मूल सूत्र है। वह यह मानता है कि तत्त्वतः आत्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं है सभी प्राणी परमात्मा रूप हैं। हम तत्त्वतः परमात्मा ही हैं यदि हममें और परमात्मा में कोई भेद है तो वह इतना कि हम अभी अविकास की अवस्था में हैं, हम अपने में उपस्थित उस परमात्म सत्ता को पूर्णतया अभिव्यक्त नहीं कर पा रहे हैं। जैन दर्शन की सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य परमात्म स्वरूप की उपलब्धि ही है। हममें और परमात्मा में वही अंतर है जो एक बीज और वृक्ष में होता है। बीज में वृक्ष निहित है किन्तु अभिव्यक्त नहीं हुआ है, उसी प्रकार से प्रत्येक व्यक्ति में परमात्म तत्त्व निहित है, किन्तु वह सभी पूर्णरूप से अभिव्यक्त नहीं हुआ है। बीज जब अपने आवरण को तोड़कर विकास की दिशा में आगे बढ़ता है तो वह वृक्ष का रूप ले लेता है। इसी प्रकार से व्यक्ति भी अपने कर्म रूपी आवरणों को तोड़कर परमात्मावस्था को प्राप्त

कर सकता है। परमात्मा को पाने का अर्थ अपने में निहित परमात्म तत्त्व की अभिव्यक्ति ही है, परमात्मा कोई बाह्य वस्तु नहीं है, वह तो हमारा ही शुद्ध स्वरूप है इसीलिए जैन दर्शन में परमात्मभक्ति का लक्ष्य है 'वन्दे तद्गुण लब्धये' अर्थात् परमात्म स्वरूप की उपलब्धि ही व्यक्ति की सम्पूर्ण साधना का लक्ष्य है। परमात्म सत्ता व्यक्ति से भिन्न नहीं है, वह बाहर नहीं है वह हम ही में निहित है, अतः जैन दर्शन में परमात्म भक्ति का अर्थ कोई याचना या समर्पण नहीं है, अपितु अपनी अस्मिता को पूर्ण अभिव्यक्ति देना है। किसी जैन कवि ने कहा है-

अज कुलगत केशरी रे लहरे निज सिंह निहार।

तिम प्रभु भक्ति भाव लहे रे निज आतम संभार।।

**स्वतन्त्रता व्यक्ति का स्वतःसिद्ध अधिकार है**

जैन दर्शन की मान्यता है कि स्वतन्त्रता व्यक्ति का स्वतःसिद्ध अधिकार है। हम तत्त्वतः स्वतन्त्र हैं, परतन्त्रता हमारी ममत्ववृत्ति के कारण हमारे स्वयं के द्वारा आरोपित है। दूसरे शब्दों में स्वतन्त्रता हमारा निजस्वभाव है और परतन्त्रता हमारा विभाव है, विकृत मनोदशा है। अतः विभाव को छोड़कर स्वभाव में आना ही स्वतन्त्रता की या आत्मपूर्णता की उपलब्धि है और यही जैन दर्शन के अनुसार 'मुक्ति' है, आत्मा का परमात्मा बन जाना है। परतन्त्रता 'पर' के कारण नहीं है, वह स्व आरोपित है। 'पर' में ममत्ववृत्ति या मेरेपन का आरोपण कर व्यक्ति स्वयं ही बन्धन में आ जाता है। हमारे बन्धन का हेतु या कारण हम स्वयं हैं। जैन दर्शन मानता है कि मिथ्या दृष्टिकोण, असंयम, प्रमाद (असहगता), कषाय और मन-वचन-काया की स्वछंद प्रवृत्तियों के कारण व्यक्ति बन्धन में आता है। परतन्त्रता तो स्वयं आरोपित है अतः उससे मुक्ति सम्भव है। गुलामी चाहे वह 'मन' की हो या ऐन्द्रिक विषयों की तृष्णा जनित है वह हमारे द्वारा ही आदी गई है। अतः सम्यक् जीवन-दृष्टि के विकास के साथ मुक्ति के द्वार स्वतः उद्घाटित हो जाते हैं। जैन दर्शन के अनुसार संसार में मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है, जो इस स्वयं के द्वारा आरोपित या ओढ़ी गई गुलामी से मुक्त हो सकता है, क्योंकि उसमें आत्म-सजगता, विवेकशीलता और संयमन की शक्ति है, आवश्यकता है उसे अपनी इस स्वतंत्र अस्मिता का या 'पर' निरपेक्ष स्व-स्वरूप का बोध कराने की। हमारी मोह निद्रा या अज्ञानदशा ही हमारे बंधन का हेतु है। हमें किसी दूसरी शक्ति ने बन्धन में नहीं बांध रखा है 'अपितु' हम अपनी भोगासक्ति से स्वयं ही बंध गये हैं, अतः उससे हमें स्वयं ही ऊपर उठना होगा। स्व के द्वारा आरोपित 'कारा' को स्वयं ही तोड़ फेंकना होगा। किसी विचारक ने ठीक ही कहा है -



स्वयं बंधे हैं स्वयं खुलेंगे,  
सखे न बीच में बोल।

इस प्रकार जैन जीवन-दृष्टि स्व की स्वतंत्र सत्ता के 'अस्मिता बोध' या 'स्वरूप बोध' का संदेश देती है। 'जैन जीवन-दृष्टि' की यह चर्चा व्यक्ति स्वयं की अपेक्षा से की गई है। बाह्य व्यवहार या सामाजिक जीवन दर्शन की अपेक्षा से उसने हमें तीन सूत्र दिये हैं -

- १) वैचारिक स्तर पर अनेकांत या अनाग्रह
- २) व्यवहार के स्तर पर अहिंसा
- ३) वृत्ति के स्तर पर - अपरिग्रह या असंचय या अनासक्ति'

आगे हम इनके सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा करेंगे। किन्तु इसके पूर्व जैन धर्म के इस सूत्र वाक्य को समझ लेना आवश्यक है। जैन धर्म को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि -

स्याद्वादो वर्ततेऽस्मिन्, पक्षपातो न विद्यते।

नास्त्यन्यं पीडनं किञ्चित्, जैन धर्मः स उच्यते।।

अर्थात् जैनधर्म की जीवन-दृष्टि का सार यह है कि व्यक्ति पक्षपात या वैचारिक दुराग्रहों से ऊपर उठकर अनाग्रही (स्याद्वादी) दृष्टि को अपनाये और अपने व्यवहार से किसी को किञ्चित् भी पीड़ा नहीं दे।

**अहिंसा अर्थात् जीवन का सम्मान**

जैन दर्शन में अहिंसा शब्द एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रश्नव्याकरणसूत्र में अहिंसा के निर्वाण, समाधि, शान्ति, विमुक्ति, क्षान्ति (क्षमाभाव), शिव (कल्याणकारक), पवित्र, कैवल्यस्थान आदि ६० पर्यायवाची नाम दिये हैं। संक्षेप में कहें तो वह समस्त सद्गुणों की प्रतिनिधि है। सामान्य रूप में अहिंसा का अर्थ है- जीवन जहाँ भी है और जिस रूप में भी है उसका सम्मान करो। यह मानो कि जिस प्रकार तुम्हें जीवन जीने का अधिकार है उसी प्रकार संसार के प्रत्येक प्राणी को जीवन जीने का अधिकार है। अतः जीवन के जो-जो भी रूप हैं उन्हें पीड़ा या कष्ट देने, त्रास देने उन्हें विद्रूपित करने, उन्हें प्रदूषित करने या उन्हें नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि सभी प्राणी जीना चाहते हैं, जीवन सभी को प्रिय है, कोई भी मरना नहीं चाहता है, सभी को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है, अतः किसी की हिंसा करना, दुःखी करना या त्रास देना पाप है, अनैतिक और अनुचित है। अहिंसा आर्हत प्रवचन का सार है उसे शुद्ध और शाश्वत धर्म कहा गया है। क्योंकि संसार के प्रत्येक प्राणी में

जिजीविषा प्रधान है, सभी अस्तित्व और सुख के आकांक्षी हैं - अहिंसा का आधार यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अहिंसा का अधिष्ठान भय नहीं है, जैसा कि पाश्चात्य दार्शनिक मैकेन्जी ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दू एथिक्स' में मान लिया है, क्योंकि 'भय' तो हिंसा का मूल कारण है। पारस्परिक भय और तदजन्य अविश्वास से ही हिंसा का जन्म होता है। आज विश्व में हिंसक शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा और देशों के मध्य जो शक्ति-युद्ध का वातावरण बना हुआ है उसका कारण पारस्परिक अविश्वास और भय की वृत्ति ही है, अतः जैन जीवन-दर्शन का मूल सिद्धान्त है- परस्पर अभय का विकास करो, क्योंकि पारस्परिक अभय और विश्वास से ही अहिंसा का विकास होगा। अतः अहिंसा का अधिष्ठान या मनोवैज्ञानिक आधार आत्मतुल्यता, पर-पीड़ा की आत्मवत् अनुभूति और अभयनिष्ठा ही है।

दूसरे प्राणियों के जीवित रहने और जीवन जीने के साधनों पर सभी के समान अधिकार की तार्किक स्वीकृति से ही अहिंसा का विकास सम्भव है। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की जीवन-दृष्टि ही वह तार्किक आधार है जो अहिंसा का सम्पोषक है। इस प्रकार अहिंसा की प्रतिष्ठा के मूलाधार हैं - जीवन के प्रति सम्मान, अभय की प्रतिष्ठा, समत्ववृत्ति और आत्मतुला के तार्किक आधार पर दूसरों की पीड़ा को आत्मवत् समझना।

तीसरे सामान्यतया यह मान लिया जाता है कि हिंसा नहीं करना, किसी को मारना या कष्ट नहीं देना ही अहिंसा है- यह जैन दृष्टि से अहिंसा की आधी-अधूरी अवधारणा है। हिंसा का प्रतिपक्ष अहिंसा है। यह अहिंसा निषेधात्मक परिभाषा है, लेकिन हिंसा नहीं करना मात्र अहिंसा नहीं है। निषेधात्मक अहिंसा जीवन के समग्र पक्षों का स्पर्श नहीं करती है। साथ ही हिंसा या अहिंसा का सम्बन्ध मात्र दूसरों से नहीं है। जैन चिन्तकों का कहना है कि हिंसा स्वयं की भी होती है और दूसरों की भी होती है। मात्र यही नहीं व्यक्ति पहले स्वयं की हिंसा करता है, फिर वह दूसरों की हिंसा करता है। आत्महिंसा के बिना 'पर' की हिंसा सम्भव ही नहीं है। दूसरों की हिंसा वस्तुतः अपनी हिंसा है और दूसरों के प्रति करुणा या दया अपने प्रति करुणा या दया है।

इसे अधिक स्पष्टता की दृष्टि से समझने के लिए यह जान लेना आवश्यक है कि दूसरे की हिंसा के पीछे कहीं न कहीं राग-द्वेष या क्रोध, मान, माया एवं लोभ की वृत्ति कार्य करती है - इनसे युक्त होने का अर्थ कहीं न कहीं तनावग्रस्त होना ही है, इनकी उपस्थिति हमारे आत्मिक शांति को भंग कर देती है, शास्त्रीय भाषा में कहें तो व्यक्ति स्वभाव दशा को छोड़कर विभाव दशा (तनावग्रस्त अवस्था) में आ जाता है। अपने शान्तिमय निजस्वभाव का यह परित्याग ही तो 'स्व' की हिंसा है।

एक अन्य अपेक्षा से जैन दर्शन में हिंसा के दो रूप माने गये हैं - द्रव्य हिंसा और भाव हिंसा। वैचारिक स्तर पर कषाय से कलुषित भाव या दूसरे के अहित की भावना यह भाव हिंसा है या हिंसा का मानसिक रूप है। भाव हिंसा ही द्रव्य हिंसा या हिंसा की बाह्य घटना का कारण होती है। इसीलिए जैन चिन्तकों ने यह माना कि जहाँ दुर्भाव है, दूसरे के अहित की भावना है वहाँ निश्चय ही हिंसा है, चाहे उसके परिणामस्वरूप हिंसा की घटना घटित हो या नहीं भी हो।

इसलिये जैन जीवन-दर्शन यह मानता है कि व्यक्ति को आत्मसजगता पूर्वक दूसरों के कल्याण की भावना से कार्य करना चाहिए। साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह दूसरों की मंगल भावना से सक्रिय होकर कर्म करे। अहिंसा केवल निष्क्रियता या निषेधात्मक नहीं है उसका एक सकारात्मक पक्ष भी है जो सेवा, परोपकार और लोक मंगल की भावना से जुड़ा हुआ है, उसमें नहीं मरने के साथ-साथ बचाने का भाव भी जुड़ा हुआ है, उसके पीछे लोकमंगल या परोपकार के उदात्त मूल्य भी जुड़े हैं, जो पारस्परिक हित-साधन की भावना में अपना साकार रूप ग्रहण करते हैं।

जैन दर्शन का मानना है - जीवन एक-दूसरे के सहयोग के आधार पर चलता है। जीवन जीने में परस्पर सहयोग की भावना होनी चाहिये - परस्पर संघर्ष, संहार या शोषण की भावना नहीं होनी चाहिये - यह अहिंसा के सिद्धान्त का हार्द है। जैन आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थसूत्र के पाँचवें अध्याय में लिखा है - जीवन परस्पर सहयोग के आधार पर चलता है - (परस्परपग्रहोजीवानाम्)। जीवन जीने में दूसरों का सहयोग लेना और सहयोग देना यही एक प्राकृतिक व्यवस्था है - (The Law of life is the law of cooperation) सहयोग ही जीवन का नियम है। व्यवहार या प्राकृतिक व्यवस्था की दृष्टि ही सर्वत्र कार्य करती हुई दिखाई देती है- हमें जीवन जीने के लिए प्राणवायु (ऑक्सीजन) चाहिए, वह हमें वनस्पतिजगत् से मिलती है। वनस्पतिजगत् को किसी एक मात्रा में कार्बन डाइ-ऑक्साइड चाहिए - उसका उत्सर्जन प्राणीजगत् करता है। प्राणीजगत् के अवशिष्ट मलमूत्र आदि वनस्पतिजगत् का आहार बनते हैं, तो वनस्पतिजगत् के फल आदि उत्पादन प्राणीजगत् का आहार बन जाते हैं। इस प्रकार प्रकृति का जीवन-चक्र पारस्परिक सहयोग पर चलता है और सन्तुलित बना रहता है। दुर्भाग्य से पश्चिम के एक चिन्तक डार्विन ने इस सिद्धान्त को विकास के सिद्धान्त के नाम उलट दिया। उसने कहा - 'अस्तित्व का संघर्ष और योग्यतम की विजय'। मनुष्य ने अपने को योग्यतम मानकर जीव जातियों और प्राकृतिक साधनों का दोहन किया। जीवों की अन्य प्रजातियों की हिंसा और प्रकृति के जीवन के लिए अंगीभूत या परमावश्यक हवा और पानी को प्रदूषित करने का मार्ग अपनाया। पारस्परिक अविश्वास और भय के बीज बोकर आज अपनी ही चिता तैयार कर ली है।

आज जीवन के सभी रूपों के प्रति सम्मान रूप अहिंसा और अभय के सिद्धान्त ही ऐसे हैं, जो उसके अस्तित्व को सुरक्षित रख सकते हैं। आज संसार के सभी प्राणियों को आत्मवत मानकर जीवन के सभी रूपों को, चाहे वे सुविकसित हों या अविकसित हों सम्मान देने की आवश्यकता है। साथ ही इस दृढ़निष्ठा की आवश्यकता है कि प्राणीय-जीवन के सहयोगी तत्त्वों, भूमि, जल, वायु और वनस्पति को तथा क्षुद्र जीवधारियों के विनाश करने या उन्हें प्रदूषित करने का हमें कोई अधिकार नहीं है। यही अहिंसा की प्रासंगिकता है। संक्षेप में कहें तो अहिंसा - एक दूसरे के सहयोग पूर्वक लोकमंगल करते हुए जीवन जीने की एक पद्धति है। अहिंसा केवल 'जीओ और जीने दो' के नारे तक ही सीमित नहीं है, अहिंसा का आदर्श है दूसरों के लिए जीयो, अपने क्षुद्र स्वार्थों से ऊपर उठकर दूसरों का हित-साधन करते हुए जीओ। अहिंसा संकीर्णता की भावना से ऊपर उठकर कर्तव्यबुद्धि से लोकहित करते हुए जीने का संदेश देती है।

**अनेकांतवाद, अर्थात् दूसरों के विचारों या मान्यताओं के प्रति सम्मान का भाव (Respect of other's Ideology and Faiths)**

जैन जीवन-दृष्टि का दूसरा महत्वपूर्ण सूत्र है - दूसरों के विचारों, मान्यताओं एवं सिद्धान्तों के प्रति समादर या सम्मान का भाव रखना तथा अपने से विरोधी विचारधाराओं और मान्यताओं में भी अपेक्षा भेद से सत्यता हो सकती है, इसे स्वीकार करना। जैन दर्शन यह मानता है कि सामान्यतया हमारा ज्ञान सीमित और सापेक्ष है, क्योंकि हमारे ज्ञान के साधन के रूप में हमारी इन्द्रियों का ग्रहण-सामर्थ्य सीमित और सापेक्ष है। दूसरे जिस भाषा के माध्यम से हम अपनी अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देते हैं, वह सीमित और सापेक्ष है। हमारी घ्राणेन्द्रिय का सामर्थ्य तो चींटी से बहुत कम है और हमारी भाषा अनुभूत गुड़ के स्वाद को भी अभिव्यक्ति देने में कमजोर पड़ जाती है, अतः सीमित और सापेक्ष ज्ञान वाले व्यक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरों की अनुभूतियों, मान्यताओं और विश्वासों को पूर्णतया असत्य या मिथ्या कहकर नकार दे। मेरा ज्ञान और मेरे विरोधी विचारधारा वाले व्यक्ति का ज्ञान या विश्वास भी अपेक्षा भेद से सत्य हो सकता है, यह जैन दर्शन के अनेकांतवाद का मुख्य आधार है।

अनेकांतवाद एक अनाग्रही दृष्टि का विकास करता है। वह दूसरों के विचारों, भावनाओं और धार्मिक या दार्शनिक मान्यताओं के प्रति एक सहिष्णु दृष्टि प्रदान करता है, वह वैचारिक अहिंसा है। वह यह मानता है कि सत्य का सूरज जिस प्रकार मेरे आंगन को प्रकाशित करता है, वैसे ही वह मेरे विरोधी के आंगन को भी प्रकाशित कर सकता है। एक ही वस्तु के दो विरोधी कोणों से लिए गये चित्र एक-दूसरे से भिन्न हो

सकते हैं किन्तु वे दोनों अपने-अपने कोणों से तो सत्य ही हैं। इसे ही स्पष्ट करते हुए सूत्रकृतांगसूत्र में भगवान महावीर ने कहा है कि जो लोग अपने मत की प्रशंसा करते हैं और अपने विरोधी के मत की निंदा करते हैं, उससे गर्हा करते हैं, वे वस्तुतः सत्य को विद्रूपित करते हैं, वे कभी भी जन्ममरण के इस चक्र से मुक्त नहीं हो सकते हैं। सत्य सर्वत्र प्रकाशित है, जो भी आग्रह या दुराग्रह के घेरे से उन्मुक्त होकर उसे देख पाता है, वही उसे पा सकता है। दुराग्रह या राग-द्वेष के रंगीन चश्मे पहन कर हम सत्य का साक्षात्कार नहीं कर सकते हैं। सत्य का साक्षात्कार करने के लिए एक उन्मुक्त दृष्टि का विकास आवश्यक है, सत्य मेरे या पराये के घेरे में आबद्ध नहीं है। जैन आचार्य हरिभद्र ने कहा था मुझे न महावीर के वचनों के प्रति पक्षाग्रह है और कपिल आदि के प्रति द्वेष है। जो युक्ति संगत है, समुचित है वही मुझे मान्य है। वस्तुतः पक्षों का आग्रही है वह सत्य का आग्रही नहीं हो सकता है।

पक्षाग्रह एक प्रकार का राग ही है, यह सत्य को सीमित और विद्रूपित करता है। पक्षाग्रह से ही विवादों का जन्म होता है, उसके कारण ही सामाजिक जीवन में संघर्ष उत्पन्न होते हैं। वह विग्रह, विषाद और वैमनस्य के बीजों का वपन करता है। अतः जीवन में अनाग्रही उदार दृष्टिकोण का विकास आवश्यक है। व्यावहारिक समाज-दर्शन के क्षेत्र में जैन जीवन का तीसरा सूत्र है - अनासक्त, किन्तु कर्तव्यनिष्ठ जीवन शैली का विकास। जैन दर्शन की मान्यता है कि आसक्ति या तृष्णा ही समस्त दुःखों का मूल है। तृष्णा, भोगासक्ति, इच्छा या आकांक्षा और अपेक्षा से ही तनावों का जन्म होता है, ये तनाव प्रथमतया व्यक्ति को उद्वेलित करते हैं, उद्वेलित या विक्षुब्ध व्यक्ति अपने व्यवहार से परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व को विक्षुब्ध बनाता है। दूसरे शब्दों में तृष्णा या आसक्ति न केवल वैयक्तिक जीवन की शान्ति भंग करती है, अपितु यह वैश्विक अशांति का भी मूल कारण है। इसलिए आचारांगसूत्र में कहा गया है कि जहाँ-जहाँ ममत्ववृत्ति है, वहाँ-वहाँ दुःख है ही। यह ममत्ववृत्ति (मेरेपन का भाव) ही, तृष्णा ही भोगासक्ति को जन्म देती है। भोगासक्ति से भोगेच्छा का जन्म होता है और यहीं से आकांक्षा और अपेक्षाओं का सृजन होता है। इसी के परिणामस्वरूप आज मानव प्रकृति के साथ सम्वाद संस्थापित कर जीने के सामान्य नियम भूलकर भोगवाद के एक विकृत मार्ग पर जा रहा है। आज हमने जिस उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास किया है वही एक दिन मानव जाति की संहारक सिद्ध होगी।

जैन विचारकों का कहना है कि आसक्ति या भोगासक्ति से जन्मी इस उपभोक्तावादी संस्कृति के तीन दुष्परिणाम होते हैं- १ अपहरण (शोषण) २ प्रकृति के विरुद्ध भोग की प्रवृत्ति और ३ संग्रह या परिग्रह (संचयवृत्ति)। यद्यपि इन तीनों दुष्परिणामों से बचने के लिए जैन आचारशास्त्र में तीन व्रतों की व्यवस्था की गई है-

१. अस्तेय अर्थात् दूसरों की आवश्यकता की सामग्री पर उनके अधिकार का हनन नहीं करना।

२. भोग और उपभोग की एक मर्यादा/सीमा रेखा निर्धारित करना अर्थात् जीने के लिए खाना, न कि खाने के लिए जीना।

३. परिग्रह या संचय की एक सीमा निर्धारित करना अर्थात् आवश्यकता से अधिक संचय नहीं करना यद्यपि इन तीनों आचार नियमों के पीछे एक ही जीवन-दृष्टि रही हुई है और वह है संयमित जीवन शैली का विकास।

यह सत्य है कि जीवन जीने के लिए भोगोपभोग आवश्यक है और भोगोपभोग के लिए संचय आवश्यक है, किन्तु जैन जीवन दर्शन का कहना है कि यह मर्यादित ही होना चाहिये। असीमित भोगाकांक्षा और संचयवृत्ति हमारे जीवन में तनाव या विक्षोभ उत्पन्न करती है, वैयक्तिक जीवन की समता को और वैश्विक शांति को भंग करती है, अतः इन पर नियन्त्रण आवश्यक है और तभी सम्यक् जीवन-दृष्टि का विकास सम्भव होगा। यह ठीक है कि भोग आवश्यक है, किन्तु वह त्यागपूर्वक, संयमपूर्वक या मर्यादापूर्वक ही होना चाहिए-इसके लिए ईशावास्योपनिषद् का 'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' का सूत्र वाक्य ही हमारा मार्गदर्शक हो सकता है। दूसरे आज हम भोग के प्राकृतिक साधनों का अमर्यादित दोहन कर एक उपभोक्तावादी संस्कृति को अपना रहे हैं, इस उपभोक्ता जीवन-दृष्टि के कारण आज हम आवश्यकता के अनुरूप उत्पादन की बात भूलकर इच्छाओं के उद्वेलन के द्वारा अधिकतम उपभोग के लिए अधिकतम उत्पादन और अधिकतम मौद्रिक लाभ के सिद्धान्त पर चल रहे हैं। आज के उत्पादन का सूत्र वाक्य है- 'अनावश्यक मांग बढ़ाओं अपना माल खपाओ और अधिकतम मुनाफा कमाओ।'

जैन दर्शन कहता है कि हमारी आवश्यकताएं क्या हैं, इसके निर्णायक हम नहीं, प्रकृति या हमारी दैहिक संरचना है। भोग इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं, अपितु संयमी जीवन की दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए है। आपको जीवन-जीने का अधिकार है किन्तु तब तक जब तक आपका शरीर साधना में सहायक है आपका जीवन दूसरों के लिए भार रूप नहीं बना है। जैन जीवन-दृष्टि के अनुसार भोग और त्याग दोनों संयमित जीवन जीने के लिए हैं - अमर्यादित जीवन जीने के लिए नहीं।

साथ ही संचयवृत्ति भी व्यक्ति की आवश्यकता पर आधारित है न कि उसकी असीम तृष्णा पर। जैन दर्शन कहता है कि जितनी आवश्यकता है, उतना ही संचय करो। इस सम्बन्ध में महाभारत का निम्न श्लोक हमारा मार्गदर्शक है। कहा है-

यावत् श्रियते जठरं तावत् स्वत्वं देहीनाम् ।

अधिकोयोऽभिमन्यते स्तेन एव सः।।

अर्थात् पेट के लिए जितना आवश्यक है उतने पर ही व्यक्ति का अधिकार है जो इससे अधिक पर अपना अधिकार जमाता है वह 'चोर' है।

जैन दर्शन इससे भी एक कदम आगे बढ़ कर कहता है- जो धन, सम्पत्ति आदि पर पदार्थ हैं, उन पर हमारा कोई स्वामित्व हो ही नहीं सकता। 'पर' को अपना मानना उस पर मालिकाना हक जताना मिथ्यादृष्टि है। अधिकतम हमें आवश्यकतानुरूप उनके 'उपयोग' का अधिकार है, स्वामित्व का अधिकार नहीं है ( We have only use right of them, not the ownership) दूसरे यह भी कहा जाता है कि यदि 'पर-पदार्थों के प्रति आसक्ति या रागभाव नहीं होगा - उदासीनवृत्ति होगी तो फिर जीवन में सक्रियता समाप्त हो जायेगी, व्यक्ति अकर्मण्य बन जायेगा, क्योंकि रागात्मकता या ममत्त्ववृत्ति या स्वामित्व की भावना ही व्यक्ति को सक्रिय बनाती है। इसके उत्तर में जैन जीवन-दृष्टि एक सूत्र देती है कि - कर्तव्यबुद्धि (Sense of duty) से जीओ न कि ममत्त्वबुद्धि (Sense of attachment) से। इस सम्बन्ध में जैन परम्परा में निम्न दोहा प्रचलित है - जो उसकी जीवन-दृष्टि को स्पष्ट कर देता है -

सम्यक् दृष्टि जीवड़ा करे कुटुम्ब परिपाल।

अन्तरसून्यारो रहे, ज्युं धाया खिलावेबाल।।

इस कथन का सार यह है 'कर्तव्यबुद्धि से जीवन जीओ, ममत्व से नहीं।'



## विक्रमादित्य की ऐतिहासिकता : जैन साहित्य के सन्दर्भ में

भारतीय इतिहास में अवन्तिकाधिपति विक्रमादित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। मात्र यही नहीं उनके नाम पर प्रचलित विक्रम संवत् का प्रचलन भी लगभग सम्पूर्ण देश में है। लोकानुश्रुतियों में भी उनका इतिवृत्त बहुचर्चित है। परवर्ती काल के शताधिक ग्रन्थों में उनका इतिवृत्त उल्लेखित है। फिर भी उनकी ऐतिहासिकता को लेकर इतिहासज्ञ आज भी किसी निर्णयात्मक स्थिति में नहीं पहुँच पा रहे हैं। इसके कुछ कारण हैं- प्रथम तो यह कि विक्रमादित्य विरुद के धारक अनेक राजा हुए हैं अतः उनमें से कौन विक्रम संवत् का प्रवर्तक है, यह निर्णय करना कठिन है क्योंकि वे सभी ईसा की चौथी शताब्दी के या उसके भी परवर्ती हैं। दूसरे विक्रमादित्य मात्र उनका एक विरुद है, वास्तविक नाम नहीं है। दूसरे विक्रम संवत् के प्रवर्तक विक्रमादित्य का कोई भी अभिलेखीय साक्ष्य ९ वीं शती से पूर्व का नहीं है विक्रम संवत् के स्पष्ट उल्लेख पूर्वक जो अभिलेखीय साक्ष्य है वह ई० सन् ८४१ (विक्रम संवत् ८९८) का है। उसके पूर्व के अभिलेखों में यह कृत् संवत् या मालव संवत् के नाम से ही उल्लेखित है। तीसरे विक्रमादित्य के जो नवरत्न माने जाते हैं, वे भी ऐतिहासिक दृष्टि से विभिन्न कालों के व्यक्ति हैं।

विक्रमादित्य के नाम का उल्लेख करने वाली हाल की गाथासप्तशती की एक गाथा को छोड़कर कोई भी साहित्यिक साक्ष्य नौवीं-दसवीं शती के पूर्व का नहीं है। विक्रमादित्य के जीवनवृत्त का उल्लेख करने वाले शताधिक ग्रन्थ हैं, जिनमें पचास से अधिक कृतियाँ तो जैनाचार्यों द्वारा रचित हैं उनमें कुछ ग्रन्थ को छोड़कर लगभग सभी बारहवीं-तेरहवीं शती के या उससे भी परवर्ती काल के हैं। यही कारण है कि इतिहास उनके अस्तित्व के सम्बन्ध में संदिग्ध है। किन्तु जैन स्रोतों में विक्रमादित्य के सम्बन्ध में जो सूचनाएं उपलब्ध हैं, उनकी विश्वसनीयता को पूरी तरह नकारा भी नहीं जा सकता है। यह सत्य है कि जैनागमों में विक्रमादित्य सम्बन्धी कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। जैन साहित्य में विक्रम संवत् प्रवर्तक विक्रमादित्य का सम्बन्ध दो कथानकों से जोड़ा जाता है - प्रथम तो कालकाचार्य की कथा से और दूसरा सिद्धसेन दिवाकर के कथानक से। इसके अतिरिक्त कुछ पट्टावलियों में भी विक्रमादित्य का उल्लेख है। उनमें यह बताया गया है कि महावीर के निर्वाण के ४७० वर्ष पश्चात्



विक्रम संवत् का प्रवर्तन हुआ और यह मान्यता आज बहुजन सम्मत भी है। यद्यपि कहीं ४६६ वर्ष और ४५दिन पश्चात् विक्रम संवत् का प्रवर्तन माना गया है। तिलोयपण्णत्ति का जो प्राचीनतम (लगभग-पांचवी-छठी शती) उल्लेख है उसमें वीर निर्वाण के ४६१ वर्ष पश्चात् शक राजा हुए- ऐसा जो उल्लेख है उसके आधार पर यह तिथि अधिक उचित लगती है, क्योंकि कालक कथा के अनुसार भी वीर निर्वाण के ४६१ वर्ष पश्चात् कालकसूरि ने गर्दभिल्ल को सत्ता से च्युत कर उज्जैनी में शक शाही को गद्दी पर बिठाया और चार वर्ष पश्चात् गर्दभिल्ल के पुत्र विक्रमादित्य ने उन्हें पराजित कर पुनः उज्जैन पर अपना शासन स्थापित किया। पुनः वीर निर्वाण के ६०५ वर्ष और पांच माह पश्चात् शकों ने मथुरा पर अपना अधिकार कर शक शासन की नींव डाली और शक संवत् का प्रवर्तन किया। इस बार शकों का शासन अधिक स्थायी रहा। इसका उन्मूलन चन्द्रगुप्त द्वितीय ने किया और विक्रमादित्य का विरुद्ध धारण किया। मेरी दृष्टि में उज्जैनी के शक-शाही को पराजित करने वाले का नाम विक्रमादित्य था, जबकि चन्द्रगुप्त द्वितीय की यह एक उपाधि थी। प्रथम ने शकों से शासन छीनकर अपने को 'शकारि' विरुद्ध से मण्डित किया था। क्योंकि शकों ने उसके पिता का राज्य छीना था अतः उसके शक अरि या शत्रु थे, अतः उसका अपने को शकारि कहना अधिक संगत था। दूसरे विक्रमादित्य ने अपने शौर्य से शकों को पराजित किया था अतः विक्रम= पौरुष का सूर्य था।

यद्यपि निशीथचूर्णि में कालकाचार्य की कथा विस्तार से उपलब्ध है, किन्तु उसमें गर्दभिल्ल द्वारा कालक की बहन साध्वी सरस्वती के अपहरण, कालकाचार्य द्वारा सिन्धु देश (परिसकूल) से शकों को लाने, गर्दभिल्ल की गर्दभी विद्या को विफल कर गर्दभिल्ल को पराजित कर और सरस्वती को मुक्त कराकर पुनः दीक्षित करने आदि के ही उल्लेख हैं। उसमें विक्रमादित्य सम्बन्धी कोई उल्लेख नहीं है। जैन साहित्य में विक्रमादित्य सम्बन्धी हमें जो रचनाएँ उपलब्ध हैं उनमें बृहत्कल्पचूर्णि (७वीं शती), प्रभावकचरित्र (१२३४ ई०), प्रबन्धकों (१३३७), प्रबन्धचिन्तामणि (१३०५ ई०), पुरातन प्रबन्ध संग्रह, कहावली (भद्रेश्वर), शत्रुञ्जय महात्म्य, लघु शत्रुञ्जयकल्प, विविधतीर्थकल्प (१३३२) विधि कौमुदी, अष्टाहिक व्याख्यान, दुषमाकाल, श्रमण संघस्तुति, पट्टावली सारोद्धार, खरतरगच्छ सूरि परम्परा प्रशस्ति, विषापहारस्तोत्र भाष्य, कल्याणमन्दिरस्तोत्र, सप्ततिकावृत्ति विचारसार प्रकरण, विक्रमचरित्र आदि अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमें विक्रमादित्य का इतिवृत्त किञ्चित् भिन्नताओं के साथ उपलब्ध है। खेद मात्र यही है ये सभी ग्रन्थ प्रायः सातवीं शती के पश्चात् के हैं। यही कारण है कि इतिहासज्ञ इनकी प्रामाणिकता पर संशय करते हैं। किन्तु आचार्य हस्तीमल जी ने दस ऐसे तर्क प्रस्तुत किये हैं जिससे इनकी प्रामाणिकता पर विश्वास किया जा सकता है।

उनके कथन को मैंने अपनी शब्दावली में आगे प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है (देखें- जैन धर्म का मौलिक इतिहास, खण्ड २, पृ० ५४५-५४८)

- (१) विक्रम संवत् आज से दो सहस्राब्दियों से कुछ अधिक काल से प्रवर्तित है। आखिर इसका प्रवर्तक कोई भी होगा-बिना प्रवर्तक के इसका प्रवर्तन तो सम्भव नहीं है और यदि अनुश्रुति उसे विक्रमादित्य (प्रथम) से जोड़ती है तो उसे पूरी तरह अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता है। मेरी दृष्टि में अनुश्रुतियां केवल काल्पनिक नहीं होती हैं।
- (२) विक्रमादित्य से सम्बन्धित अनेक कथाएं आज भी जन साधारण में प्रचलित हैं, उनका आखिर कोई भी तो आधार रहा होगा। केवल उन आधारों को खोज न पाने की अपनी अक्षमता के आधार पर उन्हें मिथ्या तो नहीं कहा जा सकता है। जिस इतिहास का इतना बड़ा जनाधार है उसे सर्वथा मिथ्या कहना भी एक दुस्साहस ही होगा।
- (३) प्राचीन प्राकृत ग्रन्थ गाथासप्तशती, जिसे विक्रम की प्रथम-द्वितीय शती में सातवाहनवंशी राजा हाल ने संकलित किया था- उसमें विक्रमादित्य की दानशीलता का स्पष्ट उल्लेख है। यह उल्लेख चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य के सम्बन्ध में या उससे परवर्ती अन्य विक्रमादित्य उपाधिधारी राजा के सम्बन्ध में नहीं हो सकता है, क्योंकि वे इस संकलन से परवर्ती काल में हुए हैं, अतः विक्रम संवत् की प्रथम शती से पूर्व कोई अवन्ती का विक्रमादित्य नामक राजा हुआ है यह मानना होगा। यहां यह भी ज्ञातव्य है कि विक्रमादित्य हाल के किसी पूर्वज सातवाहन वंशी राजा से युद्ध क्षेत्र में आहत होकर मृत्यु को प्राप्त हुए थे। वह गाथा निम्न है-

संवाहणसुहस्स तोसिएण, देन्तेण तुहकरे लम्बं।

चलणेण विक्कमाइच्च चरिअ मणुसिक्खिअं तिस्सा।।

-गाथासप्तशती ४६७

- (४) सातवाहन वंशी राजा हाल के समकालीन गुणाढ्य ने पैशाची प्राकृत में 'बृहत्कथा' की रचना की थी। उसी आधार पर सोमदेवभट्ट ने संस्कृत में 'कथा-सरित्सागर' की रचना की-उसमें भी विक्रमादित्य के विशिष्ट गुणों का उल्लेख है (देखें- लम्बक ६ तरंग १ तथा लम्बक १८ तरंग १)

- (५) भविष्यपुराण और स्कन्दपुराण में भी विक्रम का जो उल्लेख है, वह नितान्त काल्पनिक है- ऐसा नहीं कहा जा सकता है। भविष्यपुराण खण्ड २ अध्याय २३ में जो विक्रमादित्य का इतिवृत्त दिया गया है- वह लोक परम्परा के अनुसार विक्रमादित्य को भट्टहरि का भाई बताता है तथा उनका जन्म शकों के विनाशार्थ हुआ ऐसा उल्लेख करता है। अतः इस साक्ष्य को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता है।
- (६) गुणाढ्य (ई० सन् ७८) द्वारा रचित बृहत्कथा के आधार पर क्षेमेन्द्र द्वारा रचित बृहत्कथामंजरी में भी विक्रमादित्य का उल्लेख है। उसमें भी म्लेच्छ, यवन, शकादि को पराजित करने वाले एक शासक के रूप में विक्रमादित्य का निर्देश किया गया है।
- (७) श्री मद्भागवत स्कन्ध १२ अध्याय १ में जो राजाओं की वंशावली दी गई है, उसमें 'दशगर्दभनोः नृपाः' के आधार पर गर्दभिल्ल वंश के दस राजाओं का उल्लेख है। जैन परम्परा में विक्रम को गर्दभिल्ल के पुत्र के रूप में उल्लेखित किया गया है।
- (८) विक्रम संवत् के प्रवर्तक के पूर्व जो राजा हुए उसमें किसी ने विक्रमादित्य ऐसी पदवी धारण नहीं की। जो भी राजा विक्रमादित्य के पश्चात् हुए हैं उन्होंने ही विक्रमादित्य का विरुद्ध धारण किया है- जैसे सातकर्णी गौतमी पुत्र (लगभग ई० सन् प्रथम-द्वितीय शती) चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (ई० सन् चतुर्थ शती) आदि-इन्होंने विक्रमादित्य की यशोगाथा को सुनकर अपने को उसके समान बताने हेतु ही यह विरुद्ध धारण किया है। अतः गर्दभिल्ल पुत्र विक्रमादित्य इनसे पूर्ववर्ती हैं।
- (९) वाणभट्ट के पूर्ववर्ती कवि सुबन्धु ने वासवदत्ता के प्रास्ताविक श्लोक १० में विक्रमादित्य की कीर्ति का उल्लेख किया है।
- (१०) ई०पू० की मालवमुद्राओं में मालवगण का उल्लेख है, वस्तुतः विक्रमादित्य ने अपने पितृराज्य पर पुनः अधिकार मालवगण के सहयोग से ही प्राप्त किया था, अतः यह स्वाभाविक था कि उन्होंने मालव संवत् के नाम से ही अपने संवत् का प्रवर्तन किया। यही कारण है कि विक्रम संवत् के प्रारम्भिक उल्लेख मालव संवत् या कृत् संवत् के नाम से ही मिलते हैं।
- (११) विक्रमादित्य को सभा के जो नवरत्न थे, उनमें क्षपणक के रूप में जैनमुनि का भी उल्लेख है, कथानकों में इनका सम्बन्ध सिद्धसेन

दिवाकर से जोड़ा गया है, किन्तु सिद्धसेन दिवाकर के काल को लेकर स्वयं जैन विद्वानों में भी मतभेद है, अधिकांश जैन विद्वान् भी उन्हें चौथी-पाँचवी शती का मानते हैं, किन्तु जहां तक जैन पट्टावलियों का सम्बन्ध है, उनमें सिद्धसेन का काल वीर निर्वाण संवत् ५०० बताया गया है; इस आधार पर विक्रमादित्य और सिद्धसेन की समकालिकता मानी जा सकती है।

- (१२) मुनि हस्तिमलजी ने इनके अतिरिक्त एक प्रमाण प्राचीन अरबी ग्रन्थ से अरुल ओकूल (पृ० ३१५) का दिया था- जिसमें विक्रमतुन के उल्लेखपूर्वक विक्रम की यशोगाथा वर्णित है। इस ग्रन्थ का काल विक्रम संवत् की चौथी-पाँचवी शती है। यह हिजरी सन् से १६५ वर्ष पूर्व की घटना है।

इस प्रकार विक्रमादित्य (प्रथम) को मात्र काल्पनिक व्यक्ति नहीं कहा जा सकता है। मेरी दृष्टि में गर्दभिल्ल के पुत्र एवं शकशाही से उज्जैनी के शासन पर पुनः अधिकार करने वाले विक्रमादित्य एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है, इसे नकारा नहीं जा सकता है। उन्होंने मालवगण के सहयोग से उज्जैनी पर अधिकार किया था यही कारण है कि यह प्रान्त आज भी मालव देश कहलाता है।

- (१३) जैन परम्परा में विक्रमादित्य के चरित्र को लेकर जो विपुल साहित्य रचा गया है, वह भी इस तथ्य की पुष्टि करता है कि किसी न किसी रूप में विक्रमादित्य (प्रथम) का अस्तित्व अवश्य रहा है। विक्रमादित्य के कथानक को लेकर जैन परम्परा में निम्न ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं-

- (१) विक्रमचरित्र- यह ग्रन्थ काशहृदगच्छ के देवचन्द्र के शिष्य देवमूर्ति द्वारा लिखा गया है। इसकी एक प्रतिलिपि में प्रतिलिपि लेखन संवत् १४९२ उल्लेखित है, इससे यह सिद्ध होता है यह रचना उसके पूर्व की है। इस ग्रन्थ का एक अन्य नाम सिंहासन-द्वात्रिंशिका भी है। इसका ग्रन्थ परिमाण ५३०० है। कृति संस्कृत में है।
- (२) विक्रमचरित्र नामक एक अन्य कृति भी उपलब्ध है। इसके कर्ता पं० सोमसूरी हैं। ग्रन्थ परिमाण ६००० है।
- (३) विक्रमचरित्र नामक तीसरी कृति साधुरत्न के शिष्य राजमेरु द्वारा संस्कृत गद्य में लिखी गई है। इसका रचना काल वि०सं० १५७९ है।

- (४) विक्रमादित्य के चरित्र से सम्बन्धित 'पञ्चदण्डातपत्रछत्र-प्रबन्ध' नामक चौथी कृति है। यह कृति सार्ध पूर्णिमागच्छ के अभयदेव के शिष्य रामचन्द्र द्वारा वि०सं० १४९० में लिखी गई थी। यह एक लघुकृति है। इसकी अनेक प्रतियां विभिन्न भण्डारों में उपलब्ध हैं। वेबर ने इसे १८७७ में बर्लिन से प्रकाशित भी किया है।
- (५) 'पञ्चदण्डात्मक विक्रमचरित्र' नामक अज्ञात लेखक की एक अन्य कृति भी मिलती है। इसका रचना काल १२९० या १२९४ है।
- (६) 'पञ्चदण्डछत्रप्रबन्ध' नामक एक अन्य विक्रम चरित्र भी उपलब्ध होता है, जिसके कर्ता पूर्णचन्द्र बताये गये हैं।
- (७) श्री जिनरत्नकोश की सूचनानुसार-सिद्धसेन दिवाकर का एक 'विक्रमचरित्र' भी मिलता है। यदि ऐसा है तो निश्चय ही विक्रमादित्य के अस्तित्व को सिद्ध करने वाली यह प्राचीनतम रचना होगी। केटलॉग केटागोरम भाग प्रथम के पृ० सं० ७१७ पर इसका निर्देश उपलब्ध है। यह अप्रकाशित है और कृति के उपलब्ध होने पर ही इस सम्बन्ध में विशेष कुछ कहा जा सकता है।
- (८) इसी प्रकार 'विक्रम नृप कथा' नामक एक कृति के आगरा एवं कान्तिविजय भण्डार, बड़ौदा में होने की सूचना प्राप्त होती है कृति को देखे बिना इस सम्बन्ध में विशेष कुछ कहना संभव नहीं है।
- (९) उपरोक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त 'विक्रम प्रबन्ध' और 'विक्रम प्रबन्ध कथा' नामक दो ग्रन्थों की और सूचना प्राप्त होती है। इसमें विक्रम प्रबन्ध कथा के लेखक श्रुतसागर बताये गये हैं। यह ग्रन्थ जयपुर के किसी जैन भण्डार में उपलब्ध है।
- (१०) 'विक्रमसेन चरित' नामक एक अन्य प्राकृत भाषा में निबद्ध ग्रन्थ की भी सूचना उपलब्ध होती है। यह ग्रन्थ पद्मचन्द्र नामक किसी जैन मुनि के शिष्य द्वारा लिखित है। पाटन केटलॉग भाग १ के पृ० १७३ पर इसका उल्लेख है।
- (११) 'विक्रमादित्य चरित्र' नामक दो कृतियां उपलब्ध होती हैं, उनमें प्रथम के कर्ता रामचन्द्र बताये गये हैं। मेरी दृष्टि में यह कृति वही है, जिसका उल्लेख 'पञ्चदण्डातपत्रछत्र-प्रबन्ध' के नाम से किया जा

चुका है। दूसरी कृति के कर्ता तपागच्छ के मुनि सुन्दरसूरि के शिष्य शुभशील बताये गये हैं। इसका रचनाकाल वि०सं० १४९० है।

- (१२) पूर्णचन्द्रसूरि के द्वारा रचित 'विक्रमादित्य पञ्चदण्ड-प्रबन्ध' नामक एक अन्यकृति का उल्लेख भी 'जिनरत्नकोश' में हुआ है। यह एक लघु कृति है इसके ग्रन्थांक ४०० हैं।
- (१३) 'विक्रमादित्य धर्मलाभादि प्रबन्ध' के कर्ता मेरूतुंगसूरि बताये गये हैं। इसके भी कान्तिविजय भण्डार, बड़ौदा में होने की सूचना प्राप्त होती है।
- (१४) जिनरत्नकोश में विद्यापति के 'विक्रमादित्य प्रबन्ध' की सूचना भी प्राप्त है। उसमें इस कृति के सम्बन्ध में विशेष निर्देश उपलब्ध नहीं होते हैं।
- (१५) 'विक्रमार्क विजय' नामक एक कृति भी प्राप्त होती है। इसके लेखक के रूप में 'गुणार्णव' का उल्लेख हुआ है।

इस प्रकार जैन भण्डारों से विक्रमादित्य से सम्बन्धित पन्द्रह से अधिक कृतियों के होने की सूचना प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त मरुगुर्जर और पुरानी हिन्दी में भी विक्रमादित्य पर कृतियों की रचना हुई है। इसमें तपागच्छ के हर्षविमल ने वि०सं० १६१० के आस-पास 'विक्रम रास' की रचना की थी। इसी प्रकार उदयभानु ने वि०सं० १५६५ में 'विक्रमसेन रास' की रचना की। प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर में भी विक्रमादित्य की चौपाई की अपूर्ण प्रति उपलब्ध है। इस प्रकार जैनाचार्यों ने प्राकृत संस्कृत, मरुगुर्जर और पुरानी हिन्दी में विक्रमादित्य पर अनेक कृतियों की रचना की है-ऐसी अनेकों कृतियों का नायक पूर्णतया काल्पनिक व्यक्ति नहीं माना जा सकता है।



## षट्जीवनिकाय की अवधारणा: एक वैज्ञानिक विश्लेषण

षट्जीवनिकाय की अवधारणा जैनों की विशिष्ट अवधारणा है। इस षट्जीवनिकाय की अवधारणा के अन्तर्गत निम्न छः प्रकार के जीव माने गये हैं— १. पृथ्वीकायिक जीव, २. अप्कायिक जीव, ३. तेजस्कायिक जीव, ४. वायुकायिक जीव, ५. वनस्पतिकायिक जीव और ६. त्रसकायिक जीव। षट्जीवनिकाय के सन्दर्भ में जैन दर्शन में प्राचीनतम उल्लेख आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन, उत्तराध्ययन के छत्तीसवें जीवाजीवविभक्ति नामक अध्ययन और दशवैकालिकसूत्र के चतुर्थ षट्जीवनिकाय नामक अध्ययन में मिलता है। यद्यपि सर्वप्रथम आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन के दूसरे से सातवें उद्देशकों में इन छः प्रकार के जीवों का निर्देश हुआ है, किन्तु आचारांगसूत्र में एक विशेषता यह हमें देखने को मिलती है कि वहाँ इनके लिये कायिक शब्द का प्रयोग न करके उसके स्थान पर सत्यकथा का प्रयोग हुआ है। 'सत्य' शब्द का संस्कृत रूप एवं अर्थ शस्त्र होता है, अतः आचारांगसूत्र के निर्देशानुसार ये छः प्रकार के शस्त्र हैं, जिससे स्वकाय की और अन्यकाय की हिंसा की जाती है। किन्तु जिज्ञासुओं के द्वारा यहाँ यह शंका अवश्य ही उठाई जा सकती है कि उन्हें शस्त्र क्यों कहा गया। यह ठीक है कि जीवित प्राणी भी हिंसा की क्रिया अपने शरीर आदि के माध्यम से करते हैं, किन्तु इसके अतिरिक्त अजीव द्रव्य भी हिंसा के साधन बनते ही हैं अर्थात् अजीव द्रव्य भी शस्त्र रूप में परिणत हो सकते हैं। जिज्ञासुओं के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हो सकता है कि यदि आचारांगसूत्र में पृथ्वी आदि शस्त्र कहे गये हैं तो इससे उनमें जीवत्व की सिद्धि नहीं हो सकती है? जबकि जैन दर्शन पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु को भी जीव रूप मानता है। पुनः चाहे आचारांगसूत्र में अलग से पृथ्वीकायिक अप्कायिक जीव आदि का उल्लेख न हो किन्तु उसमें प्रथम अध्याय के अन्त में 'षट्जीवनिकाय' ऐसा उल्लेख तो है ही, अतः इस शंका को कोई अवकाश नहीं है।

ज्ञातव्य है कि पुराकाल से लेकर अब तक भारतीय चिन्तन के प्रायः सभी दर्शनों (चार्वाक को छोड़कर) में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश ये पञ्चमहाभूत माने गये हैं और इन पञ्चमहाभूतों को सांख्य आदि दर्शन में सामान्य तथा अजीव ही माना गया है, किन्तु वैदिक काल में पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु इन चार को देव

संज्ञा भी प्रदान की गई थी और इन्हें पृथ्वी देवता, आपदेवता, अग्निदेवता वायुदेवता के रूप में पूज्य भी माना गया है। यदि इनमें देवत्व का आरोपण किया जाता है तो यह सत्य है कि इन्हें सजीव भी मानना होगा, क्योंकि देव तो सजीव या सचेतन है। इस आधार पर कुछ विचारकों ने यहां तक कह दिया कि वैदिकों ने जिन्हें देवता के रूप में स्वीकार किया था उन्हें ही जैन दर्शन में जैनों ने जीव के रूप में स्वीकार कर लिया। जैन दर्शन में षट्जीव निकायों में पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु—ये चार सजीव माने गये, फिर भी यहां मूलभूत अंतर यह है कि जहां वैदिक परम्परा में इनमें देवत्व का आरोपण करके एक उच्च भूमिका प्रदान की गई वहीं जैन दर्शन में इन्हें ऐकेन्द्रिय जीव मानकर इनको जीवनी शक्ति के विकास की दृष्टि से प्राथमिक स्तर पर ही रखा गया। यदि जैनों को वैदिकों का अनुशरण ही करना था, तो उन्होंने इनमें देवत्व का आरोपण क्यों नहीं किया? यह प्रश्न अनुत्तरित ही रहता है। दूसरे यह कि वैदिक परम्परा में इनमें देवत्व का आरोहण कर इन्हें एक ही माना गया था, किन्तु जैन दर्शन में पृथ्वीकायिक, अप्कायिक और अग्निकायिक जीवों की संख्या तो असंख्य मानी गई और वनस्पति कायिक की अनन्त। अतः यह बात पूरी तरह सिद्ध नहीं हो पाती है कि पृथ्वी, अप्, वायु और अग्नि को जीव मानने में जैनों ने वैदिकों का ही प्रकारान्तर से अनुशरण मात्र किया है।

वैदिक परम्परा में जहाँ भी उपनिषद्काल में पञ्चमहाभूतों की चर्चा आई है वहाँ पञ्चमहाभूतों को जड़ या भौतिक ही माना गया है, साथ ही जिन-जिन तथाकथित आस्तिक दर्शनों में इन पञ्चमहाभूतों की चर्चा हुई है उन सभी ने इन्हें जड़ या अजीव तत्त्व ही माना है। इसके विपरीत भारतीय चिन्तन में जैन धर्म-दर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो पञ्चमहाभूतों में से आकाश को मात्र जड़ मानता है और शेष पृथ्वी, अप्, वायु और अग्नि इन चार को सजीव मानता है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी इन्हें जड़तत्त्व के रूप में स्वीकार किया है। यद्यपि आधुनिक विज्ञान जब विज्ञान के विकास की बात करता है तो वह जल को ही जीवन के विकास का आधारभूत तत्त्व मानता है फिर भी आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि अपने आप में तो जड़ ही है। भारतीय दर्शनों और वैज्ञानिकों दोनों की दृष्टि से पञ्चमहाभूतों में आकाश को जड़ माना गया है जैनों ने भी उसे जड़ ही कहा है। इस सन्दर्भ में जैन दर्शन, अन्य भारतीय दर्शनों और विज्ञान में विशेष मतभेद की बात नहीं है, किन्तु जहाँ तक पृथ्वी अप् (जल) अग्नि और वायु का प्रश्न है वह तो इन्हें सजीव ही मानता है, यह भी सत्य है कि वनस्पति में जीवन है। इस बात को लेकर जैन दर्शन का अन्य भारतीय दर्शनों और विज्ञान से कोई मतभेद नहीं है, सभी वनस्पति को सजीव ही मानते हैं। जगदीशचन्द्र बशु ने तो अनेकों प्रयोगों के माध्यम से वनस्पति की जीवन्तता को सिद्ध कर दिया है,



अतः प्रस्तुत आलेख में हमारी चर्चा का मुख्य विषय - वनस्पति को छोड़कर शेष पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु इन चार की जीवन्तता के सन्दर्भ में ही है।

पृथ्वी, अप् (जल), वायु और अग्नि ये चार जैन आगम आचारांगसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र और दशवैकालिकसूत्र में सजीव ही कहे गये हैं और इनका वर्गीकरण भी जीवों के वर्गीकरण के सन्दर्भ में ही हुआ है। प्रस्तुत आलेख में हम आगे विज्ञान की दृष्टि से यह सिद्ध करने का प्रयत्न करेंगे कि पृथ्वी आदि यदि सजीव हैं तो वे कैसे और किस रूप में सजीव हैं।

ज्ञातव्य है कि आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्याय के साथ-साथ दशवैकालिकसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र आदि में जैन आचार्यों ने षट्जीवनिकाय के अन्तर्गत पृथ्वी आदि को सजीव बतलाने की दृष्टि से उसके साथ कायिक शब्द का प्रयोग किया है, यथा- पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, वायुकायिक जीव, अग्निकायिक जीव आदि। अतः सबसे प्रथम यह समझ लेना आवश्यक है कि इनमें जीवत्व की सिद्धि इनके कायिकत्व अर्थात् जीवित शरीर के आधार पर ही की जा सकती है। यद्यपि यहां प्रश्न खड़ा किया जा सकता है कि 'काय' शब्द तो जैन आचार्यों के द्वारा जीवों के अतिरिक्त धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, आकाशास्तिकाय आदि अजीव द्रव्यों के साथ भी किया गया है, अतः पृथ्वीकाय आदि में 'काय' शब्द जीवत्व का वाचक नहीं हो सकता है। जैसी कि परम्परागत मान्यता है, 'काय' शब्द विस्तार, प्रसार आदि के अर्थ में प्रसिद्ध है जिसका आकाश में भी कोई विस्तार या प्रसार है वह भी जैन दर्शन में 'काय' शब्द से वाच्य है। पृथ्वी, अग्नि आदि में भी 'काय' शब्द विस्तार का सूचक है, जीवत्व का नहीं। जैन परम्परा में जिसका भी कोई विस्तार देखा जाता है- उसको काय कहते हैं। पृथ्वी आदि तत्त्व भी आकाश के समान विस्तार युक्त होने से पृथ्वीकाय आदि के रूप में प्रयुक्त-हुये हैं, किन्तु इससे उनके सजीवत्व की पुष्टि नहीं होती है।<sup>१</sup>

'काय' शब्द का एक अर्थ शरीर भी है, अतः इस सन्दर्भ में हमें थोड़ी गहराई में जाना होगा। अजीव द्रव्यों के सन्दर्भ में जहाँ 'काय' शब्द का प्रयोग हुआ है वहाँ निश्चय ही उसका अर्थ विस्तरित द्रव्य है, किन्तु जैन दर्शन में काय के तीन प्रकार माने गये हैं- १ सचित्त २ अचित्त और मिश्र। अतः 'काय' शब्द सजीव और अजीव दोनों प्रकार के लिये भी प्रयुक्त होता है जैसे जीवास्तिकाय सजीव के लिए और पुद्गलास्तिकाय अजीव के लिए है। यह मानने में भी जैनों को कोई आपत्ति नहीं है कि काय निर्जीव भी होता है, किन्तु वे यह भी मानते हैं कि काय सचित्त अर्थात् सजीव भी हो सकता है, जैसे जीवित प्राणी का शरीर भी सजीव होता है। इसलिए जैन दार्शनिकों ने षट्जीवनिकायों

की चर्चा करते हुए पृथ्वीकायिक जीव ऐसे व्यापक शब्द का प्रयोग किया है। जब हम षट्जीवनिकाय शब्द का प्रयोग करते हैं तो उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वहाँ यह प्रयोग सचित्त/सजीव जीवों के लिए ही है। दशवैकालिकसूत्र के षट्जीवनिकाय अध्ययन में स्पष्ट रूप से पृथ्वीकायिक जीव ऐसा प्रयोग भी देखा जाता है, साथ ही उसमें 'पुढ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं' ऐसा पाठ हमें मिलता है। इसका शब्दशः हिन्दी अर्थ है - पृथ्वीचित्त अर्थात् चेतना। पृथ्वीकायिक जीव अनेक हैं उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता है। दशवैकालिक में यहाँ पृथ्वी, अप्, तेजस और वायु इन चारों को ही स्पष्ट रूप से सजीव बताया गया है और यह भी कहा गया है कि अन्यत्र आचारांगसूत्र में उन्हें जो शस्त्र कहा गया है वह उनकी सजीवता का वाचक है। स्वयं आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के सप्तम उद्देशक के अन्त में भी षट्जीवनिकाय शब्द का निर्देश है। यहाँ जीव+निः+काय में काय शब्द काय के जीवत्व का वाचक है। आचारांगसूत्र में इनके लिए 'शस्त्र' शब्द का प्रयोग हुआ है इसकी पुष्टि दशवैकालिकसूत्र करता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि दशवैकालिकसूत्र आचारांगसूत्र की दृष्टि का समर्थक है। उत्तराध्ययनसूत्र में भी पृथ्वी, अप्, वायु और अग्नि के जीवों के प्रकारों की चर्चा हुई है और यह कहा गया है कि ये चारों प्रकार के जीव सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के हैं। पृथ्वीकायिक आदि सूक्ष्मजीव तो लोक में ठसाठस भरे हुए हैं लेकिन ये हमें दिखाई नहीं देते हैं। जैन दार्शनिक सूक्ष्म और स्थूल दोनों प्रकार के पृथ्वीकायिक आदि जीवों की सजीवता को मानते हैं। यद्यपि यहाँ यह स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है कि पृथ्वीकायिक जीव, अप्कायिक जीव, तेजसकायिक जीव और वायुकायिक जीव चाहे वे सूक्ष्म हों अर्थात् मानवीय आंखों से दृश्य न हों अथवा स्थूल हों दोनों ही जीवन से युक्त होते हैं।

यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि जब विज्ञान और अन्य दर्शन उन्हें निर्जीव मान रहे हैं तो उनमें जीवन की सिद्धि किस प्रकार की जाए? इस सम्बन्ध में मेरा तर्क अन्य लोगों से कुछ भिन्न है, अन्य चिन्तकों के मुझसे भिन्न तर्क भी हो सकते हैं, किन्तु मेरा तर्क जिस ठोस आधार पर खड़ा हुआ है, वह वैज्ञानिक है। सर्वप्रथम मेरी मान्यता यह है कि पृथ्वी, अप् आदि तभी सजीव हैं जब वे किसी जीव के काय रूप में परिणत हैं, इसके विपरीत यदि कोई जीव जब उस काय का परित्याग कर देता है तो वह पृथ्वीकाय निर्जीव हो जाता है अर्थात् जीव द्वारा गृहीत पृथ्वीतत्त्व जिसे उसने अपने शरीर के रूप में परिणत किया है जब तक जीवित है वह सजीव है और जीवों द्वारा त्यक्त शरीर में रहा हुआ पृथ्वी तत्त्व मात्र पुद्गल पिण्ड होने से निर्जीव है। इसे हम निम्न उदाहरण से स्पष्ट कर सकते हैं- किसी प्राणी के शरीर में जो हड्डी है वह हड्डी जब तक उस जीवित शरीर का अंग बनी हुई है सजीव है यद्यपि वह कैल्शियम या चूने

का ही एक रूप है, किन्तु वह हड्डी के रूप में परिणत चूना सजीव है। इसी प्रकार किसी प्राणी के शरीर में जो लोहतत्त्व है वह सजीव है किन्तु मृत शरीर में रहा हुआ लोह तत्त्व या चूना निर्जीव है। इसका एक प्रमाण यह है कि यदि किसी जीवित शरीर की हड्डी टूट जाती है और यदि उसे सटा दिया जाये तो वह कालान्तर में पुनः जुड़ जाती है। मृत शरीर की हड्डी को अथवा जीवित शरीर से बाहर निकाली गई हड्डी को चाहे हम कितना ही समीप रख दे वह जुड़ नहीं पाती है। इसी प्रकार प्राणी के शरीर में परिणत लोह आदि धातुएं अथवा प्राणी के शरीर का जलीय तत्त्व अथवा प्राणी शरीर का वायुतत्त्व या प्राणी शरीर का अग्नि तत्त्व- ये सब तब तक जीवित हैं जब तक जीव उस शरीर को छोड़ नहीं देता है। प्रत्येक प्राणी के शरीर में पृथ्वी, अप्, तेजस और वायुतत्त्व ये चारों तत्त्व होते हैं, किन्तु जब तक ये चारों तत्त्व उस शरीर के अंगीभूत हैं उन्हें जीवित ही मानना होगा। संक्षेप में कहें तो किसी भी प्राणी के चाहे वह स्थूल हो वा सूक्ष्म उसके शरीर रूप में परिणित पृथ्वीतत्त्व, अप्तत्त्व, अग्नि तत्त्व और वायुतत्त्व ये सजीव हैं, यह मान्यता तर्कसंगत और विज्ञान सम्मत लगती है।

कोई भी जीवित शरीर अपने अस्तित्व को इन चारों तत्त्वों के अभाव में नहीं रख सकता है। जीव जब तक संसार में है वह शरीरयुक्त है और जो भी जीवित शरीर हैं वे कहीं-न-कहीं इन चारों तत्त्वों से ही बने हैं, अतः जीवित शरीर में उपस्थित इन चारों तत्त्वों को सजीव मानना ही होगा।

मेरी दृष्टि में जैन दार्शनिकों ने पृथ्वी आदि के साथ जो 'काय' शब्द का प्रयोग किया है वह इसी अर्थ को द्योतित करता है कि जीवित शरीर में परिणित हुए पृथ्वी आदि महाभूत स्वयं जीवित हैं। यह बात अलग है कि पृथ्वी आदि चारों तत्त्व शरीर में किस रूप में और कितनी मात्रा में अपना अस्तित्व रख रहे हैं, जैसे किसी प्राणी का शरीर रुधिर आदि से युक्त होता है तो किसी के शरीर में रुधिर आदि की स्थिति नहीं भी पाई जाती है, किन्तु उनमें पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु ये चारों तत्त्व होते हैं, यह ध्यान रखने योग्य है कि जहाँ भी सजीव शरीर है और वह जिन तत्त्वों से बना है वे तत्त्व भी सजीव शरीर के रूप में जीवित ही हैं, मृत नहीं। पृथ्वी, अप्, अग्नि और वायु इन चार का ग्रहण और इन चारों का शस्त्र रूप में प्रयोग कोई भी प्राणी अपने अस्तित्व के लिये ही करता है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि - 'इमस्सचैवजीविय्याए' अर्थात् ये जीवन के लिए हैं इनका ग्रहण और इनका शस्त्र रूप में प्रयोग, इनकी हिंसा, ये सब शरीर से सम्बन्धित हैं और जो जीवित शरीर से सम्बन्धित क्रियाएं हैं वे निर्जीव या मृत कैसे कही जा सकती हैं।

इस समस्त चर्चा के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि ये चारों तत्त्व जब किसी जीवित शरीर रूप में हैं तो वे सजीव

हैं, उदाहरण के रूप में मानव शरीर में मिट्टी, चूना, लोहा, सोना आदि तत्त्व सजीव रूप में ही पाये जाते हैं, इसी प्रकार मानव शरीर में जो वायु तत्त्व अथवा अग्नि (उष्मा) तत्त्व हैं वे भी मृत नहीं माने जा सकते, अतः यह स्वतःसिद्ध है कि किसी भी जीव के शरीर के रूप में परिणित पृथ्वी, जल, वायु और अग्नि सजीव ही हैं। ये ही तत्त्व जब किसी जीव के त्यक्त शरीर में होते हैं तो वे निर्जीव माने जाते हैं, यही कारण है कि जैन दर्शन में पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को सजीव और निर्जीव दोनों ही रूपों में स्वीकार किया गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से कहें तो जब ये चारों किसी सजीव प्राणी चाहे वह सूक्ष्म बैक्टेरिया या जीवाणु रूप हो या उससे अधिक इन्द्रियों वाला हो, पृथ्वी आदि तत्त्व जब उसके शरीर के अंग के रूप में होते हैं, तब वे सजीव कहे जाते हैं और जब वे उस शरीर का अंग नहीं रहते तब वे निर्जीव कहलाते हैं, जैसे प्रवाल। जब तक प्रवाल उगलने वाले कीट के शरीर के लार के रूप में है तब तक वह सजीव है और तदनन्तर निर्जीव है। इसी प्रकार मोती बनाने वाला द्रव जब तक सीप में रहे हुए कीड़े के शरीर के प्रवाही तत्त्व के रूप में है तब तक वह सजीव है और उसके द्वारा उगल देने के कुछ समय पश्चात् वह निर्जीव हो जाता है। अतः जैनों के द्वारा मान्य पृथ्वी जल, अग्नि, और वायु की सजीवता वैज्ञानिक आधार पर भी सिद्ध की जा सकती है, अर्थात् यह बात वैज्ञानिक दृष्टि से भी युक्तिसंगत है। शंख शुक्तिका (सीप) आदि जब तक किसी प्राणी के शरीर के रूप में हैं जीवित हैं और उस प्राणी के द्वारा त्यक्त होने पर निर्जीव हैं। अतः पृथ्वी आदि किसी भी प्राणी के शरीर के रूप में ही जीवित हैं।

वर्तमान में वैज्ञानिक पृथ्वीतत्त्व के रूप में पर्वत या पाषाण आदि को, जल तत्त्व के रूप में जीवाणु से रहित शुद्ध जल को, अग्नि को एवं वायु को सजीव नहीं मानते हैं, जबकि जैन दर्शन इन रूपों में भी उन्हें सजीव मानता है। इस सन्दर्भ में आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम 'सत्यपरिण्णा' नामक अध्याय के पाठों को लेकर श्रीचैतन्यजी कोचर ने मेरे समक्ष कुछ जिज्ञासाएं प्रस्तुत की थीं आगे हम उन्हीं के समाधान का प्रयत्न करेंगे।

१. आचारांगसूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्याय के तृतीय उद्देशक में 'उदयनिस्सयाजीवा' और 'अनगाराणं उदयजीववियाहिया' इन पाठों को प्रस्तुत करते हुए यही जिज्ञासा प्रस्तुत की है कि जिस तरह से तृतीय उद्देशक में उदकाश्रित जीव और उदकजीव ऐसे दो अलग-अलग सूत्र दिये हैं, वैसे सूत्र पृथ्वीकाय आदि के सन्दर्भ में क्यों नहीं हैं? द्वितीय उद्देशक में केवल 'पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसति' इतना ही पाठ मिलता है यद्यपि ऐसा ही पाठ अप्काय के सन्दर्भ में भी दिया गया है, किन्तु अप्काय के सन्दर्भ में आचारांगसूत्र में जो

स्पष्टीकरण करके 'उदयनिस्सया जीवा' और 'उदयजीवावियाहिया' ऐसे दो अतिरिक्त पाठ दिए हैं जो जल की सजीवता बताते हैं, जबकि पृथ्वीकाय के सन्दर्भ में ऐसे पाठ क्यों नहीं हैं जिससे उसका जीवत्व सिद्ध हो। क्या इसका तात्पर्य यह तो नहीं है कि पृथ्वीतत्त्व सजीव नहीं है, दूसरे जिस प्रकार उदक के आश्रित जीव हैं वैसे ही पृथ्वी के आश्रित जीव हैं यह क्यों नहीं कहा गया, जबकि पृथ्वी पर भी तो अनेक प्रकार के जीव जन्तु रहे हुए हैं। किन्तु यहाँ एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि पृथ्वी आश्रित जीव पृथ्वी के ऊपर होते हैं अतः ये उससे अलग माने जा सकते हैं, जबकि जलाश्रित जीव जल के अन्दर रहते हैं अतः वे भी आश्रित माने गये हैं वे जल के बाहर जीवित भी नहीं रहते, जैसे मछली।

पुनः उनकी यह भी जिज्ञासा है जिस प्रकार 'उदकनिस्सयाजीवा' कहा गया उसी प्रकार 'अग्निनिस्सयाजीवा' नहीं कहा गया, इससे भी दो प्रकार की शंका उपस्थित होती है, क्या अग्नि स्वयं जीव रूप नहीं है अथवा अग्नि के आश्रित जीव नहीं है। जबकि अग्निकाय के सन्दर्भ में काष्ठ, गोबर, कचरे आदि आश्रित जीव कहे गये हैं।

जहाँ तक वायुकाय का प्रश्न है आचारांगसूत्र की एक विशेषता यह देखने को मिलती है कि वह वनस्पतिकाय और तदुपरान्त त्रसकाय की विवेचना के पश्चात् ही वायुकाय, की विवेचना करता है, सम्भवतः इसका कारण यह हो सकता है कि आचारांगसूत्र की दृष्टि में वायु को त्रस (गतिशील) माना गया हो और इसी के कारण त्रस की विवेचना के पश्चात् वायु से सम्बन्धित उद्देशक हो। यह भी सत्य है कि वायुकाय के सन्दर्भ में भी 'वायुनिस्सयाजीवा' एवं 'वायुजीवावियाहिया' ऐसे पाठ नहीं हैं।

इस आधार पर यह चिन्तन भी चला कि आगम में जहाँ वायु या वायुकाय अग्नि और अग्निकाय या पृथ्वी एवं पृथ्वीकाय ऐसे शब्दों का प्रयोग है, वहाँ उनका अर्थ जीव रूप में ग्रहण नहीं करके केवल उन्हीं स्थानों पर उनके जीवत्व का ग्रहण करना, जहाँ पृथ्वीकायिक जीव, अग्निकायिक जीव या वायुकायिक जीव ऐसे प्रयोग हों, लेकिन जहाँ पृथ्वीशस्त्र या पृथ्वीकाय मात्र का उल्लेख है वहाँ भी उनके जीवत्व का प्रतिपादन है ऐसा निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि शस्त्र सचित्त और अचित्त दोनों हो सकते हैं, इसी प्रकार काय भी सचित्त और अचित्त दोनों हो सकते हैं। शस्त्र और काय जीवद्रव्य या जीवतत्त्व या जीवतत्त्व के द्वारा जब तक शरीर रूप में ग्रहीत हैं, वे तभी तक सजीव हैं, अन्यथा नहीं, ऐसी मेरी व्यक्तिगत समझ है। सारी पृथ्वी, समस्त जल, समस्त अग्नि ऊष्मा या समस्त वायु जीवित ही है या सजीव ही है - ऐसा एकान्त नियम नहीं है।

आज विज्ञान ने चाहे जितनी प्रगति कर ली हो, वह जड़ से जीवन का विकास नहीं कर सकता है, जीवन्त तत्त्व से ही जीवन का विकास होता है। यद्यपि जीवन्त तत्त्वों में ऐसी शक्ति अवश्य है कि जड़ तत्त्वों को ग्रहण कर अपने सम्पर्क से उन्हें भी जीवन्त बना दे, जैसे किसी व्यक्ति या प्राणी द्वारा ग्रहीत कैल्शियम (चूना) उसके शरीर रूप में परिणत होकर जीवन्त बन जाता है। आचारांगसूत्र में वनस्पति सजीव है यह सिद्ध करने के लिए प्राणी शरीर से जिस प्रकार उसकी तुलना की है, उस प्रकार की तुलना पृथ्वी अप्, अग्नि और वायु के सन्दर्भ में नहीं है। इनके सन्दर्भ में केवल इतना कहा गया है, जीवन्त स्थिति में शस्त्र द्वारा इनकी हिंसा करने पर वैसी ही वेदना होती है जैसी एक पंगु एवं मूक व्यक्ति को होती है, ये जीव पीड़ा का अनुभव तो करते हैं, लेकिन पीड़ा को अभिव्यक्ति नहीं कर पाते हैं, यह बात समस्त एकेन्द्रिय जीवों के सन्दर्भ में सत्य है, वे चाहे पृथ्वीकायिक जीव हों, अप्कायिक जीव हों, अग्निकायिक जीव हों, वायुकायिक जीव हों या वनस्पतिकायिक जीव हों। द्वीन्द्रिय आदि जीवों में पीड़ा की अभिव्यक्ति जितनी स्पष्ट देखी जाती है उतनी इनमें नहीं। फिर भी जहाँ जीवन है, चेतना है, वहाँ सुख-दुःख की अनुभूति तो हैं ही।

आचारांगसूत्र के प्रथम अध्ययन के तृतीय उद्देशक में जो जल को जीव कहा गया है, मेरी दृष्टि में उसका हेतु यह हो सकता है कि जल जीवन्त तत्त्वों को स्वयं आकर्षित कर शीघ्र ही जीवन्त हो जाता है, जबकि पृथ्वी आदि जीवन्त प्राणियों के शरीर के रूप में ग्रहीत होने पर ही जीवन्त होते हैं। सत्य तो केवलीगम्य है। विद्वानों से अनुरोध है कि इस सन्दर्भ में विमर्शपूर्वक प्रकाश डालें।



## ENGLISH SECTION

- **Role of Religion in unity of Mankind and World Peace**
- **Jaina Literature**
- **How appropriate is the proposition of Neo-Digambara School?**
- **Jaina Canonical Literature**
- **An investigation of the earlier subject matter of Praśnavyākaraṇa Sūtra**

## **Role of Religion in unity of Mankind and World Peace**

---

---

### **The present panorama of the world**

We are living in the age of science and technology. The advancement in our scientific knowledge has removed our religious superstitions and false dogmas. But unfortunately and surprisingly, it has also shaken our mutual faith, faith in moral virtues as well as religio-spiritual values. The old social and spiritual values of life acting as binding on humanity and based on religious beliefs have been made irrelevant by scientific knowledge and logical thinking. Till date, we have been unable to formulate or evolve a new value structure, so necessary for meaningful and peaceful living in society based on our scientific and logical outlook. We are living in a state of total chaos. In fact, the present age is the age of transition, old values have become irrelevant, and new ones have not been yet established. We have more knowledge and faith in atomic structure and power than the values needed for meaningful and peaceful life. Today, we strongly rely on the atomic power as our true rescuer, and discard the religio-spiritual values as mere superstitions. For us human being is either a complicated machine or at least a developed animal, governed by his instincts and endowed with some faculties of mechanical reasoning. Thus, we have developed a totally materialistic and selfish outlook.

The advancement in all the walks of life and knowledge could not sublimate our animal and selfish nature. The animal instinct lying within us is still forceful and is dominating our individual and social behavior and due to this our life is full of excitements, emotional disorders and mental tensions. The single most specific feature, by which our age may be characterized, is tension and conflicts. Now a



day not only the individuals, but also the total human race is living in tension.

Though outwardly, we are pleading for peace and non-violence yet by heart we still have strong faith in the law of the jungle, i.e. the dictum- 'might is right.' We are living for the satisfaction of our animal nature only, though we talk of higher social and religio-spiritual values. The duality or the gulf between our thought and action is the sole factor disturbing our inner as well as outer peace. Once the faith in higher values or even in our fellow beings is shaken and we start seeing each and every person or a community or a nation with the eyes of doubt, definitely, it is the sign of disturbed mentality.

Because of materialistic and mechanical outlook our faith in social and religious values has been destroyed and when the mutual faith and faith in higher values of co-operation and co-existence is destroyed, doubts take place. The doubt causes fear; fear gives birth to violence and violence triggers violence. The present situation is the result of our materialistic attitude and doubting nature. The most valuable thing human race has lost in the present age, is non other than peace and harmony.

Science and technology has given us all the amenities of life. Due to the speedy advancement in science and technology, now a day, life on earth is so luxurious and pleasant as it was never before, yet because of the selfish and materialistic outlook and doubting nature of man, which we have developed today, no body is happy and cheerful. We are living in tension all the times and deprived of, even a pleasant sound sleep. The people, materially more affluent having all the amenities of lives are more in the grip of tensions. Medical as well as psychological survey reports of advance nations confirm this fact. Tendency to consume alcoholic and sedative drugs is increasing day by day. It also supports the fact that we have lost our mental peace at the cost of this material advancement. Not only this, we have also been deprived of our natural way of living.

S. Bothara maintains "What unfortunately has happened, is that the intoxication of ambition and success has made us forget even the natural disciplines, which we, inherited from the animal kingdom."<sup>1</sup>

Because of the development of metal faculties, we have not only denied to accept social or religious check post but we also have denied natural checks. Now life-cart has only accelerator, no break. Our ambitions and desires have no limits. They always remain unfulfilled and these unfulfilled desires create frustrations. These frustrations or resentments are the cause of our mental tension. Due to the light legged means of transportation, physical distances are no bars to meet the peoples of different nations, cultures and religions and thus, our world is shrinking. But unluckily and disdainfully because of the materialistic and selfish outlook, the distance of our hearts is increasing day by day. Instead of developing mutual love, faith and cooperation we are spreading hatred, doubt and hostility and thus deprived of peace, mental as well as social and environmental, the first and foremost condition of human living.

### **Need of our age**

Among the most burning problems, the world is facing today, religious fundamentalism and intolerance is the most crucial. The blind and mad race of nuclear weapons is a clear indication that the human race is proceeding towards its formidable funeral procession. Rabindra Nath Tagore rightly observed "For man to come near to one another and yet to ignore the claims of humanity is the sure process of suicide."<sup>2</sup> In the present circumstances the only way out left for the survival of mankind is to develop a firm belief in mutual co-operation and co-existence. Religious harmony and fellowship of different religions is the first and foremost need of our age for the human unity and world peace.

### **Humanity as a binding force**

Undoubtedly, we belong to different faiths, religions and cultures. Our modes of worship as well way of living also differ to

some extent. No one can deny that our philosophical approaches and viewpoints are divergent, but among these, there is a common thread of unity, which binds all of us, and it is nothing except humanity. We all belong to the same human race. Unfortunately, at present, humanity as such is largely shoved into the background and differences of caste, colour and creed have become more important for us. We have forgotten our essential unity and are conflicting on the basis of these apparent diversities. But we must bear in our mind that it is only humanity, which can conjoin the people of different faiths, cultures and nationalities, all the religions declare human race as one (*ego maṇussa jāī*).<sup>3</sup> The difference of caste, culture and creed are not only superficial but mostly the creation of man.

### **What is True Religion?**

The ultimate end in view of all religions is to ensure peace and happiness for the individual and to establish harmony within human society. However, as revealed from history, countless wars have been fought in the name of the religion. The religion thus remains accused for the inestimable amount of bloodshed of mankind and also responsible for its horrible consequences. Of course, it is not the real form of religion. At present, religion is at best used in the service of vested interests. If one believes that only his faith, his mode of worship and his political ideologies are the right means for securing peace and happiness for mankind, he cannot be tolerant to the viewpoints of his opponents. The immediacy, therefore, is to develop tolerance and friendship for others. It is the only approach by which we can generate peace and harmony in human society.

Can religions of which Jainism is a part, meet with this challenge of our times? Before this question can be answered, we must make a distinction between a true and a false religion. A true religion never supports violence, intolerance and fanatical outlook. It cannot be made responsible for the ignominious acts committed in the name of religion by such religious leaders who want to serve

their vested interest. The barbarity committed in the past and perpetrated in the present in the name of religion is very largely due to the intolerance and fanaticism of the so-called religious leaders and their ignorant followers.

The only way of freeing oneself from this sordid situation is to comprehend the true nature, the essence of religion and to develop tolerance and respect for other's ideologies and faiths.

A true religion consists in the practice of equanimity and non-violence. In *Ācārāṅga-sūtra* the earlier Jaina text (c. late 4<sup>th</sup> cent. B.C.), we come across with two definitions of religion: 'equanimity is the essence of religion (*samiyāe dhamme āyariyehim paveiye*)', while the observance of non-violence is its external exposition or a social aspect of religion. The *Ācārāṅga-sūtra* mentions that practicing of non-violence is the true and eternal religion.

Jainism, since its inception, has been tolerant and respectful towards other faiths and religious ideologies throughout its history. In Jainism one hardly gets any instance of religious conflicts resulting in violence and bloodshed. Jainas, the advocates of *Anekāntavāda* fully paid regard to different ideologies and different religious standpoints and maintained that other's convictions may also be valid from a certain standpoint.

### **Humanity as a true form of religion**

First of all we are human being and then any thing else. Before being divided in - casts like Hindu, Buddha, Jaina, Christian, Muslim, Sikkha etc. we are all human being. Our prime duty is to be a human in its real sense. This spirit is echoed in one of the earlier Jaina text *Uttarādhyayana* wherein Lord Mahāvīra has laid down four conditions for a true religious being viz.- 1. Humanity, 2. True faith, 3. Control over senses and 4. Efforts for self-purification.<sup>4</sup> Among these four conditions of a religious being, humanity occupies the first and the foremost position.

In Jainism religion is defined as a true nature of a thing (*vatthu sahāvo dhammo*)<sup>5</sup> and in the light of the above definition it can be said that humanity is the true religion of mankind for, it is its essential nature. As a human being if we fail to behave like a human being, we have no right to call ourselves a religious being or even a human being. Bertrand Russell, the eminent philosopher and scientist of our age, suggests, "I appeal as a human being to the human beings that remember your humanity and forget the rest. If you can do so the way lies open to a new paradise. If you cannot, nothing lies before you but universal death."<sup>6</sup> And thus, I want to emphasize that humanity is our first and the foremost religion.

### **What is Humanity?**

The question may be raised what we mean by the term humanity? The simple answer is, humanity is nothing but the presence of self-awareness, reasonableness and self-control. These three qualities are accepted as distinguishing features between a human being and animal being by all the humanist thinkers of our age. These three basic qualities are comprehended in Jaina concept of three jewels, i.e. *Samyak-darśana* (right vision) *Samyak-jñāna* (right knowledge) and *Samyak-cāritra* (right conduct) respectively, which also constitute the path of liberation.<sup>7</sup> The presence of these three makes a being a perfect human being.

### **Fellowship means Unity in Diversity**

Jaina thinkers assert that unity implies diversity. For them unity and diversity are the two facets of the same reality. Reality itself is unity in diversity. Absolute unity i.e. monism and absolute diversity i.e. pluralism, both of the theories are not agreeable to Jainas. From the generic viewpoint (*niścaya-naya*) reality is one, but when viewed from modal viewpoint (*vyavahāra-naya*), it is many. Once a question was asked to Lord Mahāvīra, O 'Lord! 'Whether you are one or many'? To this, Mahāvīra replied, "from substantial viewpoint I am one, but if viewed from changing conditions of mind

and body, I am different each moment and thus many. This view is further elaborated by Ācārya Malliseṇa, he says "whatsoever is one, is also many."<sup>8</sup> In fact, unity in diversity is the law of nature. Nature everywhere is one, but there is diversity in it, as the natural phenomena differs from each other, so is the case with human beings also. Though all the human beings have some common characteristics and features, yet every individual being different from others has some specific qualities. It is also true about religions. All the religions have some common characteristics sharing with others as well as specific qualities of their own. Universal virtues such as non-violence, friendliness, service to the needy, truthfulness, honesty, control over senses, etc. are commonly shared by all the religions of the world. Unfortunately, at present, these common universal virtues, which are the essence of religious practices, have been ignored and external rituals, which are divergent in their nature, have become more important. Thus we have forgotten the essential unity of all the religions and are stressing on their diversities.

Though I am emphasizing the essential unity of all the religions, this does not mean that I am supporter of one world-religion or undermining the specialties and diversities of them. What I intend to say is that the absolute unity and absolute diversity, both are illusory concepts and fellowship of faith means unity in diversity.

### **Co-operation as essential nature of Living Beings**

For Jainas co-operation and co-existence are the essential nature of living beings. Darwin's dictum- 'struggle for existence' and the Indian saying- '*jīvo jīvasya bhojanam*, i.e. 'life thrives on life' are not acceptable to them.

They maintain that it is not the struggle but the mutual co-operation is the law of life. Umāsvāti (4th century A.D.) in his work *Tattvārtha-sūtra* clearly mentions that mutual co-operation is the nature of living beings (*parasparopagraho jīvānām*<sup>9</sup> i.e. living beings

originate, develop and exist with the co-operation of other living beings). So is the case with the human society also, its existence also depends on mutual cooperation, sacrifice of one's own interest in the interest of other fellow beings and regard for other's life, ideology, faith and necessities. If we think that other's services are essential for our existence and living, then we should also co-operate to others living.

If we seek help of others in our livings as our right, then on the same ground it is our honest duty to help others in their living. The principle of equality of all beings means that every one has a right to live just as myself and therefore, one should not have any right to take other's life.

Thus for Jainas the directive principle of living is not 'living on other's or 'living by killing', but 'living with others' or 'living for others'. They proclaim that co-operation and co-existence are the essential nature of living beings. If it is so, then, we must accept that religious tolerance and fellowship of faiths are such principles to be followed at the bottom of our hearts.

### **Meaning of Religion**

So far as the leading causes responsible for fundamentalism and intolerant outlook are concerned, in my humble opinion, the lack of the true understanding of the real nature and purpose of religion is prime. By religion, generally we mean, to have some uncritical beliefs in supernatural powers and performance of certain rituals as prescribed in our religious texts, but it is not the true and whole purpose of religion. Equanimity is considered as the core or essence of religion. It is the state in which consciousness is completely free from constant flickering, excitements and emotional disorders, and mind becomes pacific. It is the core of religion. Haribhadra says 'whether a person is a Śvetāmbara or a Digambara or a Bauddha or belongs to any other religion, whosoever attains equanimity of mind,

will attain the liberation, (*Sambodha-prakaraṇa*, 1/12). Thus, the attainment of equanimity or relaxation from tension is the essence of religion. Secondly, when we talk of social or behavioral aspect of religion, it is nothing but the observance of non-violence.

Performance of rituals is only the external aspect of religion. In its real sense religion means the eradication of passions and lust for material enjoyments as well as the realization of one's own real nature. Thus the true nature and purpose of religion is to attain equanimity and peace in individual as well as in social life. Whatsoever disturbs mental equanimity and social peace and spreads hostility and violence is not a true form of religion; instead it is Satan in the cloak of religion. But now a days, the essence of religion have been shoved into the background and dogmatism, uncritical faith and performance of certain rituals have got prominence. We have forgotten the end or essence of religion and stuck to the means only. It has become more crucial point that while performing prayer, our face should be in the east or in the west, but we have forgotten the purpose of prayer itself. The religion aims at having control over our passions, but unfortunately we are nourishing our passions in the name of religion. Actually, we are fighting for the decoration of the corpse of religion and not caring for its soul. If we want to maintain religious harmony and ensure peace on the earth, we must always remain aware of the end and essence of the religion, instead of external practices and rituals.

The English word 'religion' is derived from the root 'religio' which means 'to unite'. According to its etymological meaning, whatsoever, divides the mankind, instead of uniting it, cannot be a true form of religion. We must be aware of the fact that a religion in its true sense never supports violence, intolerance and fanatical outlook. A true form of religion is one, which establishes harmony instead of hostility, affection and kindness instead of hatred, individual and social peace instead of mental tensions and conflicts.



## **One World-Religion: a myth**

Though in order to eradicate the conflicts and stop violence in the name of religion from the world some may give a slogan of one world-religion but it is neither feasible nor practicable. So long as the diversities in thoughts and habits in cultural background and intellectual levels of the human beings are in existence, the varieties in religious ideologies and practices are essential. Haribhadra rightly maintains that the diversity in the teachings of the sages is due to diversity in the levels of their disciples or the diversity in the standpoints adopted by the sages themselves or the diversities in place and time i.e. ethnic circumstances, in which they preached. Just as a physician prescribes different medicines according to the condition of patients, his illness and the climatic conditions, so is the case with the diversity in religious preaching's also.<sup>10</sup> Therefore, unity as well as diversity is equally essential for the fellowship of faiths and we should not undermine anyone of them. Just as the beauty of a garden consists in the variety of flower, fruits and plants, in the same way the beauty of the garden of religions depends on the variety of thoughts, ideals and modes of worship.

The religions of the world differ from each other only on the basis of their modes of worship and the preacher, but so far as religious and moral values are concerned all the religions of world have a common platform. The essence of all the religions of world is the same and one.

## **Equal regard to all Religions**

Equal regard to different faiths and religions should be the base of religious harmony and fellowship of faiths. Siddhasena Divākara remarks " just as emerald and other jewels of rare quality and of excellent kind do not acquire the designation of necklace of jewels and find their position on the chest of human beings so is the case with different religions and faiths. Whatever excellent qualities

and virtues they possess unless they are bound with a common thread of fellowship and have equal regard for others, they cannot find their due place in human hearts and can be charged for spreading hostility and hatred in mankind.<sup>11</sup>

Therefore, if we consider other religions or faiths as inferior to ours or false, real harmony will not be possible. We have to give equal regard to all the faiths and religions. Every religion or mode of worship has its origination in a particular social and cultural background and has its utility and truth-value accordingly. As the different parts of body have their own position and utility in their organic whole and work for its common good, so is the case with different religions. Their common goal is to resolve the tensions and conflicts and make life on earth peaceful. For this common goal each and every one has to proceed in his own way according to his own position. Every faith, if working for the particular common goal has equal right to exist and work and should be given equal regard.

According to Siddhasena Divākara (5th Century A.D.) the divergent faiths may be charged as false only when they negate the truth-value of others and claim themselves exclusively true. But if they accept the truth-value of others also, they attain righteousness. He further says 'Every view-point in its own sphere is right but if all of them arrogate themselves to the whole truth and disregard the views of their rivals, they do not attain right-view, for all the viewpoints are right in their own respective spheres. But if they encroach upon the province of other viewpoints and try to refute them, they are wrong.'<sup>12</sup> Rightness of particular faith or viewpoints depends on the acceptance of rightness of others also. One who advocates the view of synoptic character of truth never discriminates the different faith as right or wrong and thus, pays all of them equal regard.<sup>13</sup> Today when fundamentalism is posing a serious threat to communal harmony and equilibrium, unity of world religions is not only essential but also the only way out to save the human race and to establish the peace on the earth.

We should do believe in the unity of world religions but unity according to them does not imply omnivorous unity in which all lose their entity and identity. They believe in that type of unity where in all the alien faiths will conjoin each other to form an organic whole without losing their own independent existence and work for a common goal i.e. the welfare of mankind. The only way to remove the religious conflicts and violence from the earth is to develop a tolerant outlook and to establish harmony among various religions.

### **Blind Faith - the root of Intolerance**

Among the causes that generate fanaticism and intolerance, blind faith is the principal one; it results from passionate and uncritical outlook. In point of fact, it is considered as a central element in religious intolerance. It leads one's attitude towards a strong bias for one's own and against others religions. Attachment and aversion are the two great enemies of right thinking. Truth can reveal itself to an impartial thinker. Unbiased attitude is not only essential, but it is also the imperative in the search of truth. One, who is unbiased and impartial, can perceive the truth of his opponent's ideologies and faiths and thus can possess deference to them. Intense attachment unfailingly generates blind faith in religious leaders, dogmas, doctrines and rituals and consequently religious intolerance and fanaticism come into existence. The religions, which lay more emphasis on blind faith than reason, are narrower and fundamentalist. While the religions which give due importance to reason also are more conciliatory and harmonious. It is the reason or critical outlook which acts as check-post in religious faiths and rituals.

The uncritical outlook and even a pious attachment towards the prophet, the path and the scripture is also a hindrance to the truth seeker and aspirant of perfection. Attachment results in blind faith, superstition and consequences into intolerant conduct. A person who is in the grip of attachment cannot get rid of imperfection. Gautama, a chief disciple of Lord Mahāvīra, failed to attain omniscience in the life time of Mahāvīra on account of his pious attachment towards Mahāvīra. Same was the case with Ānanda, the chief disciple of

Lord Buddha, who could not attain arhat-hood in the life-time of his "Śāstā." Once Gautama asked Mahāvīra: 'why am I not able to attain the perfect knowledge, while my pupils have reached the goal. "Lord answered: "Oh, Gautama, it is your pious attachment towards me which obstructs you in getting perfect knowledge and emancipation". Therefore the elimination of attachment is essential in order to develop a tolerant outlook.

### **Reason - the check-post of Blind Faith**

The blind faith, causes intolerance, therefore, one should not support blind faith. The right faith should be followed by right reasoning. The faith followed by truthful reason cannot be blind one. The reason and faith are complementary to each other and actually there is no contention between the two. Faith without reason is blind and reason without faith is unsteady or vacillating. Therefore, the religious codes and rituals should be critically analyzed.<sup>14</sup> In the *Uttarādhyayana-Sūtra*, Gautama, the chief disciple of Mahāvīra, strongly supports this view before Keśī, the pontiff of the church of Jina Pārśva. He said: "the difference in the Law must be critically evaluated through the faculty of reasoning. It is the reason which can ascertain the truth of Law."<sup>15</sup>

If one maintains that the religion has to be solely based on faith and there is no place for reason in it, he will unfailingly develop an outlook that only his prophet, religion and scriptures are true and other's prophets, religions and scriptures are false. He also use to believe that his prophet is only savior of mankind; his mode of worship is the only way of experiencing the bliss and the laws or commands of his scripture are the only right ones, and thus disturbs the peace and also causes conflicts in the name of religion. While one who maintains that reason also plays an important role in the religious life, will critically evaluate the pros and cons of religious prescriptions, rituals and dogmas. A biased person believes in the dictum 'Mine is true' while the unbiased person believes in the dictum "Truth is mine".

A biased person tries to justify whatever he has already accepted, while unprejudiced person accepts what he feels logically

justified. Ācārya Haribhadra says: "I possess no bias for Lord Mahāvīra and no prejudice against Kapila and other saints and thinkers. Whosoever is rational and logical ought to be accepted. When religion tends to be rational there will hardly be any room for intolerance. One, who is thoroughly rational in religious matters, certainly would not be rigid and intolerant.

### **Non-extremism is the basis for unity and peace**

Dogmatism and fanaticism are the born children of extremism. An extremist holds that whatsoever he propounds is correct and what others say is false, while a relativist is of the opinion that he and his opponent both may be correct, if viewed from two different angles and thus a relativist adopts a tolerant outlook towards other faiths and ideologies. Only a relativist or non-violent search for truth finds non-extremism.

Non-extremism forbids allowing the individual to be dogmatic and one-sided in approach. It pleads for a broader outlook and open-mindedness, which alone can resolve the conflicts that emerge from differences in ideologies and faiths. Satkari Mookerjee rightly observes that the extremist engenders fanaticism, the worst and the vilest passion of human heart. Siddhasena Divākara remarks "All schools of thought are valid when they are understood from their own standpoint and so far as they do not discard the truth-value of others."<sup>16</sup> Hemacandra who was a Jaina saint, composed his works in the praise of Lord Śiva. This liberalism should be maintained if we want to establish peace on earth.

### **What is Peace?**

The term 'Peace' has various connotations. Intrinsically, peace means a state of tranquility of mind. It is the state in which self rests in its own nature, undisturbed by external factors. Peace means soul devoid of passions and desires. *Ācārāṅga* mentions that an aspirant who has attained peace has no desire.<sup>17</sup> Peace means cessation of all desires. *Sūtrakṛtāṅga* equates it with the emancipation from all desires in other word; it is the state of self-contentment or total subjectivity i.e. the state of pure Seer. *Ācārāṅga* maintains that one who is aware

of peace will not fall in the grip of passions.<sup>18</sup> While defining peace, Saint Thomas Aquinas has also rightly maintained the same view. He says, "peace implies two things first our self should not be disturbed by external factors and secondly, our desires should find rest in one i.e. the self."<sup>19</sup> This inner peace can also be explained from negative and positive viewpoints. Negatively, it is the state of the cessation of all the passions and desires. It is the freedom from the vectors of attachment and aversion. Positively, it is the state of bliss and self-contentment.

Now we turn to the external peace. Inner peace is the peace of our self while external peace is the peace of society or environmental peace. It is the state of cessation of wars and hostilities, among individuals, individuals and society, different social groups and nations on the earth. So far as this external peace or the peace of the society is concerned, it can also be defined in both ways negatively as well as positively. Defined negatively, it is the state of cessation of wars and hostilities whereas positively it is the state of harmonious living of individuals as well as societies and nations. It is the state of social co-operation and co-existence. But we must be aware of the fact that the real external peace is more than non-war. It is a vital peace. It is the state, free from mutual doubts and fears. So far as the doubts and apprehensions against each other exist, in spite of the absence of actual war, really, it is not the state of peace. Because where there is fear, the war exists. In modern world we term it as cold war. War is war, whether it is cold or actual, it disturbs the peace of society. Real external peace is only possible, when our hearts are free from doubts and fear and each and every individual has firm faith not only in the dictum '*Live and let live*', but '*Live for other*'.

According to Umāsvāti, "by nature livings being are made for each other (*parasparopagrahojīvānām*)<sup>20</sup>". So long as our heart are full of doubts and fear and we do not have full control on our selfish animal instincts as well as firm belief in mutual co-operation and co-existence, real social peace on earth will not be possible.

Real peace dawns only if our hearts are full of universal love, which was preached by all the religious of the world. This universal

love is based on the concept of equality of all beings and firm faith in the doctrine that by nature living beings are made for each other. This external or social peace depends on the mental peace of individuals because our external behaviour is only an expression of our inner will and attitude towards life. Thus, the various aspects of peace are not mutually exclusive but inclusive. The peace of society or environmental peace is disturbed, when the inner peace of the individual is disturbed and *vice-versa*. In my humble opinion hostilities and wars are the expressions and outcomes of sick mentality. It is the aggressive and selfish outlook of an individual and society that gives birth to confrontations among individual, individual and society as well as different social or religious groups and nations. At the root of all types of confrontations and wars, which disturb outer peace there lies the feeling of discontentment as well as will for power, possession and hoarding. Thus social disturbances, conflict and confrontations are only symptoms of our mental tensions or sick mentality, which can only be restored through the religious practices.

It fact, the peace of society depends on mental make-up of its members, but it is also true that our attitude towards life and behavioral pattern is shaped by our religious environment and training. The behavioral pattern and mentality of the members of non-violent society will surely be different from that of a violent society. Social norms, ideals and conditions affect the mental make-up and behavioral pattern of the individual. There are also individuals of spiritual hold who shape the social norms, ideals and conditions.

Though it is correct that in many cases disturbed social conditions and environmental factors may be responsible for vitiating our mental peace, yet they cannot disturb the persons with strong will-power and endowed with spirituality. According to Jainism, spiritually developed soul remains unaffected at their mental level by external factors. But on the other hand soul with disturbed mental state necessarily affects our social peace. The inner peace of the soul is the cause and that of the society is the effect. Now it is the duty of the religious leaders, if they want to establish peace and harmony in the world, they should preach the spiritual and moral values, instead of only outer rituals.

**References:**

1. Bothara, Surendra, Ahirṁsā : The Science of Peace, Foreword, D.R. Mehta, P. XVII.
2. David C.V. The Voice of Huminity, Mankind depot, Ujjain, p. 1.
3. Ekkā maṇussā, Jāi, Gāthā (compiled by Yuvacarya Mahaprajana, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun, 1993, 1/26.
4. *Uttarādhyāyānasūtra*, Trans. by Sadhvi Chandana, Sanmati Jñānpiṭha, Agra, 3/1.
5. *Kārtikeyānuprekṣā*, Edited by A.N. Upadhye, Shrimad Rajchandra Ashram, Agas, 1960, p. 478.
6. David C.V. The voice of Humanity, Mankind depot, Ujjain, p.1.
7. *Tattvārthasūtra*, Translated by Pt. Sukhlal Sanghavi, P.V. Research Institute, Varanasi - 51/1.
8. *Bhagavatīsūtra*, 18/10.
9. *Tattvārthasūtra*, 5/21.
10. *Yogadr̥ṣṭisamucchāya*, Haribhadra, L.D. Institute of Indology, Ahmedabad.
11. *Sanmatitarka*, Siddhasena Divākara, edited by Pt. Sukhalal Sanghavi Jaina Shvetambara Education Board, Bombay, 1939, 1/38.
12. *Ibid*, 1/28.
13. *Ibid*.
14. *Uttarādhyāyanasūtra*, Sanmati Jñānpiṭha, Agra, 1972, 23/35.
15. *Ibid*, 23/25.
16. Prof. Satkari Mookerjee, Foundation of world peace, Ahirṁsā and Anekānta, Vaishali Institute Research Bulletin, No. 1, p. 229.
17. *Ācārāṅga* (Āyāro), Jaina Vishva Bharati, Ladnun, 1/7/149.
18. *Ibid*, 2/4/96.
19. *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. XI p. 170.
20. *Tattvārthasūtra*, 5.21.





## **Jaina Literature**

---

---

Among the religions of the world, Jainism is a very minor religion because it does not cover even one percent of the total world-population; but its literary contribution is not much less than other world's major religions. As per available information total volume of known Jaina works is more than twenty thousand and number of total Jaina manuscripts is more than one million.

The word 'Jaina literature' does not mean only the Jain religious and philosophical literature. It also includes the secular literature written by Jaina Ācāryas and scholars. Thus it covers a very vast area. It includes various branches of knowledge, such as metaphysics, ethics, epistemology, logic, cosmology, biology, physics, chemistry, mathematics, geology, geography, history, astronomy, astrology, various arts, architecture, grammar, linguistics, medical sciences and so on. In Jaina canonical literature these different subjects are intermingled, though there are some specific Jaina works which deal with only their own subjects.

The primary Jaina literature was composed in Prakrit language, but later on Jaina scholars composed their works in Sanskrit, Apabhraṁśa, Kannaḍa, Maru-gurjar, Hindi, Gujrati, Marathi and English also. Its composition started from 5<sup>th</sup> century B.C. and remains continued till today.

We can divide total Jaina literature into these five categories:

1. Canonical literature along with its commentaries.
2. Works on Jaina metaphysics, karma philosophy, cosmology, epistemology and logic.
3. Works on Jaina ethics, Jaina code of conduct, yoga and religious rituals.

4. Works on religious preachings along with Jaina narrative literature.
5. Jaina literature on secular subjects.

## I

So far as Jaina canonical literature is concerned it is composed in Prakrit in between 5<sup>th</sup> century B.C. to 5<sup>th</sup> century A.D. based on the preachings of the Tirthankaras. This canonical literature includes many books the details of which are found in *Nandīsūtra* (5<sup>th</sup> Century A.D.). The list of *Nandīsūtra* includes twelve *Aṅgas*, six *Āvaśyakas*, thirty-one *Kālika-sūtras* and twenty-nine *Utkālika-sūtras* to a total of 78 works. According to Śvetāmbara tradition out of these 78 works, one *Aṅga-āgama* i.e. *Dr̥ṣṭivāda*, 15 *Kālika-sūtras* and 11 *Utkālika-sūtras* are not presently available, but the remaining 51 works are available. According to Digambara tradition except a very little part of *Dr̥ṣṭivāda*, all the canonical literature has been lost. It is believed that on the basis of some remaining part of the *Dr̥ṣṭivāda*, Digambara Ācāryas have composed some works, such as *Kasāyapāhuḍa*, *Saṭkhaṇḍāgama*, *Tiloyapaṇṇatti*, *Samayasāra*, *Niyamasāra*, *Pravacanasāra*, *Mūlācāra Bhagavatī-ārādhana* etc.

According to Śvetāmbara tradition at present 11 *Aṅgas*, 12 *Upāṅgas*, 6 *Chedasūtras*, 4 *Mūlasūtras*, 10 *Prakīrṇakas* and 2 *Cūlikāsūtras* are available. This canonical literature was restored through five councils. The first council was held at Pāṭaliputra after the 150 years of Mahāvīra's *Parinirvāṇa*, under the leadership of Sthūlibhadra. The second council had taken place at mountain Kumārī in 2<sup>nd</sup> Century B.C. in Orissa, which was organized by the king Khārveḷa. The third and fourth councils took place at Mathura and Valabhī simultaneously in 3<sup>rd</sup> century AD. under the leadership of Ārya Skandila and Nāgārjuna respectively. Before the third and fourth councils, canons were retained orally, it could be possible only in the fifth council at Valabhī in Gujarat in the year c. 453 or 466, where the canons were edited and given written form under the leadership

of Devardhigaṇi. From 3<sup>rd</sup> century AD, composition of commentary literature was started. First of all, *Niryuktis* were written in Prakrit verses, which deal with the technical terms of the canon along with some information regarding the subject matter of that particular work. After *Niryuktis*, *Bhāṣyas* and *Cūrṇis* were written respectively. *Niryuktis* discuss the subject matter of canonical works in detail with certain concrete examples. *Bhāṣyas* were composed in Prakrit verses whereas the *Cūrṇis* were written in Prakrit prose mixed with Sanskrit. The *Bhāṣyas* and *Cūrṇis*, were written in 5<sup>th</sup> and 7<sup>th</sup> century AD respectively. After *Cūrṇis Ṭikās*, *Vṛttis* and *Vivaraṇas* were written in Sanskrit language. These Sanskrit commentaries were written by the celebrated authors like Haribhadra (8<sup>th</sup> Century), Śilāṅka (9<sup>th</sup> Century), Abhayadeva (11<sup>th</sup> Century), Maḷayagiri (12<sup>th</sup> Century), Śāntisūri and some other Śvetāmbara Ācāryas. In Digambara tradition Vīrasena and Jinasena (9<sup>th</sup> and 10<sup>th</sup> Century) had written the commentaries on *Kasāyapāhuḍa* and *Ṣaṭkhaṇḍāgama* namely *Dhavalā*, *Jayadhavalā* and *Mahādhavalā*.

## II

Among the Jaina philosophical works *Tattvārtha-sūtra*, written in Sanskrit by Umāsvāti (3<sup>rd</sup>-4<sup>th</sup> Century AD) with its auto-commentary is one of the pioneer works. Various commentaries were written in both the sects by their ācāryas. The prominent among those were Siddhasena Gaṇi (7<sup>th</sup> Century) and Haribhadra (8<sup>th</sup> Century) from Śvetāmbara tradition and Pūjyapāda (6<sup>th</sup> Century), Akalaṅka (8<sup>th</sup> Century) and Vidyānanda (9<sup>th</sup> Century) from Digambara tradition. After the *Tattvārtha-sūtra*, Siddhasena Divākara's *Sanmatitarka* and *Nyāyāvātāra*; Samantabhadra's *Āptamīmāṃsā*; Mallavādi's *Dvādaśāranayacakra*; Haribhadra's *Anekāntajaya-patāka*, *Ṣaḍdarśanasamuccaya* and *Śāstravārtāsamuccaya*; Akalaṅka's *Nyāyavinīścaya*, Vidyānanda's *Aṣṭasahasrī*; Prabhācandra's *Prameyakamala-mārtaṇḍa*; Vādidevasūri's *Pramāṇanayatattvāloka* and *Syādvādratnākara* and Malliseṇa's *Syādvādamañjarī* are considered as important works on Jaina philosophy.

So far as the literature on Karma-philosophy is concerned, after *Kasāyapāhuḍa* and *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, *Kammaṣayaḍi*, six old *Karmagranthas*, four *Pañcasamgrahas*, *Gommatasāra* and five latter *Karmagranthas* of Devendrasūri are considered as the important works of this category. Late Ācārya Devendramuni had also composed nine volumes on karma theory in Hindi and Viraśekhara Vijaya and Jagatacandra Vijaya in four volumes in Prakrit and Sanskrit.

### III

The literature related to Jaina religious practices, ethics, yoga and code of conduct is very vast. Most of the Jaina literature is related with this category. It can be further divided into five sub-categories:

(i) Hymns composed in the praise of Tīrthaṅkaras covers the greatest part of Jaina literature. Siddhasena's *Dvātrimśakadvātrimśikās*, *Kalyāṇamandira-stotra*, Samantabhadra's *Svayambhūstotra*, Kundakunda's *Daśabhakti*, Mānatuṅga's *Bhaktāmara-stotra*, etc. are the prominent literature of this category.

(ii) The works related to the modes of worship, religious rituals and ceremonies are also, much more in number than other categories. Umāsvāti's *Pūjāprakaraṇa* was the first work of this sub-category, which is not available at present. In fact, the works of this category are mingled with the works related to Jaina ethics and code of conduct. Haribhadra's works such as *Aṣṭaka*, *Ṣoḍaśaka*, *Vinśikā*, *Pañcavastu*, *Caityavandanabhāṣya* belong to this category. Jaina literature related to rituals is near about one thousand and five hundred in number. It is very difficult to mention even their names in this short article.

(iii) Third sub-category of religious literature includes the works such as Kundakunda's *Niyamasāra* and *Aṣṭapāhuḍa*, Pūjyapāda's *Iṣṭopadeśa* and Haribhadra's *Upadeśapada*, *Dharmabindu*, *Upadeśaprakaraṇa Sambodha-prakaraṇa* etc.

(iv) The fourth sub-category is related to Jaina *Sādhana* and *Yoga*. Umāsvāti's *Praśamarati-prakaraṇa*, Jinabhadra's *Dhyānaśataka*.

Haribhadra's *Yogaviṅśikā*, *Yogaśataka*, *Yogabindu* and *Yogaḍṛṣṭisamuccaya*, Pūyapada's *Samādhi-tantra*, Śivārya's *Bhagavatī-ārādhana* and various other works related to *Ārādhana* and *Samādhimaraṇa* comes under this category.

(v) The fifth sub-category comprises the work related to the ethics and code of conduct for the monks, nuns and householders. Though various canonical works, *Tattvārtha-sūtra* and its various commentaries also deal with this subject matter, but some independent works are also composed in this field. In Śvetāmbara tradition Haribhadra's *Sāvayapaṇṇatti*, Hemacandra's *Yogaśāstra*, various *Samācārīs* and *Yatidinakṛtya* were written under this sub-category, whereas in Digambara tradition Āśādhara's *Anagāradharmāmṛta* and *Sāgāradharmāmṛta* along with various *Śrāvakācāras* have been written.

#### IV

Jaina narrative literature of this period is generally divided into five sub-categories, viz. (i) biographies of the 63 illustrious personalities (Śalākāpuruṣas) described together in one book, (ii) life-stories of these religious great personalities described independently in a work, (iii) religious tales in romantic form, (iv) semi-historical *Prabandhas* and (v) compilation of stories in the form of *Kathākośas*.

Some prominent works of the narrative literature such as *Caupannamahāpurisacariyam* of Śilāṅka, *Triṣaṣṭīśalākāpurūṣacaritra* of Hemacandra, some semi-historical *Prabandhas*, *Prabhāvākacarita*, *Prabandhacintāmaṇi*, *Ākhyānakamaṇikośa*, *Prabandhakośa*, etc. of this category were composed between c. 12<sup>th</sup>-14<sup>th</sup> A.D.

#### V

In the beginning of 3<sup>rd</sup> century A.D., several independent works were composed on various secular subjects such as -Astronomy, Astrology, Geography, Mathematics, Biology, Art and Architecture,

Linguistics and Medical sciences, i.e., Āyurveda, etc. It would be in the fitness of the things to record some of the details about such works, viz. *Lokavibhāga* of Sarvanandī (c. 6<sup>th</sup> A.D.) and *Tiloyapaṇṇatti* of Yati-vṛṣabha composed in Prakrit are two important works on Astronomy and Geography respectively. Some more works like Umāsvāti's *Jambūdvīpasamāsa* and *Kṣetravicāra* (c. 3<sup>rd</sup> A.D.) and *Bṛhatkṣetrasamāsa* of Jinabhadragaṇi Kṣamāśramaṇa (c. 7<sup>th</sup> A.D.) also deal with Geography and some aspects of Jaina cosmology. Among these works, *Kṣetravicāra* is not available today. *Jīvasamāsa* and *Jīvavicāra* as well as *Tandulavaicārika* are the works dealing with Jaina Biology, Pūjyapāda Devanandī (c. 6<sup>th</sup> A.D.) had composed a treatise named *Vaidyakaśāstra* dealing with Āyurvedic medicines, but this work is also not available today. *Jyotiṣakaraṇḍaka* is a *prakīrṇaka*, which also deals with Jaina Astrology. In the field of Grammar, *Jainendra-vyākaraṇa* or *Endravyākaraṇa* of Indranandī (c. 6<sup>th</sup> A.D.), *Śāktāyana-vyākaraṇa* of Śāktāyana (c. 9<sup>th</sup> A.D.) and *Svayambhūvyākaraṇa* of Tribhuvana Svayambhū (c.8<sup>th</sup> AD) are regarded important works on grammar. Ṭhakkaraṇa's works -- *Ratnaparīkṣā* and *Dhātuparīkṣā* as well as *Vāstusāra* also belong to this category. It shows that Jaina scholars have written in all fields and contributed a lot to the Jaina literature.



## How appropriate is the proposition of Neo-Digambara School?

An article entitled 'Neo-Digambara School', by Dr. Hampa Nagarajaiah has been published in the January 2006 issue of '*Jaina Journal*'. Generally, we all are acquainted with the Digambara and Śvetāmbara sects of the Jains. There is a less known sect named Yāpanīya on which some books and articles had already thrown a fresh light. Dr. A. N. Upadhye and Pt. Nathuram Premi had contributed some articles on this very topic. Books like - '*Yāpanīya Aura Unakā Sāhitya*' by Dr. Kusum Patoria and '*Jaina Dharma Kā Yāpanīya Sampradāya*' by the author itself have made the scholars and the elite sections of the Jains well acquainted with the origin and the development of Yāpanīya Sect. These works strongly advocated that most of the sacred works of the Digambara sect belong to Yāpanīya tradition. In reaction of this thesis a campaign seems to have started to prove these works belonging to Digambara tradition. Dr. Nagarajaiah's article under review is also a link in the same chain. In this article, Dr. Hampa Nagarajaiah has proposed an imaginary Neo-Digambara sect, and has tried to show that the works that are believed to be of the Yāpanīya tradition are actually of the Neo-Digambara sect. Here, I would like to discuss whether this deliberation of the learned author is just imaginary or based on any historical facts.

As far as the Śvetāmbara, Digambara and Yāpanīya sects are concerned; there are ample literary and epigraphical proofs available from the Ancient and the middle Ages. Most of the literary and epigraphical evidences regarding Yāpanīya sect dates back to the 5<sup>th</sup> to the 14<sup>th</sup> century AD. My first question is, "Is there a single literary

or epigraphical evidence available to support the existence of Neo-Digambaras? If not, then what is the basis of the deliberation of Dr. Nagarajaiah. As far as I know, we have the ancient inscriptional proof regarding Kūrcaka and the Mūlasaṅgha along with the Śvetāmbara, Nirgrantha (Digambara) and the Yāpanīya sects. Mūlasaṅgha is the forerunner of the Yāpanīya Saṅgha, which I have categorically proved in my book - '*Jaina Dharma Kā Yāpanīya Sampradāya*'. Although the Digambara scholars relate it to the Nirgrantha Saṅgha but how far this belief is tenable, to go into can be a controversial issue. I have presented ample arguments to my stand in my book, '*Jaina Dharma Kā Yāpanīya Sampradāya*'. The interested readers may see that book. So far as the Kūrcaka Saṅgha is concerned, I have found a mention of Kūrcaka Gaccha in the Śvetāmbara tradition also. However, firstly, this mention is later, and secondly, it is related to a place Kuchera in Rajasthan, while the inscription regarding the Kūrcaka Saṅgha is found from the South dated 5<sup>th</sup> century A.D. Was there any relation between Kūrcaka Gaccha and the Kūrcaka Saṅgha, is a matter of further investigation.

In his book Dr. Hampa Nagarajaiah has mentioned four sects - Yāpanīya, Śvetāmbara, Digambara, and Neo-Digambara, and has considered the Neo-Digambara sect as different from the Digambara sect. He has simply categorized the following literary works:

1. '*Paumacariyaṃ*', a work on the story of Rāma by Shri Vimalasūri is of the Yāpanīya tradition.

2. Rāma-stories by Śīlāṅka and Hemacandra Sūri are from the Śvetāmbara tradition.

3. '*Ādipurāṇa*' by Jinasena, and descriptions about Rāma by Guṇabhadra (c. 898 AD) and Puṣpadanta (c. 965 AD) are of the Digambara sect and that

4. '*Padmapurāṇa*' by Raviṣeṇa, '*Harivaṃśa*' by Punnāta Jinasena and '*Bṛhatkathakośa*' by Hariṣeṇa are from the Neo Digambara sect.



To this, my first objection is, "Have Raviṣeṇa, Punnāṭa Jinasena and Hariṣeṇa ever claimed themselves or their master-disciple tradition to be belonging to the Digambara or the Neo-Digambara tradition?"

'Is there any other inscriptional or literary evidence about the Neo-Digambara sect, as found in the case of Yāpanīya, Śvetāmbara and Digambara (*Nirgrantha*) sects? Neo-Digambara sect was neither existent ever before nor at present, therefore, how it can be accepted as a sect? I have clearly proved in my book, '*Jaina Dharma Ka Yāpanīya Sampradāya*' that as far as Umāsvāti, Vimalasūri and Siddhasena Divākara are concerned, they are from a period prior to the clear division of the Jaina tradition into Yāpanīya Śvetāmbara, and Digambara (*Nirgrantha*) sects. The facts mentioned in their works tally with the conditions of the Jaina Saṁgha in the first-second century AD, when many differences of opinion regarding conduct had crept into but the sectarian division had not taken place. We do get the inscriptional and archaeological proofs about the pre-sectarian-division period in the Mathura inscriptions and its iconography. But these are indicative only of the situation obtaining prior to coming into being of the Śvetāmbaras and the Yāpanīyas. They cannot be called Śvetāmbaras, Digambaras or the Yāpanīyas. Śvetāmbara, Digambara and Yāpanīya grew into sects some two to three centuries later.

The clear and early mention of the Śvetāmbara, Digambara and Yāpanīya orders are not found before 5th century AD. Dr. Hampa Nagarajiah's contention that Śīlāṅka and Hemacandra represent the white-clad sect while Guṇabhadra and Puṣpadanta represent the sky-clad or Nirgrantha sect is not a matter of any controversy. However, his contention that Raviṣeṇa, Punnāṭa Jinasena and Hariṣeṇa were not Yāpanīya but Neo-Digambaras cannot be accepted in absence of any solid proof. A careful study of the works of Raviṣeṇa, Punnāṭa Jinasena and Hariṣeṇa shows that many of their beliefs were quite close to that of Yāpanīya Saṁgha. In my opinion, the three works

referred to by the learned scholar- '*Padmacarita*' of Raviṣeṇa, '*Harivaṅśapurāṇa* of Punnāṭa Jinasena, and '*Vṛhatkathākośa*' of Hariṣeṇa actually appear to be ascribed to *Yāpanīya* tradition. Because many of their beliefs are different from both, the Digambaras and the Śvetāmbaras and such a sect cannot be other than the *Yāpanīya*. To call them by the name of Neo-Digambaras is totally imaginary, because the sect that partly resembled and was partly different from the Śvetāmbara and Digambara traditions was none other than *Yāpanīya* sect, which has already been proved on the basis of ample literary and inscriptional evidence.

Revered Dr. Hampa Nagarajaiah ascribes *Padmapurāṇa* of Raviṣeṇa and the portion relating to the story of Rāma in the *Harivaṅśapurāṇa* of Jinasena to the Neo-Digambara tradition for the reason that they are different from those in the Digambara tradition and follow the story of *Paumacariyaṃ* of Vimalasūri. However, if he believes that in *Padmacarita*, Raviṣeṇa has followed the story of Vimalasūri of the *Yāpanīya* tradition, he should ascribe Raviṣeṇa to the *Yāpanīya* and to the Neo-Digambara tradition. Here, to substantiate his view, he puts forth the story of Kaikeyī. He writes, "Kaikeyī, the queen of Daśaratha, has been shown liberated, and because the *Yāpanīyas* believe in the liberation of women, Vimalasūri must be an *Yāpanīya*. However, as Raviṣeṇa has not mentioned about the liberation of Kaikeyī in his *Padmacarita*, he should belong to Neo-Digambara and not to the *Yāpanīya* sect." He was not accepted as a Neo-Digambara just because he did not mention the liberation of Kaikeyī. In *Padmacarita* itself, there are number of facts that prove Raviṣeṇa to be an *Yāpanīya*. When we compare the *Paumacariyaṃ* and *Padmacarita*, it becomes clearer that the *Padmacarita* of Raviṣeṇa is generally a Sanskrit version of the Prakrit *Paumacariyaṃ* of Vimalasūri. If Prof. Nagarajaiah believes Vimalasūri to be *Yāpanīya*, then he should also accept every one who follows his (Vimalasūri's) story of Rāma, as *Yāpanīya*. Not only this, in many instances,

Raviṣeṇa has, like Yāpanīyas, taken the nuns as equivalent to the monks and not unfit for taking the five great monastic vows. Again, wherever he has mentioned the monastic ordination of any man or woman, he has clearly mentioned his or her attainment of heaven or liberation. In available edition of *Padmacarita*, he has mentioned the monastic ordination of Kaikeyī along with 300 other women and concluded the *sarga* (section) by saying. "*samyaktvaṁ dhārayanti sunirmalaṁ*." Here, the verb '*dhārayanti*' has been used in the plural form, which indicates that he has referred to all 300 women and not only Kaikeyī. The 86<sup>th</sup> *parva* of this work neither mentions Kaikeyī's going to heaven nor does it say anything about her attaining liberation. He also does not mention as to what happened to her after death, while in Bharata's case he mentions his *nirvāṇa* along with his monastic ordination.

Similarly, the accounts of Sītā's monastic ordination include her description of going to heaven. Under such circumstances, why has Raviṣeṇa not mentioned anything about Kaikeyī's destiny after her death? What implies the silence of Raviṣeṇa here? If, according to Dr. Nagarajaiah Raviṣeṇa was a Neo-Digambara and did not believe in attainment of liberation of women, he could have at least mentioned her going to the heaven. Here, it appears that in order to support the Digambara view of non-liberation of women, the successive copyists or editors had removed the portions related to her liberation and added; "*samyaktvaṁ dhārayanti sunirmalaṁ*" or they had completely removed a verse mentioning the liberation of Kaikeyī. The scholars with sectarian zeal are responsible for such type of act. It is a well-known fact that the term '*sañjāda*' was removed from the 93<sup>rd</sup> aphorism of the first part of *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, because it was in very much tune with the woman-liberation. This question had caused quite an argument even amongst a number of Digambara scholars. The very term is still absent in the first published edition of the *Dhavalā*, commentary on *Ṣaṭkhaṇḍāgama* and the copper plates thereof. This

was subsequently restored in the second edition. Similarly, in the Jñānapīṭha edition of the *Sarvārthasiddhi*, a number of phrases from the earlier editions were changed. In my view, a similar incident has happened in this case also, and the portion related to the liberation of Kaikeyī has been removed. Even then, in this very section of this work, there are a number of facts indicating it to be a work of the Yāpanīya tradition. For example, the nuns have never been accepted as equal to the monks in the Digambara tradition, whereas at the end of the 86<sup>th</sup> *parva* concerning Kaikeyī, three concluding verses clearly mention that Kaikeyī had torn the web of lay existence and gained the best status of a *Āryikā*. Further it has been said therein that having shed all encumbrance and having gained the wealth of liberation she was glittering like unblemished Moon. Here, we find two indications - first of her liberation and second of her freedom from all forms of encumbrance (*parigraha*) and both these facts will not be acceptable even to so called Neo-Digambara sect. Further, it has been mentioned that where there was the monastic group of the monks, nearby there was a group of the haloed nuns. Thus, that congregation was resplendent with many a lotus in the form of monks and nuns. Also, there were a number of householders with purity of mind well endowed with austerities and righteousness. Further stanzas of the same work conclude that when the sun of knowledge rises every one is liberated. Thus, even today this *parva* contains indirect references of woman-liberation and liberation of lay followers as well. Therefore, there remains no doubt about Raviṣeṇa's *Padmacarita* to be a work of the Yāpanīya tradition.

Dr. Hampa Nāgarajaiiah has also mentioned an unavailable story of Rāma by Śrīvijaya (c. 865 AD) and Ponna (c. 965 AD). However, in absence of the story, it is difficult to say whether they were Yāpanīyas or Neo-Digambaras. Ācārya Udyōtanāsūri of the Śvetāmbara tradition has mentioned Vimalasūri and Yāpanīya Raviṣeṇa in his lineage. It also shows that Raviṣeṇa was an Yāpanīya,

because the Śvetāmbaras had always enjoyed good and affectionate relations with the Yāpanīyas.

Moreover, Dr. Nagarajaiah has tried to show that the author of *Harivaṅśapurāṇa*, Punnāta Jinasena was also from the Neo-Digambara tradition. Though he has agreed that the stories of *Harivaṅśapurāṇa* are different in many ways from Digambara accounts of the stories, even then he is not ready to accept him (Punnāta Jinasena) belonging to the Yāpanīya tradition and ascribes him to the Neo-Digambara tradition. In support of his view he says that *Harivaṅśapurāṇa* has neither mention of woman-liberation (*strī-mukti*) nor intake of foods by Kevalins (*kevalī-bhukti*). Therefore, his views are different from those held by the Śvetāmbara and the Yāpanīya traditions, and seem to be of Neo-Digambara. The 65<sup>th</sup> *sarga* of *Harivaṅśapurāṇa*, referred by Dr. Nagarajaiah mentions liberation of the followers of other faiths. This concept of liberation was accepted by the Śvetāmbaras and the Yāpanīyas and not by Digambaras. Thus clear mention of liberation of Nārada, ordained as a *Tāpasa* by *Harivaṅśapurāṇa* proves itself as a work of *Yāpanīya* tradition. If Dr. Nagarajaiah accepts the fact that the liberation of the *Tāpasas* was acceptable to the Neo-Digambaras, he will have to invariably accept the liberation of the clothed ascetics as well as the householders and the women also. In that case there would be no difference between the Yāpanīyas and the Neo-Digambaras. Actually, those whom he wishes to call by the name of Neo-Digambaras are Yāpanīyas only. Yāpanīyas do not belong to the Śvetāmbara tradition but to Digambaras, because they support the unclothed monasticism. Yāpanīya branch of the Digambaras, being not different from the Digambaras, the origin, development and merger of this sect is related to the Digambara tradition only. Today, their literature, temples, and icons, etc. have been inherited the Digambara sect and it is surprising that why are they so reluctant to the Yāpanīyas and unnecessarily coining terms like Neo-Digambaras for them. Is it correct to call the

Yāpanīya Ācāryas and their literature as Neo-Digambara for the sake of self-satisfaction only? Where there are ample literary and inscriptional evidences to support the Yāpanīya tradition, nothing is available to support the existence of the Neo-Digambara tradition. If Dr. Nagarajaiah claims all those Ācāryas and their works that Prof. Upadhye, Pt. Nathuramji Premi, Dr. Kusum Patoria and myself have already proved to be Yāpanīya, as Neo-Digambara, then, which literature remains to be called as Yāpanīya? If Neo-Digambaras and the Yāpanīyas are the same, the term Neo-Digambara becomes meaningless. In my opinion, Neo-Digambaras are nothing more than a flight of imagination of the learned author.

Dr. Nagarajaiah calls Hariṣeṇa, the author of *Bṛhatkathākośa* as Neo-Digambara. But when Hariṣeṇa mentions the liberation of a householder of minor vows, how can he be different from the Yāpanīyas? Hariṣeṇa mentions the names of Indra and Divākara Yati belonging to his lineage. Indra has been mentioned as a Śvetāmbara ācārya in the commentary of *Gommaṭasāra* but Pt. Nathuramji Premi has accepted that Indra and Divākara Yati were from the Yāpanīya tradition. The title *yati* has been especially used in the Yāpanīya tradition and the *ācāryas* have been said to be the leaders of the yatis (*Yatigrāma agrāṇī*). This title was also bestowed upon Śāktāyana himself. Respected Prof. Nagarajaiah has also mentioned the Mūlasaṁgha and the Punnāṭa-Saṁgha as the Digambara Saṁghas, but in my book, '*Jaina Dharma Kā Yāpanīya Sampradāya*', I have, on the basis of many solid proofs, conclusively proved that these Saṁghas belonged to the Yāpanīya tradition. In the Halsī (North Karnataka) inscriptions of the 5<sup>th</sup> century AD, the Digambara Saṁghas are mentioned as Nirgrantha-Saṁghas. Therefore, Punnāṭa Jinasena is not Neo-Digambara but Yāpanīya only.

Again, Punnāṭa-saṁgha is the later version of the Yāpanīya '*Punnāṭavṛkṣa-mūlagaṇa*'. The *gaṇas* of the Yāpanīyas mentioned in the inscriptions have been referred to as Mūlagaṇa only. Mūlasaṁgha

and Mūlagaṇa are synonymous; therefore, Mūlasaṅgha is actually the earlier name of the Yāpanīya-Saṅgha. In due course, when the Yāpanīya-Saṅgha was merged into the Nirgrantha Digambara tradition, the Digambara and Mūlasaṅgha became synonymous.

*Bhagavatī Ārādhanā* by Śivārya is also a work of the Yāpanīya tradition, as its commentator Aparājitāsūri was undoubtedly an Yāpanīya. Even the Digambara origin of *Vaddha-ārādhanā* and another *ārādhanā* also does not prove that the original work was of Digambara origin. Many Śvetāmbara masters such as Haribhadra, Yaśovijaya, etc. cannot be Digambara or Bauddha just because they have written commentaries on many Digambara and Buddhist works. The place of honour that Siddhasena Divākara has gained in the Digambara tradition is only because of the qualitative merit of his work. In my book, '*Jaina Dharma Kā Yāpanīya Sampradāya*', I have clearly proved that Siddhasena Divākara, the author of '*Sanmatitarka*' was the predecessor of the Śvetāmbara and Yāpanīya traditions. It is surprising that a serious scholar of History like Dr. Nagarajaiah has written that Abhayadeva, the commentator of *Sanmatitarka* was a Digambara. In the commentary itself Abhayadeva has mentioned himself as a disciple of Pradyumnasūri of Candragaccha. Not only this, in the last colophon of the *Pārśvanātha-carita*, he has been mentioned as Śvetāmbara grāmanīya. Dr. Nagarajaiah contention that Siddhasena and Jaṭāsirhanandī were Neo-Digambaras is not logical. Siddhasena was a *ācārya* prior to the sectarian division and Jaṭāsirhanandī was clearly an Yāpanīya. The belief that all the *ācāryas* having '*senā*' in his names are from the Sena sect is also not true. In all the three traditions - Digambara, Śvetāmbara and Yāpanīya - there have been a number of *ācāryas* whose names ended with the suffix '*senā*'. Therefore, it is not proper to call all *ācāryas* with the ending suffix '*senā*' as Neo-Digambaras.

A sect by the name of Neo-Digambara never existed. If there ever has been any sect working as a bridge between Digambara and

Śvetāmbara, it is Yāpanīya sect. Yāpanīyas are Digambara only as they support unclothed clergy. I am pained to see as to why the Digambara scholars frown at them by considering them as different. If they have no objection to Drāviḍa and Māthurasarīṅha and their literature, which are mentioned as Quasi-Jaina Sarīṅhas (*Jainābhāsa*), if they have no objection to accept the literature of the Bhaṭṭārakas as their own, then what stops them to accept Yāpanīyas as Digambara? Why do they feel the need for coining phrases like Neo-Digambara for them? Actually, Yāpanīya is that original tradition from which the traditions of the Digambaras and the Śvetāmbaras have developed, and which bridges the gap between the two. The concept of Neo-Digambaras will only go to deepen the dividing line between the two whereas the Yāpanīya tradition will bring us nearer to each other, which is the need of the day.





## Jaina Canonical Literature

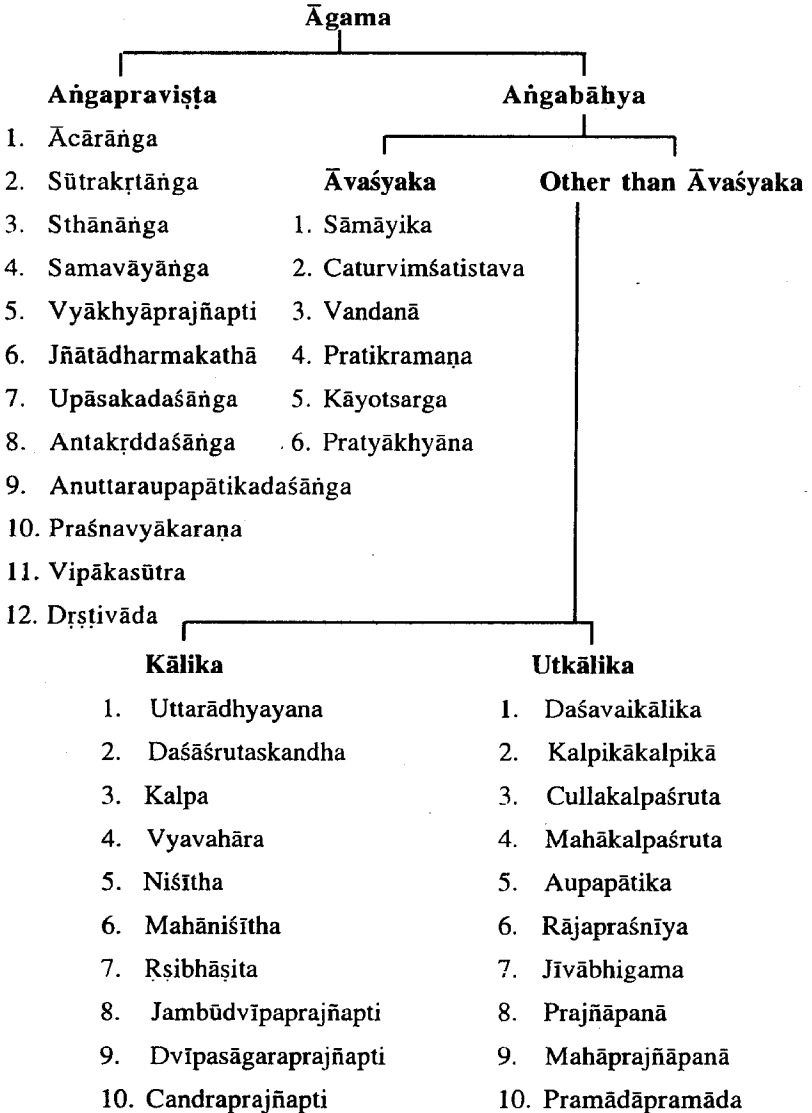
Each and every religion has its own canons or sacred books. The sacred books of Jainas are known as *āgama*. Jaina *āgamas* are composed in Prakrit language, which has various forms or shades such as Māgadhī, Ardhamāgadhī, Pāli, Paiśācī, Śaurasenī, Mahārāstrī, etc.

Jaina canonical literature is found in Ardhamāgadhī and Śaurasenī Prakrit. The Śvetāmbara canons are found in Ardhamāgadhī with some impact of Mahārāstrī, while the Digambara canons are found in Śaurasenī Prakrit with some impact of Mahārāstrī Prakrit, which is also known as Jaina-Śaurasenī.

Most of the Jaina canonical literature was composed in between 5<sup>th</sup> century B.C. to 3<sup>rd</sup> century A.D. Though there are some works such as *Nandīsūtra*, present edition of the *Praśnavyākaraṇa-sūtra* and *Antakṛtdaśāṅga* of Śvetāmbara tradition and *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Digambara tradition along with some other works of Digambara Ācāryas, which were composed after the 3<sup>rd</sup> century A.D. No doubt some interpolations and changes took place at the time of the Māthuri and Valabhī councils, when the *Āgamas*, after final editing, were given the shape of book. These interpolations and changes are clearly traceable.

According to Śvetāmbara tradition, five councils (*vācanās*) were held at different places for the compilation and editing of the canonical works, particularly for the Ardhamāgadhī canons of Śvetāmbara tradition. Though the Digambara tradition does not accept the validity of these councils as well as works compiled in these councils. The first council was held at Pāṭalīputra in 3<sup>rd</sup> century B.C. The second council was held in 1<sup>st</sup> century B.C. under the

guidance of King Khārvela at Kumārī hills in Orissa. The third and the fourth councils were held by Ārya Skandila at Mathura and by Nāgārjuna at Valabhī near about 3<sup>rd</sup> century A.D. It is worth to note that Yāpanīya sect of Digambara tradition had accepted the canonical works of Māthurī Vācanā.



- |                                 |                           |
|---------------------------------|---------------------------|
| 11. Kṣullikāvimānapravibhakti   | 11. Nandīsūtra            |
| 12. Mohallikā Vimānapravibhakti | 12. Anuyogadyāra          |
| 13. Aṅgacūlikā                  | 13. Devendrastava         |
| 14. Vaggacūlikā                 | 14. Taṇḍulavaicārika      |
| 15. Vivāhacūlikā                | 15. Candravedhyaka        |
| 16. Aruopapāta                  | 16. Sūryaprajñapti        |
| 17. Varuṇopapāta                | 17. Pauruṣīmaṇḍala        |
| 18. Garuḍopapāta                | 18. Maṇḍalapraveśa        |
| 19. Dharaṇopapāta               | 19. Vidyācaraṇa Viniścaya |
| 20. Vaiśramaṇopapāta            | 20. Gaṇividyā             |
| 21. Velandharopapāta            | 21. Dhyānavibhakti        |
| 22. Devendropapāta              | 22. Maraṇavibhakti        |
| 23. Utthānaśruta                | 23. Ātmaviśodhi           |
| 24. Samutthānaśruta             | 24. Vītarāgaśruta         |
| 25. Nāgaparijñāpanikā           | 25. Saṁlekhanāśruta       |
| 26. Narakāvalikā                | 26. Vihārakalpa           |
| 27. Kalpikā                     | 27. Cāraṇavidhi           |
| 28. Kalpāvatāmśikā              | 28. Āturpratyākhyāna      |
| 29. Puṣpikā                     | 29. Mahāpratyākhyāna      |
| 30. Puṣpacūlikā                 |                           |
| 31. Vṛṣṇidaśā                   |                           |

While listing the Jaina Canonical literature the Digambara Ācāryas have also followed the same pattern of *Tattavārtha-bhāṣya* of Umāsvāti in their *Ṭikās* of *Tattvārtha-sutra* as well as in the *Dhavalā Ṭikā* of *Ṣaṭkhaṇḍāgama*. Digambara list of *Tattvārtha-bhāṣya*, is almost the same with minor difference in two names only. They do not mention the *Daśā* and the *Rṣibhāṣita*; instead of that they mention *Kalpyākalpya*, *Mahākalpa*, *Puṇḍarika* and *Mahāpuṇḍarika*. It stands thus 13-2 = 11+4 = 15, but they count *Kalpa* and *Vyavahāra* as one and consider fourteen *Aṅgabāhya Āgamas* in total. Regarding the names of twelve *Aṅga-āgamas*, there is no difference between the

Śvetāmbara and Digambara traditions. But Digambara tradition holds that out of twelve *Aṅgas*, only some portions of *Dṛṣṭivāda* are available, rest eleven *Aṅgas* are extinct. On the basis of remaining portions of *Dṛṣṭivāda* the works of Digambara tradition like *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, *Kasāyapāhuḍa* and some other are composed. Digambaras accept that there were fourteen *Aṅgabāhya Āgamas*, but they are also not available in their original form. Among the *Aṅgabāhya Āgamas* accepted to Digambara tradition, names of *Sāmāyika*, *Stavana*, *Vandana*, *Pratikramaṇa*, *Kāyotsarga*, *Pratyākhyāna*, *Kalpa*, *Vyavahāra*, *Uttarādhyayana*, *Daśavaikālika* and *Kalpyākalpya* (*Kalpikākalpikā*) are also found in the list of the *Nandīsūtra* of Śvetāmbara tradition. *Ṛṣibhāṣita*, an old *Aṅgabāhya-āgama*, is found only in *Tattavārthabhāṣya* and *Nandīsūtra*. It has no mention in the list of Digambara tradition. Similarly the names of *Puṇḍarika* and *Mahā-puṇḍarika* found in the list of Digambara tradition are absent in the list of Śvetāmbara tradition.

Unfortunately, all the works mentioned in *Nandīsūtra* are not available today. Some of them are lost. Out of the twelve *Aṅga-āgamas*, the 7<sup>th</sup> chapter of *Ācārāṅga* (*Mahāparijñā*) and the major portion of *Dṛṣṭivāda* are said to be extinct. So far as the subject-matter of 7<sup>th</sup> chapter of *Ācārāṅga* is concerned, in my opinion, it was mainly related to the *Jinakalpa* or strict code of conduct of naked monks. When the followers of this strict code of conduct disappeared gradually, no serious efforts were made to restore it and finally it was lost. Likewise, the twelfth *Aṅga Dṛṣṭivāda*, which is said to be containing five parts (i) *Parikarma*, (ii) *Sūtra*, (iii) *Pūrvagata*, (iv) *Anuyoga* and (v) *Cūlikā*, seems to have dealt mainly with the philosophical doctrines of other schools of thought including the Pārśva tradition. *Pūrvagata*, the third part of *Dṛṣṭivāda* exclusively dealt with the doctrines of Pārśva tradition, which later on was accepted as the doctrines of Mahāvīra. All these works were preserved only through the oral tradition, because Jaina monks and nuns were strictly prohibited to write on palm-leaves due to the strict observance

of non-violence. They were of the opinion that in the process of writing, studying and preserving the palm-leaf works, the injury to the *Jīvas* was inevitable. That is why; they made no efforts to restore them in written form. This was the reason behind the extinction of *Dr̥ṣṭivāda* as well as some other *Āgamas*. In my opinion, *Dr̥ṣṭivāda* became extinct because its contents were not fully in accordance with Mahāvīra's tradition and were mostly related with philosophical discussions of other traditions and schools, hence unable to arouse interest in Jaina monks. Secondly, the concepts accepted by Mahāvīra's tradition, were included in other *Āgamic* texts also, hence Jaina monks did not make any effort to preserve the Pūrva literature. Thirdly, due to the oral tradition other *Aṅga Āgamas* could not remain intact. We find that earlier subject matter of *Praśnavyākaraṇa* has been completely changed. Similarly, partial changes as well as some additions are also noted in the subject-matter of *Jñātādharma-kathā*, *Antakṛddasāṅga*, *Anuttaraupapātika* and *Vipākasūtra*. Among the secondary canons (*Aṅga-bāhya āgamas*) following works, known as *Kālīka* and *Utkālīka*, respectively were also lost in due course of time. The details of such canons are as under:

***Kālīka-sūtra* not available presently -**

1. Kṣullikāvimānapravibhakti
2. Mahallikāvimānapravibhakti
3. Aṅgacūlikā
4. Vaggacūlikā
5. Vivāhacūlikā
6. Aruṇopapāta
7. Varuṇopapāta
8. Garuṇotapāda
9. Dharaṇopapāta
10. Vaiśramaṇopapāta
11. Velandaropapāta
12. Devendropapāta

13. Utthānaśruta
14. Samutthānaśruta
15. Nāgaprajñaptipāṇikā

***Utkalika-sūtra* not available presently-**

1. Kalpikākalpikā
2. Cūlakalpikā
3. Mahāprajñāpanā
4. Pramādāpramāda
5. Pauruṣīmaṇḍala
6. Maṇḍala Praveśa
7. Vidyācaraṇa Vinīścaya
8. Dhyānavibhakti
9. Vītarāga Śruta
10. Vihārakalpa
11. Cāraṇavidhi

About the subject matter of these *Kālīka* and *Utkālīkasūtras*, not existent today, it is very difficult to comment upon. Their subject matter can be inferred on the basis of their titles only. One *Āṅgasūtra*, i.e., *Dṛṣṭivāda*, 15 *Kālīkasūtra* and 11 *Utkālīkasūtras*, thus, the number of extinct texts is 27 in total. Except these 27, all 51 texts are available. At present six *Āvaśyakas* being counted as one, the number finally becomes 46. It is not possible here to deliberate on the corresponding authorship, date and subject matter of each and every text of this list in this short article, so I shall discuss only few important works in their chronological order.

**Primary Canons (Āṅgas)**

*Ācārāṅga* is considered as the oldest of all the works of the early period. According to the scholars, the first part of *Ācārāṅga* belongs to the c. 5th-4th B.C. This part contains the original preachings of Lord Mahāvīra. It deals with the spiritual preachings

along with the basic principles of non-violence and ethical code of conduct, prescribed for Jaina monks and nuns. Its last chapter depicts a real picture of the ascetic life of Lord Mahāvīra. The 7<sup>th</sup> chapter of the first part is supposed to be lost after the composition of its *Niryukti*, i.e., c. 2<sup>nd</sup>-3<sup>rd</sup> A.D. The second part of *Ācārāṅga* is known as *Āyāracūlā* - an appendix. It mainly deals with the detailed rules and regulations or the code of conduct of Jaina monks and nuns along with some of the events of the life of Mahāvīra. Modern scholars opine that the second part of *Ācārāṅga* was composed during the c. 2<sup>nd</sup>-1<sup>st</sup> B.C. Another important canonical work of this era is *Sūtrakṛtāṅga* dating 4<sup>th</sup>-3<sup>rd</sup> century B.C. This work is also full of spiritual and moral preachings but its peculiarity lies in the presentation of different philosophical views prevalent in that particular era. Like *Ācārāṅga*, it also comprises two parts (*Śrutaskandhas*). Scholars are of the opinion that the second part of *Sūtrakṛtāṅga* is somewhat posterior to the first.

The third important work in chronological order of the Jaina canonical literature is *Isibhāsiyāim* (*Rṣibhāṣitam*). All the scholars of Prakrit and Jainology: Western and Indian, consider it of c. 4<sup>th</sup>-3<sup>rd</sup> B.C. It marks the catholicity of early Jaina thinkers. It contains the ethical preachings as well as philosophical views of forty-five thinkers (Rṣis). Out of these Nārada, Asitadevala, Aṅgīrasa, Pārāśara, Nārāyaṇa, Yājñyavalkya, Uddālaka, Vidura etc. definitely belong to Upaniṣadic tradition. Similarly Sāriputta, Vajjiputta, Mahākāśyapa etc. belong to Buddhist tradition while Pārśva and Vardhamāna belong to the Jaina tradition. A few others are of other independent Śramaṇic tradition, not extant today. This work shows that in early period the Upaniṣadic and other Śramaṇic traditions were tolerant as well as respectful to each other.

*Uttarādhyayana* and *Daśavaikālika* are other important works of this early phase. *Uttarādhyayana* contains thirty-six chapters, mainly dealing with the religious preachings as well as some metaphysical doctrines of Jainism. Some chapters of this text are

regarded as the later additions by the scholars but in no way they are later than the c. 2<sup>nd</sup> or 1<sup>st</sup> B.C. The next work *Daśavaikālika*, composed by Ārya Śayyambhava (c. 5<sup>th</sup>-4<sup>th</sup> B.C.) mainly deals with the ethical code of conduct of Jaina monks and nun along with the spiritual discourses and preachings. However, we cannot deny the possibility of interpolations to the some extent in its final editing.

The other works dealing with the ethical code of conduct are *Niśītha*, *Dāsāsrutaskandha* (*Āyāradaśā*), *Vyvahāra* and *Kaḷḷa*, all composed by Ārya Bhadrabāhu in c. 3<sup>rd</sup> B.C. These works, apart from code of conduct deal with transgressions and atonements also.

Against the general belief, that all the *Āngas* are composed by the *Gaṇadhāras*, direct disciples of Lord Mahāvīra, some scholars maintain that except *Ācārāṅga* and *Sūtrakṛtāṅga*, all the *Āngas* are composed later on. In my opinion, it is very difficult to assign any particular date or authorship to these extant works because of containing different levels of the development of Jaina thought, occurred through different ages.

After *Ācārāṅga* and *Sūtrakṛtāṅga*, next two *Āngas* in successive order are *Sthānāṅga* and *Samavāyāṅga*. They may be considered as Encyclopaedia of early Jaina thoughts and beliefs, mainly based on the numbers more or less similar to *Āṅguttaranikāya* of Buddhist tradition. Both these works provide more information about the Jaina order and development of Jaina thoughts of the later period, i.e., c. 3<sup>rd</sup>-4<sup>th</sup> A.D. The next in the list is *Bhagavatī* (*Vyākhyāprajñapti*) which mainly deals with different aspects of Jaina philosophy. According to a group of scholars, this voluminous work was composed at different phases and not at one time. Evidently, it has references to the later works like *Prajñāpanā*, *Anuyogadvāra*, etc. belonging to c. 1<sup>st</sup>-4<sup>th</sup> A.D. and side by side, depicts various earlier original concepts, witnessing change in the process of development of Jaina thoughts. The next work of early period is *Jñātādharma-kathā*. Second part of this work is considerably later than the first. The first contains



mainly stories preached by Lord Mahāvīra to his disciples. Its 19 chapters, referred to in *Āvaśyaka-sūtra*, are undoubtedly composed in the early period. The next among *Aṅga* canons is *Upāsakadaśāṅga*, considered as the first work related to the code of conduct of lay devotees (*Śrāvakas*). It comprises life-sketches of ten prominent lay followers of Lord Mahāvīra. Not having any trace of any later work, it belongs to the early period. *Antakṛddaśāṅga* deals with the life-stories and ascetic life of the persons attaining their salvation in the last span of their life. According to *Sthānāṅga*, it has only ten chapters dealing with life-stories of 10 persons. But present volume contains life-stories of 93 persons. It clearly shows that not at the time of Valabhī *Vācanā* alone but even after that some additional matters were incorporated in *Sthānāṅga*. Same is the case with *Anuttaraupa-pātikadaśāṅga*. Its early edition contained life-stories of only ten persons who attained *Sarvārthasiddhi Vimāna* and were supposed to attain liberation in their next births. Of Jaina canon *Praśnavyākaraṇadaśā*, unfortunately, the earlier contents are totally extinct. It seems that the present subject matter of this work was incorporated in around c. 7<sup>th</sup> A.D. Its extant edition deals with five *Samvaras*, viz. truthfulness, non-violence, non-stealing, chastity and non-possession. Last available work of *Aṅga* canon is *Vipākadaśā*, dealing with fruits of merit and demerits.

### Secondary Canons (Upāṅga)

The first work of the secondary canons is *Aupapātika*. The next work of this category is *Rājaprasnīya*, which so far its subject matter is concerned, is more similar to the Buddhist Pāli canon - *Paseṇīyasutta*. Dealing with the episode of Sūryābhadeva, it also depicts a beautiful picture of ancient art and architecture. On the basis of this depiction, scholars date this work not earlier than c. 1<sup>st</sup>-2<sup>nd</sup> A.D. The third and the fourth, *Jīvābhigama* and *Prajñāpanā*, respectively, deal with the Jaina metaphysics in general and the concepts of *jīva* and *ajīva* in particular. The authorship of *Prajñāpanā* is attributed to Ārya Śyāma (c. 1<sup>st</sup> A.D.). Out of these twelve

secondary canonical works only *Prajñāpanā*'s authorship is known. About the authorship of other works, we are still in dark. The fifth one is *Jambūdvīpaprajñāpti*, mainly dealing with Jaina Geography in addition to the life history of Ṛṣabhadeva. The subject matter of next two works, *Sūryaprajñāpti* and *Candraprajñāpti* are related with Jaina cosmology in general and Jaina astronomy in particular. Scholars date these works c. 2<sup>nd</sup>-1<sup>st</sup> B.C. Other five works of this bunch are very short and rather of less important.

Besides *Aṅga & Upāṅga* canonical literature, *Candravedhyaka*, *Taṇḍulavaicārika*, *Āturapratyākhyāna*, *Mahāpratyākhyāna*, *Maraṇa-vibhakti* mainly concerned with the Jaina *Sādhana*, are known as *Prakīrṇakas*, in general and *Samādhimaraṇa* in particular. All these works are, undoubtedly earlier to the c. 4<sup>th</sup>-5<sup>th</sup> A.D.

Among the non-canonical works of this period, very few in number are extant, namely *Tattvārtha-sūtra* and its auto-commentary (c. 3<sup>rd</sup>-4<sup>th</sup> A.D.), *Paumacariya* of Vimalasūri (c. 2<sup>nd</sup>-5<sup>th</sup> A.D.) and Digambara works composed in Śauraseni Prakrit like *Kasāyapāhuḍa* of Guṇadhara (c. 4<sup>th</sup> A.D.) and *Ṣaṭkhaṇḍāgama* of Puṣpadanta Bhūtabali (about c. 5<sup>th</sup> A.D.). Apart from these, the works of Kundakunda, Samantabhadra and Siddhasena Divākara may also be considered as the works of early period. Scholars differ on the exact date of composition of these works, except that of *Tattvārtha-sūtra*. They date these works in between c. 2<sup>nd</sup> -5<sup>th</sup> A.D.

*Niryuktis* are the first among the non-canonical literature. Ten in number, they are of great importance. These *Niryuktis* mainly explain the meaning of Jaina technical terms from the various standpoints along with the brief account of the subject matter of that particular *Āgama*. Scholars widely differ about the time and authorship of *Niryuktis* except that of *Govindaniryukti*. Some are of the opinion that these *Niryuktis* are composed by Bhadrabāhu-I (c. 3<sup>rd</sup> B.C.) while others consider these to be composed by Bhadrabāhu-II, the brother of Varāhamihira (c. 6<sup>th</sup> A.D.). But in my humble opinion, as

external and internal evidences show, it was neither composed by Bhadrabāhu-I nor by Bhadrabāhu-II. Āryabhadra of c. 2<sup>nd</sup>-3<sup>rd</sup> A.D., in all probability, was the author of these *Niryuktis*. I have given various reasons in support of this view in my independent article published in *Sāgara Jaina Vidyābhāratī* series (published by Pārśvanātha Vidyāpītha, Varanasi, 1994). Presently, we have only the following *Niryuktis*:

1. *Āvaśyakaniryukti*
2. *Daśavaikālikaniryukti*
3. *Uttarādhyayananyukti*
4. *Ācārāṅganiryukti*
5. *Sūtrakṛtāṅganiryukti*
6. *Daśāśrutaskandhaniryukti*
7. *Kalpaniryukti* and
8. *Vyavahāraniryukti*.

Apart from these, two more *Niryuktis*---*Ogha* and *Piṇḍa* are also available, but considered to be tile part of *Āvaśyakaniryukti* and *Daśavaikālikaniryukti*, respectively, they are not independent works. We also have a mention of two more *Niryuktis* on *Sūryaprajñapti* and *Rṣibhāṣita*, but they are extinct now.

Thus, more than hundred works could be considered belonging to this early period but about thirty of them are now extinct.

## Jaina Commentary of Āgamas

### 1. Āgamas and their Commentaries

As mentioned earlier, except *Nandīsūtra* and present edition of *Praśnavyākaraṇa*, most of the *Āgamas* were composed before c. 3<sup>rd</sup> A.D. but their final editing was done only in the c. 5<sup>th</sup> A.D. At the time of this final editing, interpolation of many later developed philosophical concepts and informations regarding the Jaina order crept into these works. The *Nandīsūtra*, composed during this period, deals with the Jaina theory of five-fold knowledge as well as contains

its later developments which took place inc. 4<sup>th</sup>-5<sup>th</sup> A.D. Similarly, the drastic changes in the original subject matter of *Praśnavyākaraṇa* and partial changes in *Antakṛtdaśā* and *Anuttaraupapātikadaśā* also occurred during this period. Almost all the Prakrit and some of the early Sanskrit commentaries on the Jaina *Āgamas* were written in this period, in form of *Niryuktis* (c. 3<sup>rd</sup>-4<sup>th</sup> A.D. ), *Bhāṣyas* (c. 6<sup>th</sup> A.D. ) and *Cūrṇis* (c. 7<sup>th</sup> A.D. ). This period is of great literary importance because majority of the āgamic works were finally edited and some of them were even composed also in this period.

Besides these *Niryuktis*, *Oghaniryukti* and *Piṇḍaniryukti* are also available but *Oghaniryukti* is considered as the part of *Āvaśyakaniryukti* and *Piṇḍaniryukti* as the part of *Daśavaikālikaniryukti*, hence they are not independent work. Though *Niryuktis* on *Sūryaprajñapti* and *Ṛṣibhāṣita* are referred to in *Āvaśyakaniryukti* (verse 85) but at present these two are not available. The *Niśīthaniryukti*, considered as the part of *Ācārāṅganiryukti*, is mixed with its *Bhāṣya*. All these *Niryuktis* are written in Prakrit verses and deal very precisely contents of their respective *Āgamas*.

After *Niryuktis*, *Bhāṣya* on āgamic texts were composed in c. 5<sup>th</sup>-6<sup>th</sup> A.D. The *Bhāṣyas* are more exhaustive and elaborate than those of *Niryuktis*. They were also composed in Prakrit verses. *Bhāṣyas* are quite prolific in their contents referring to various concepts of Jaina philosophy and the code of the conduct for monks and nuns with their exceptions and punishments.

Among *Bhāṣyas*, *Viśeṣāvaśyakabhāṣya* is the most important. It is the first work of Śvetāmbara tradition, dealing with the problems of Jaina philosophy with minute details. The concept of five-fold knowledge has been discussed elaborately with a critical approach herein. Among various proofs given for the existence of soul, one bears similarity to that of Rene Descartes (c. 16<sup>th</sup> A.D.), a Western philosopher, proving the existence of soul through doubt itself. In *Viśeṣāvaśyakabhāṣya*, various contrary views of Jaina ācāryas are mentioned and reviewed along with the views of some rebellious

Jaina thinkers, i.e., *Nihnavas*. It also deals with the differences of Śvetāmbara and Digambara traditions regarding the successiveness and simultaneity of *Kevalajñāna* and *Kevaladarśana* as well as the problem of nakedness of the monk with full details. Other *bhāṣyas* mainly deal with the ethical code of conduct of ascetics with their exceptions and the conditions in which these exceptions could be followed along with their atonements. The *bhāṣyas*, dealing with the code of conduct of monks are - *Daśavaikālikabhāṣya*, *Uttarādhyayanabhāṣya*, *Bṛhatkalpabhāṣya*, *Vyavahāra-bhāṣya*, *Niśīthabhāṣya* and *Jitakalpabhāṣya*. Some of the *bhāṣyas* also contain some informations of historical importance. As the author of the *bhāṣya*, we have only two names: Jinabhadragaṇi and Saṅghadāsagaṇi. Jinabhadragaṇi is the author of *Viśeṣāvaśyakabhāṣya* while Saṅghadāsagaṇi is the author of *Bṛhatkalpa*, *Vyavahāra* and *Niśīthabhāṣya*. Of these two Saṅghadāsagaṇi is supposed to be senior to Jinabhadra, because Jinabhadra, in his work *Viśeṣaṇavatī* has referred to the *Vasudevahiṇḍī*, a work authored by Saṅghadāsagaṇi. The period of Jinabhadra is undoubtedly the latter half c. 6<sup>th</sup> A.D. As Saṅghadāsagaṇi was senior to Jinabhadragaṇi, it leaves no room for doubt that he must have flourished in second half of the c. 6<sup>th</sup> A.D. All these *bhāṣyas* are of considerable length; composed in Prakrit verses and deal with their subjects exhaustively. In the *Bhāṣyas*, we find a rich cultural data and some information about the cultural history of India.

Next, the *Cūrṇis*, unlike the *Niryuktis* and *Bhāṣyas* are written in prose. *Niryuktis* and *Bhāṣyas* are written in Prakrit only, while the *Cūrṇis* are written in Prakrit mixed with Sanskrit. Among *Cūrṇis* - *Āvaśyaka*, *Daśavaikālika*, *Uttarādhyayana*, *Sūtrakṛtāṅga*, *Nandī* are the most important.

All these *Cūrṇis* were written by Jinadāsagaṇi Mahattara. In *Nandīcūrṇi* it is clearly mentioned that this work was completed in Śaka Saṁvat 598 corresponding to 676 A.D. It is, therefore, concluded that most of the important *Cūrṇis* were written in c. 7<sup>th</sup> A.D. Some

*Cūrṇis viz., Daśavaikālika* of Agastyasimha and *Cūrṇisūtras* on *Kasāyapāhuḍasutta* are the earlier among the *Cūrṇi* literature.

Among whole of the commentary literature *Cūrṇis* hold an important place because first, they deal with the various subjects and are directly concerned with social and cultural heritage of Jainism. Secondly, they supply so many informations about the Jaina History pertaining c. 1<sup>st</sup>-6<sup>th</sup> A.D.

*Cūrṇis* were succeeded by Sanskrit commentaries written on different *Āgamic* texts, known as *Vṛttis* or *Vivaraṇas*. Among Sanskrit commentators Haribhadra Sūri is the earliest, flourished in the middle of the c. 8<sup>th</sup> A.D. He wrote commentaries on *Āvaśyaka*, *Daśavaikālika*, *Jivābhigama*, *Prajñāpanā*, *Nandī*, *Anuyogadvāra* and *Piṇḍaniryukti*. Śīlāṅkācārya, flourished in the c. 9<sup>th</sup> A.D. believed to have written several commentaries on *Āgamas* but unfortunately at present only two commentaries on *Ācārāṅga* and *Sūtrakṛtāṅga*, are available. After Śīlāṅka, Abhayadevasūri and Śāntisūri are the prominent names among commentators. Abhayadevasūri has commented upon nine of eleven *Āngas* except *Ācārāṅga* and *Sūtrakṛtāṅga*, hence was called *Navāṅgīvṛttikāra*. Śāntisūri has written a commentary on *Uttarādhyayana-sūtra*. Both of these later Sanskrit commentators flourished, during c. 10<sup>th</sup>-11<sup>th</sup> A.D. This trend of commentary writing is still current in Śvetāmbara tradition.

In Digambara tradition, *Kasāyapāhuḍa* and *Ṣaṭkhaṇḍāgama* are considered as equivalent to *āgamas*. These works are written in c. 4<sup>th</sup>-5<sup>th</sup> A.D. On *Kasāyapāhuḍa*, first commentary was written by Yatīvṛṣabha in the form of *Cūrṇi-sūtras* in c. 6<sup>th</sup> A.D. After that in c. 9<sup>th</sup> A.D. Vīrasena wrote two commentaries-- *Jayadhavalā* and *Dhavalā* on *Kasāyapāhuḍa* and *Ṣaṭkhaṇḍāgama* respectively. *Mahādhavalā* is a commentary on the one part of *Ṣaṭkhaṇḍāgama*, written by his disciple Jinasena. These commentaries mainly deal with Jaina philosophy in general and *Karma* theory in particular.



## An investigation of the earlier subject matter of Praśnavyākaraṇa Sūtra

Both, the Śvetāmbaras and Digambara traditions agree that *Praśnavyākaraṇa* is the tenth *Aṅga* of Jaina Āgamic literature. However, the Digambara tradition believes that the *Aṅga* literature has become completely extinct. For Śvetāmbara tradition it is very much available and has got important place among the Jaina canons even today. Now, if it is available, a vital question arises whether the subject matter of the present *Praśnavyākaraṇa* is identical to the descriptions found in other Śvetāmbara canonical texts or it has undergone transformation. The earlier refernces regarding the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* are traced in *Sthānāṅga*, *Samavāyāṅga*, *Anuyogadvāra*, *Nandī-sūtra* and *Nandīcūrṇi* of Śvetāmbara tradition and *Rājavārtika*, *Dhavalā* and *Jayadhavalā* of Digambara tradition. Out of these texts, *Sthānāṅga* and *Samavāyāṅga* have been assigned to c. 3<sup>rd</sup>-4<sup>th</sup> AD, *Nandī* about c. 4<sup>th</sup>-5<sup>th</sup> AD, *Rājavārtika* to c. 8<sup>th</sup> whereas *Dhavalā* and *Jayadhavalā* are assigned to 10<sup>th</sup> century A.D.

### Nomenclature as 'Praśnavyākaraṇa'

The ancient commentators and scholars of Jaina Āgamas hold that because it deals with the answer to the questions, it was named as '*Praśnavyākaraṇa*'. In my opinion, the subject matter of the earliest edition of *Praśnavyākaraṇa* was neither in the question answer form nor it was in any way related to the occult sciences (*Nimitta-śāstra*). The composition of Āgamic texts in the style of teacher-disciple dialogue i.e. in question answer form is a later event. *Bhagavatī*, also known as *Vyākhyāprajñapti* is its first example. Though, *Samavāyāṅga* and *Nandīsūtra* maintain that *Praśnavyākaraṇa* contains answers to 108 questions asked, 108 questions not-asked, 108

questions partly asked and partly not-asked<sup>1</sup>, but this conception seems to be fabricated only. On the nomenclature of the text, no cogent evidence is available supporting the contention that the earliest subject matter of *Praśnavyākaraṇa* existed in the form of questions and their explanations or even related to occult sciences as maintained by *Samavāyāṅga* and *Nandīsūtra*. No doubt, a tradition of dividing the texts into *Praśnas* was very much in vogue in ancient times. Its most outstanding example is *Dharmasūtra* of Āpasthamba where the subject matter of text has been divided in two *praśnas*. Thus the parts of the book were called *praśnas*. There are 11 *paṭalas* in the first *Praśna* and 11 *paṭalas* in the second *Praśna*. Though the entire text has no question-answer form. The subject matter of *Dharmasūtra* of Baudhāyana is also divided into *praśnas*. Hence it would not be appropriate to hold that due to being related to the occult sciences the text was given the name as *Pras'navyākaraṇa*. Earlier it was named as *Vāgaraṇa-gantha* (*vyākaraṇa-grantha*). It has been mentioned by the same name in *Ṛṣibhāṣita*.<sup>2</sup>

### **The subject matter of Praśnavyākaraṇa**

The subject matter of *Praśnavyākaraṇa* is undoubtedly different as mentioned in other texts. It is worth consideration as to how this transformation took place. If we go through the available references related to the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* keeping the chronological order in mind, the reason behind the changes in the subject matter comes clearer.

#### **(A) Sthānāṅga**

The earliest reference regarding the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* is found in the *Sthānāṅga-sūtra*<sup>3</sup>. Here *Praśnavyākaraṇa* is enumerated in ten *Daśās* with following ten chapters:

- (1) Upamā (2) Saṁkhyā (3) Ṛṣibhāṣita (4) Ācāryabhāṣita
- (5) Mahāvīrabhāṣita (6) Kṣobhikapraśna (7) Komalapraśna
- (8) Ādarśapraśna (9) Aṅguṣṭharapraśna and (10) Bahupraśna.



**(B) Samavāyāṅga**

*Samavāyāṅga* is the next Āgama after *Sthānāṅga* where an elaborate description of the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* is found. It has been specifically mentioned in *Samavāyāṅga* with reference to the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* that it explains 108 *praśnas* (asked questions), 108 *apraśnas* (unasked questions) and miracles of 108 *praśnāpraśnas* (partly asked and partly unasked questions) along with beautiful discourses of *Suparṇas* with Nāgākumāras. It also deals with various occult sciences. This *Praśnavyākaraṇa* is stated by Pratyekabuddhas possessing the knowledge of Jaina doctrines and the doctrines of other faiths and speaking the language equipped with manifold meanings. It is clearly described by the Ācāryas who were the bearers of miraculous virtues, tranquility of mind and perennial sources of knowledge for the welfare of the world. It contains a description of the spell of occult sciences through the medium of mirror, arm, sword, jewel, cloth and sun. There are certain references found in it regarding *Mahāpraśnavidyā*, *Manapraśnavidyā*, *Devaprayoga*, etc. It mentions the sayings of *Jina* endowed with the qualities of increasing virtues of all beings and minimising their vices, astonishing the minds of men, keeping men stationed in the preachings of omniscient Tīrthaṅkaras permeated with miracles, knowing the peculiarity of the occasion and serene tranquility providing enlightenment to the unenlightened and misled, explaining matter difficult to study and comprehend ordained and specific meanings. The readings of *Praśnavyākaraṇa* are limited and it has innumerable *anuyogadvāras*, *pratipattis*, *vedās*, *niryuktis* and *saṅgrahaṇīs*. *Praśnavyākaraṇa* is the tenth *Aṅga* in the order of *Aṅgas* and contains one *Śrutaskandha*, forty-five *uddesana-kāla* and forty-five *sammudeśaka-kālas*. It has been aptly described to contain lacks of verses in terms of counting verses. According to this *Aṅga*, the soul is the only knower. With the presentation of conduct and dispositions, the concept of the object is defined in this text <sup>4</sup>.

### (C) Nandisūtra

The references regarding the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* in *Nandisūtra* is simply a summarized account of *Samavāyāṅga*. The ideas and language are almost identical. The only specialty of the text is that it refers forty-five *adhyayanās* of *Praśnavyākaraṇa* whereas *Samavāyāṅga* refers forty-five *samuddeśana-kālas*. There is no mention of forty-five *adhyayanās* of *Praśnavyākaraṇa* in *Nandisūtra*<sup>5</sup>.

### (D) Tattvārthavārtika

*Tattvārthavārtika* defines the term *Praśnavyākaraṇa* as explanation of questions by raising objections, and their removal through cogent explanations from various viewpoints and thereby determining the meaning of classical and Vedic terms<sup>6</sup>.

### (E) Dhavalā

The subject matter of *Praśnavyākaraṇa* as revealed in *Dhavalā* slightly differs in content from that of *Tattvārthavārtika*. *Dhavalā* refers to four types of tales i.e. *Ākṣepañī*, *Vikṣepañī*, *Samvedanī* and *Nirvedanī* found in *Praśnavyākaraṇa*. It also mentions that *Ākṣepañī* type tales propound the theory of six existences (*Dravyās*) and nine categories (*tattvas*) after refuting the doctrines of others (*para-samaya*). The *Vikṣepañī* tales establish self-doctrine after removing the objections raised by others. *Samvedanī* is a tale of virtue (Punya) or meritorious deeds, which contains a description of the prosperity of Tīrthaṅkaras, Gaṇadharas, Ṛṣīs, Cakravartins etc. *Nirvedanī* tales narrate the results of sin or de-meritorious deeds. It gives a graphic description of worldly sorrows like hell, animal life, decease, old age and death etc. It also states that *Praśnavyākaraṇa* describes destruction, anxiety, gain, loss, happiness, sorrow, birth, death, name object, substance, age and number on the basis of questions<sup>7</sup>. Thus we can say that there is no similarity regarding the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* in the ancient Jaina Āgamic texts.

## A critic of the available descriptions of the subject matter of Praśnavyākaraṇa

In my opinion there have been three possible editions of the subject matter of *Praśnavyākaraṇa*. *Ṛṣibhāṣita*, *Ācāryabhāṣita* and *Mahāvīrabhāṣita* would have been the main subject matter in the first and earliest sacrament which was designated as '*Vāgaraṇa*'. There is a reference indicating the similarity of the subject matter of *Vāgaraṇa* (*Vyākaraṇa*) with *Ṛṣibhāṣita*.<sup>8</sup> It proves its very existence in the ancient period (3<sup>rd</sup> or 4<sup>th</sup> century B.C) and the relationship between *Praśnavyākaraṇa* and *Ṛṣibhāṣita*.

In *Sthānāṅga-sūtra*, *Praśnavyākaraṇa* is classified under tenth chapter (*daśas*). This classification probably was made before the conception of eleven *Āṅgas* or twelve *Gaṇipīṭakas*. The five Texts-*Upāsakadaśā*, *Antakṛtadaśā*, *Praśnavyākaraṇadaśā*, *Anuttaraupāpatikadaśā* and *Vipākadaśā* of the Āgamic literature were counted in ten *Daśās*. Out of these *Daśās*, putting aside the aforesaid five and *Ācāradaśā* known at present as *Daśāśrutaskandha*, the rest four *Bandhadaśā*, *Dviṅṛddhidaśā*, *Dirghadaśā* and *Sanḥṣepadaśā* are not available. It is noteworthy that out of the available six *Daśās* the subject matter of *Upāsakadaśā* and *Āyāradaśā* is almost identical with the available subject matter as given in *Sthānāṅga*. There are certain similarities and dissimilarities regarding subject matter of *Karmavipāka* and *Anuttaraupapātikadaśā*, whereas the subject matter of *Praśnavyākaraṇadaśā* has undergone complete transformation. The subject matter as indicated in *Sthānāṅga* seems to be the oldest edition for we do not find any sign of interpolation of matter on occult sciences in its contents. In my opinion out of the ten chapters of *Praśnavyākaraṇa* as indicated in *Sthānāṅga*, only *Isibhasīyāim*, *Āyariyabhāṣīyāim* and *Mahāvīrabhāṣīyāim* seem to be ancient. What were the contents of *Uvamā* and *Sanīkhā*, is not ascertained. However, I particularly feel that the knowledge pertaining to the Jaina religion would have been preached through some allegories in '*Uvamā*'. Because in *Jñātādharma-kathā* it has been explained through the allegories of

*Karma* and eggs saying that one who does not control over his senses has to suffer and one who enters meditation with flickering mind does not attain the desired fruits. In the same manner, in *Samkhā*, there might be some matter based on equal number described in *Sthānāṅga* and *Samavāyāṅga*. However, there is a possibility that the chapter entitled *Samkhā* was related with Sāṁkhya system of Indian philosophy. Because, the text was very generous in presenting the thoughts of other traditions as well. It is noteworthy that in ancient times Sāṁkhya philosophy belonged to the Śramanic current having proximity to the Jaina philosophy. It seems that chapters like *Addāgapasiāim*, *Bāhupasiāim* were not related to occult sciences but they were related to the Ṛṣis named Ādraka and Bāhuka engaged in philosophical discussions. The commentators of *Addāgapasiāim* have used the term '*Ādarśapraśna*' as a Sanskrit variant of it, which is not correct. The correct Sanskrit variant for *Addāgapasiāim* should be *Ādrakapraśna*. The reference regarding questions and explanations with Ādraka is found in *Sūtrakṛitāṅga* as well as in *Ṛṣibhāṣita* where two chapters named *Addāeṇa* (Ādraka) and *Bāhu* (Bāhuka) are mentioned. There is possibility of the existence of two Ṛṣis -Komala and Khomakṣhobha at that time. *Ṛṣibhāṣita* clearly mentions about Soma. Even then if we adhere to accept that those chapters were related to occult sciences, we have to admit that it was a later addition in it for in beginning it was absent. It is to be remembered that the study of occult sciences was prohibited for the Jaina monks in the ancient times for it was regarded as a *Śruta* tainted with sin.<sup>9</sup>

The references regarding *Praśnavyākaraṇa* found in both *Sthānāṅga* and *Samavāyāṅga* do not belong to the same period. The references of *Samavāyāṅga* are later because the description related to occult sciences is vast though the original facts are procured. The *Sthānāṅga* mentions about the ten chapters of *Praśnavyākaraṇa* whereas *Samavāyāṅga* informs about its 45 chapters. It gives no information about "*Uvamā*" and *Sāṁkhā*", the preliminary two chapters described in *Sthānāṅga*. It is quite possible that the matter

of "Uvamā" was placed in *Jñātādharmakathā* and 'Samkhā' being related with numbers was included in *Sthānāṅga* and *Samavāyāṅga*. *Komalapasiṅgā* is also not mentioned there. The aforesaid three names are replaced by three new names i.e. 'Asi' 'Maṇi' and *Āditya*. *Samavāyāṅga* account clearly shows that the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* was full of the various kinds of occult sciences. There it has been asserted that after getting extinct the three chapters viz., *Isibhāsiyāim*, *Āyariyabhāsiyāim* and *Mahāvīrbhāsiyāim* the description of occult sciences is given.

In fact, the description of *Samavāyāṅga* indicates the existence of any other revised edition of *Praśnavyākaraṇa* in which after the adding an elaborate description of occult sciences, portions of *Pratyekabuddhabhāṣita* (*Rṣibhāṣita*), *Ācāryabhāṣita* and *Vīrabhāṣita* (*Mahāvīrabhāṣita*) were separated and it had become purely a text of occult sciences. To make it more authentic it was told that it contains the wordings sayings of Pratyekabuddhas, Ācāryas and Mahāvīra.

The description about subject matter of *Praśnavyākaraṇa* available in *Tattvārthavārtika* informs only this much that the author had no copy of *Praśnavyākaraṇa* before him. The description given by him is totally imaginary. The stray references about occult sciences available in *Dhavalā* indicate that the author would have received it from the Śvetāmbara or Yāpaniya tradition. It also raises question mark about the existence of any such edition of *Dhavalā*.

I personally feel that the portion pertaining to occult sciences was added first in *Praśnavyākaraṇa* and then the portion of *Rṣibhāṣita* was separated. Between the period of inclusion and exclusion, the same subject matter was retained parallel. The reference about ten chapters of *Praśnavyākaraṇa* found in *Sthānāṅga*, forty-five *uddeśanākālas* in *Samavāyāṅga* and forty-five *adhyāyanas* in *Nandī-sūtra* are not merely by chance but it shows the resemblance of *Rṣibhāṣita* and *Praśnavyākaraṇa*. There has been a valid reason behind ten chapters of present *Praśnavyākaraṇa*. Definitely it would have been done to

mark the early description of *Sthānāṅga*. There are only two options to resolve the controversy of ten and forty-five. Firstly, it is possible that the ancient edition of *Praśnavyākaraṇa* was containing ten chapters and the chapter of *Ṛṣibhāṣita* was divided in forty-five *uddeśakas* or the original *Praśnavyākaraṇa* had forty-five chapters of present *Ṛṣibhāṣita* because along with *Ṛṣibhāṣita*, *Mahāvīrabhāṣita* and *Ācāryabhāṣita* were already incorporated in it. It is also possible that some chapters out of the forty-five chapters of *Ṛṣibhāṣita* might have been classified in the form of *uddeśakas* within *Ṛṣibhāṣita*, some in *Ācāryabhāṣita* and some in *Mahāvīrabhāṣita*. It is significant that *Samavāyāṅga* clearly mentions forty-five *uddeśakas* instead of forty-five *adhyayanas* but it is likely that after its separation from *Praśnavyākaraṇa*, it might have been placed in the form of forty-five chapters within a single text. There remains one more important question that *Samavāyāṅga* refers forty-four chapters of *Ṛṣibhāṣita* whereas present *Ṛṣibhāṣita* has forty-five chapters<sup>10</sup>. Was the *adhyayana* named Vardhamāna not included there in earlier? Because no chapter of this name was included there in. One cannot definitely say whether it was not counted in *Mahāvīrabhāṣita* or there were some other cogent reason behind it. It is significant that the chapter entitled "*Utkatavādī*" bears no information about any Ṛṣi, besides it propounds doctrines of Cārvāka. May be due to this reason it was not accepted in *Ṛṣibhāṣita*. There exists an important point of distinction between the original readings of *Samavāyāṅga* and *Nandīsūtra*. *Nandīsūtra*<sup>11</sup> clearly refers to forty-five *adhyayanas* in *Praśnavyākaraṇa* whereas *Samavāyāṅga* refers forty-five *uddeśanakālas*. It is possible that the term *uddeśaka* was in vogue up to the time of *Samavāyāṅga* and later on they were given new names of *adhyayanas*. Had it been popular to write *adhyayanas* by the period of *Samavāyāṅga*, definitely it would have been mentioned by *Samavāyāṅga* because there appears a clear reference to *adhyayanas* in context of the discussion regarding other *Āṅga Āgamas*.

It is a vital question whether was there really any *Praśnavyākaraṇa* composed with the subject like occult sciences or just

imaginary. No doubt the number of verses of *Praśnavyākaraṇa* mentioned by *Samavāyāṅga*, *Nandīcūrṇi* and *Dhavalā*, are nothing more than imagination. Although *Samavāyāṅga* and *Nandīsūtra* do not furnish the definite figures of verses but *Nandīcūrṇi* and *Samavāyāṅga-vṛtti*<sup>12</sup> provide us figures of its verses as 9216000 followed by *Dhavalā*<sup>13</sup>, which refers to this figure as 9316000. Both the figures appear to be imaginary only.

In this regard, my contention is that the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* as referred by *Sthānāṅga*, *Samavāyāṅga*, *Nandī*, *Tattvārtha-rājavārtika*, *Dhavalā*, and *Jayadhavalā* may not be total imaginary but certainly it was lacking truth.

In this context, we will have to reconsider the meaning of '*addāgaṅguṭṭhabāhuasimaṇi khoma-āiccabhāsiyāṇam*'<sup>14</sup> from the original reading of *Samavāyāṅga* as to whether *Addāga*, *Anguṣṭha*, *Bāhu*, *Asi*, *Maṇi*, *Khoma*, and *Āditya* were real personage or just imaginary because then there will be no meaning of saying 'it was stated by them'. While reviewing the description of *Sthānāṅga*, I had expressed the possibility that *Addāga-Ādraka*, *Bāhu-Bāhuka*, *Khoma-Soma* were Ṛṣis on the very ground that they are mentioned by *Ṛṣibhāṣita*. There exists a possibility that *Āditya* can also be the name of any Ṛṣi. Only three names viz. *Anguṣṭha*, *Asi* and *Maṇi* are such names, which have less possibility of being any individual.

The result of this entire discussion leads us to the conclusion that the subject matter of *Ṛṣibhāṣita* has been undergoing changes from time to time.

### **Is the ancient subject matter of *Praśnavyākaraṇa* secured?**

Here it is also an important point of discussion whether the subject matter of first and second editions of *Praśnavyākaraṇa* have been entirely destroyed or is it secured fully or partially.

In my opinion, the matter contained in the first edition of *Praśnavyākaraṇa* named *Ṛṣibhāṣita*, *Ācāryabhāṣita* and

*Mahāvīrabhāṣita* is substantially secured even today in *Ṛṣibhāṣita*, *Jñātādharma-kathā*, *Sūtrakṛitāṅga* and *Uttarādhyayana*. It seems that after separating the matter from the aforesaid works before the Christian era, the content was preserved in the form of an independent text named *Isibhasīyāim*. It has been a common practice in Jaina tradition that new matter had either been added in the form of *cūlā* or *Cūlikā* or a new treatise was formed taking out matter from any other work. For example, formerly *Nīsītha* was added as *cūlā* of *Ācārāṅga* but later on it was separated from it and formed a new text entitled "*Nīsītha*. Similarly, a new text entitled *Kalpasūtra* was formed from the eighth chapter (*Paryūṣaṇā-kalpa*) of *Āyāradasā* (*Daśāśrutaskandha*). Hence, there is no objection in maintaining that in the beginning, the chapters of *Isibhasīyāim* might have been added to *Praśnavyākaraṇa* and then separating the matter from there, an independent text named *Isibhasīyāim* was formed. This statement of mine is not baseless but has certain grounds. Firstly, there is similarity in the two names, secondly there is a clear reference appearing also in *Samavāyāṅga* that the *Praśnavyākaraṇa* contains the sayings of Pratyekabuddhas who were propounder of their own philosophy and critique of other systems of philosophy. (*Pañhāvāgaraṇadasāsunaṃ sasamaya-parasamaya paṇṇavaya-patteyabuddha ... bhaṣiyāiṇaṃ*).<sup>15</sup> It is said regarding *Isibhasīyāim* that it contains the sayings of Pratyekabuddhas. *Samavāyāṅga* by referring '*sa-samaya-para-samaya paṇṇavaya patteyabuddha*' declares that Pratyekabuddhas do not belong to Jaina tradition only but also to other traditions. The chapters concerning Mankhaligośāla, Devanārada, Asitadevala, Yāgyavalkya, and Uddālaka in *Isibhasīyāim*, also confirm this fact.

In my opinion, the oldest major portion of *Pras'navyākaraṇa* even at present is quite secured in *Isibhasīyāim*, and some portions are preserved in the form of few chapters of *Sūtrakṛitāṅga*, *Jñātādharma-kathā* and *Uttarādhyayana*. The subject matter contained in Tettaliputra chapter of *Ṛṣibhāṣita* is available intact in the 14th chapter named Tettaliputra of *Jñātādharma-kathā*.



It can be confirmed on various grounds that several chapters of *Uttarādhyayana* formed parts of *Praśnavyākaraṇa*. The very name of *Uttarādhyayana* itself indicates the fact that this text has been constituted out of the *Uttara-adhyayan*as of some earlier text. It implies that its subject matter must have been later part of any other text. The 4<sup>th</sup> verse of *Uttarādhyayana-niryukti* confirms that some parts of *Uttarādhyayana* have been adapted from the *Aṅga* literature. The real purport of this *gāthā* of *Uttarādhyayana-niryukti* is that some *adhyayan*as consisting of the discussion about bondage and liberation held between Jinabhāṣita and Pratyekabuddha have been taken from *Aṅga* texts. This statement of the author of *Niryuktis* throws light mainly on three points. Firstly, some of the *adhyayan*as out of the thirty-six *adhyayan*as of *Uttarādhyayana* are stated to be Jinabhāṣita (Mahāvīrabhāṣita). Secondly, some of them are put in the form of conversation of Pratyekabuddhas and thirdly, they have been taken from *Aṅga* literature. Naturally the question arises as to which was the *Aṅga* these parts of *Uttarādhyayana* were taken from. Some of the *Ācāryas* have inferred that the chapters dealing with afflictions etc. have been taken from *Dṛṣṭivāda* but I don't subscribe to their view, which has got no base. The very subject matter would have been taken from the text containing the subject matter of *Mahāvīrabhāṣita* and *Pratyekabuddha-bhāṣita*. It was only *Pras'navyākaraṇa*, which could have such type of subject matter, and hence it would have been taken from this very text only. There is no controversy in accepting that some chapters of *Uttarādhyayana* are the noble sayings of Mahāvīra. Even if we accept that the 30<sup>th</sup> *adhyayana* of *Uttarādhyayana* and the *gāthā* given at the end which is said to be *Mahāvīra-bhāṣita* is later addition and interpolation, the 24<sup>th</sup> *gāthā* of chapter 18<sup>th</sup> of the same text, which is similar to this *gāthā* in content and antiquity from the language point of view, cannot be said to be interpolated. It proves also that many chapters of *Uttarādhyayana* have been the part of *Praśnavyākaraṇa* earlier. If we look at the speakers of the chapters of *Uttarādhyayana*, we find the chapters like

*Namipavvajā*, *Kāpilīya*, and *Sañjayīyā* etc. containing discussion of Pratyekabuddhas. Whereas some chapters like Vinayasutta, Pariṣaha-vibhakti, Saṃskṛta, Akāmamaraṇīya, Chullaka-nirgranthīya, Dumpatraka, Bahuśrutapūjā etc. are definitely Mahāvīrabhāṣita. Some of the chapters like Kesī-Gautamīya and Gaddamīya can be said as *Ācāryabhāṣita*. Therefore, it is beyond any doubt that from the old redaction of *Praśnavyākaraṇa*, several chapters of *Uttarādhyayana* have been formed.

It is noteworthy that *Uttarādhyayana* has not been mentioned at all anywhere in *Sthānāṅga* though it has been mentioned in *Samavāyāṅga* and *Nandī*. As indicated earlier, *Sthānāṅga* is the only text, which denotes the most ancient form of the Jaina literature. In my opinion, before *Sthānāṅga*, *Uttarādhyayana* was not existent as an independent text but was a supplementary to the *Pras'navyākaraṇa*.

The acceptance of *Uttarādhyayana* as *Mahāvīrabhāṣita* cannot be proved unless we consider it as subsidiary to *Pras'navyakarana*. While describing the subject matter of *Uttarādhyayana*, it is said that Mahāvīra attained liberation when he was describing the 37<sup>th</sup> *adhyayana* named *pradhāna* after delivering sermon about 36 not-asked questions (*apṛṣṭa*). While describing the subject matter of *Pras'navyākaraṇa*, it is said that it contains the asked, unasked and partially asked and partially unasked questions. It also proves the resemblance of *Pras'navyākaraṇa* and *Uttarādhyayana*, which tells about the unasked questions and its explanation.

Haribhadra (8<sup>th</sup> century AD) maintains in his *Vṛitti* of *Āvaśyaka-niryukti* that *Ṛṣibhāṣita* and *Uttarādhyayana* are one and the same. Jaina Ācāryas even up to 13<sup>th</sup> century AD believed that *Ṛṣibhāṣita* was merged in *Uttarādhyayana*. *Vidhimārgaprapā* of Jinaprabhasūri clearly mentions that according to some Ācāryas, *Ṛṣibhāṣita* was blend together with *Uttarādhyayana*. If we accept *Uttarādhyayana* and *Ṛṣibhāṣita* as one and integrated, we must consider former as first part and later as the last.

We have already discussed the most ancient first redaction of *Praśnavyākaraṇa*. Now we have to consider as to what can be the position of the astrologically dominated second edition of *Praśnavyākaraṇa*? Is it preserved in some form or other?

As for as the existence of the second edition of *Praśnavyākaraṇa* related with occult sciences is concerned, in my opinion it has also not become extinct, the only thing that has happened is simply that after its separation from *Praśnavyākaraṇa*, it was replaced by a new subject matter solely concerned with influx of *Karmas* (Āsrava) and stoppage of influx of *Karmas* (Saṁvara). Muni Jinavijayajī has published a text named '*Praśnavyākaraṇākhyā Jayapāyada*' in *Samvat* 2015 in Singhi Granthamālā text series No. 43. This text has been published on the basis of an ancient manuscript of palm leave, which was received from the Jaisalmer Jñānabhaṇḍāra of Ācāryaśākhā of Khartaragaccha dated Vikram era 1336. The original text is in Prakrit language consisting of 378 *gāthās*. Besides, there is also a Sanskrit *ṭīkā* on the aforesaid text available in the library of Pārśvanātha Vidyapeeth, Varanasi. The subject matter of this text is occult science.

*Jinaratnakośa* also refers a text named *Jayapāhuḍa Praśnavyākaraṇa*<sup>16</sup> containing only 228 verses, available at the Śantinātha Bhaṇḍāra, Khambhat. Similarly, Mahārājā Nepal also informs us about the availability of *Praśnavyākaraṇa* in his Royal library. According to information received from Shri Agarchandaji Nahta, the copy of the text has been received by Yuvācārya Munishri Nathmalji of the Terāpantha Dharma Saṁgha. A photocopy of this text was donated to Parswanath Vidyapeeth by late Sri Joharimalji Parekh, Ravati, Jodhpur. It could not be studied thoroughly but looking from the comparative point of view, the original *gāthās* are similar to the text published under the Singhi Jaina Grnathamālā, though its commentary is different. A copy of this text has also been received from L.D. Institute of Indology, Ahmedabad. The Pāṭana Jñāna Bhaṇḍāra informs regarding the availability of this text. This

text is available with its *Cūḍāmaṇi-tīkā* containing 2300 verses in number. This copy may be the ancient one<sup>17</sup>.

These grounds confirm that the edition of *Praśnavyākaraṇa* having the subject matter of occult sciences has not become quite extinct rather it is preserved after being separated from *Praśnavyākaraṇa*. If one compares the subject matter of all these texts with the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* available in *Samavāyāṅga*, *Nandīsūtra* and *Dhavalā*, he could definitely be able to find out whether the available different *Praśnavyākaraṇas* are the part of the second redaction of *Praśnavyākaraṇa* or other than that. It is also possible that at the time when *Samavāyāṅga* and *Nandīsūtra* were composed, there were many texts famous with the name of *Praśnavyākaraṇa* on account of their difference in recitation (*vācānābheda*) and the subject matter of all those text was incorporated in. This contention is also based on the assumption that the plural words like '*vāgarāṇaṅgāṅthā*' and '*pañhāvāgarāṅgāṅīm*' are used frequently in *Ṛṣibhāṣita*, *Samavāyāṅga*, *Nandī* and *Anuyogadvāra*. To this it can be inferred that during this period several *Praśnavyākaraṇas* were available due to difference in readings and recitations.

The procurement of palm leave copies of manuscripts of *Praśnavyākaraṇas* along with its *Tīkā* in Sanskrit, confirms that these works were existent in 4<sup>th</sup>-5<sup>th</sup> century AD because in 9<sup>th</sup>-10<sup>th</sup> century AD the *tīkā*s were said to be composed on these works.

Possibly, the matter regarding occult sciences might have been added to *Praśnavyākaraṇa* near about 2<sup>nd</sup> -3<sup>rd</sup> century A.D. and then the part entitled *Ṛṣibhāṣita* might have been separated from it and made specifically a text of occult sciences. Again, this portion concerning occult sciences was separated near about 7<sup>th</sup> century and replaced by the existent edition containing ten chapters -five dealing with *Āsrava* (influx of *Karmas*) and five with *Samvara* (stoppage of influx of *Karmas*). As I have already stated that two previous editions of *Praśnavyākaraṇa* might have been separated from it but their

existence is still maintained in the form of texts named *Ṛṣibhāṣita*, *Uttarādhyayana* and *Praśnavyākaraṇa*. It is hoped that the learned scholars will reach definite conclusions after required research.

### **The proofs regarding the identical subject matter of Praśnavyākaraṇa and Ṛṣibhāṣita**

The most valuable proof of the identical subject matters of *Ṛṣibhāṣita* and ancient *Praśnavyākaraṇa* can be obtained from 31<sup>st</sup>, Pārśva *adhyayana* of *Ṛṣibhāṣita*, which contains the serious discussion of philosophical concepts of Pārśva. In this context the learned author of *Ṛṣibhāṣita* has clearly mentioned that the second variants of this chapter, which is already counted in the grammar-type texts, is also found. The original *gāthā* reads as follows:

*"vāgarānaganthāo pabhiti sāmittam*

*imam ajjhayaṇam tāva imo bīo pādho dissati //"<sup>18</sup>*

It means that the subject matter of *Ṛṣibhāṣita* was also incorporated in *Pras'navyākaraṇa*. At a point of time the subject matter of both *Pras'navyākaraṇa* and *Ṛṣibhāṣita* was almost identical with a few variants. Hence it is proved without any controversy that the subject matter of ancient *Pras'navyākaraṇa* is existent in the present *Ṛṣibhāṣita*. Besides, it is also proved that the philosophical discourses and preachings of the Arhat Ṛṣiṣ like Pārśva etc. were implicit in the original *Pras'navyākaraṇa*.

### **The partial similarity of the subject matters of Praśnavyākaraṇa and Jayapāyada**

The subject matter of '*Praśnavyākaraṇākhyā jayapāyāda*' as referred is closely related to occult sciences. The author has advocated the similarity of the subject matter of both-*Pras'navyākaraṇa* and *Jayapāyada* by referring the 3<sup>rd</sup> verse of the text, which reads as '*pañham jayapāyadam voccham*'<sup>19</sup>. While clarifying the subject matter of the text in the commentary of this verse, it is said that it describes

the questions related to '*naṣṭamuṣṭicintālābhālābhasukhaduḥkhajīvanamarāṇa*', etc. This description is very much similar to the description of the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* given by *Dhavalā*<sup>20</sup>. There are certain chapters like *muṣṭi-vibhāga*, *naṣṭikācakra*, *saṅkhyā-pramāṇa*, *lābha-prakaraṇa*, etc. discussed in the text, which partially resembles in content with the subject matter of *Praśnavyākaraṇa* described in *Samavāyāṅga*<sup>21</sup>. It is unfortunate that even after its publication the learned scholars are not acquainted with this text, which is an ancient and prime text of occult sciences.

The language and terms used in the text like '*pāyaḍa*' or '*pāhuḍa*' infer that it must have been composed around 5<sup>th</sup> century A.D. because *Kasāyapāhuḍa* and *Pāhuḍa-granthas* (*Bodha-pāhuḍa*, *Sīla-pāhuḍa*, etc.) of Kundakunda are the works composed a little prior to this period. The classification of subjects in *Sūryaprajñapti* is also done in the form of *Pāhuḍas*. Hence, *Jayapāyaḍa* may be a part of the second redaction of *Praśnavyākaraṇa* but it cannot be said with certainty unless a thorough study of all the available texts bearing the names of *Praśnavyākaraṇa* is done.

### **Why the changes in the subject matter?**

Naturally, here arises a vital questions as to why it happened that at first the portions related to the *Ṛṣibhāṣita*, *Ācāryabhāṣita* and *Mahāvira-bhāṣita* were separated and replaced by the matter related to the occult sciences and that too finally was replaced by the matter pertaining to Influx of *karmas* and the stoppage of influx of *karmas*. Why the portions of *Ṛṣibhāṣita* etc. were removed first? In my opinion, because it contained the preachings and sayings of Ṛṣis belonging to non-Jaina tradition it was removed first. The account available in *Samavāyāṅga* pertaining to *Praśnavyākaraṇa* also confirms this contention. There it is clearly told that *Mahāpraśnavidyā*, *Manapraśnavidyā*, and *Devaprayāga* etc. have been coined in order to establish people in *Jinavacana* and to ensure their firmness in the sayings of Omniscient Jina. Although it is surprising that the knowledge of

occult sciences, which was considered as *Pāpa-śruta*, was included in the primary canons to promote the interest of non-Jains in Jain order. But looking into its misuse and possible diversion of ascetics class from their meditation and *sādhana* to the practice of occult sciences, it was deemed proper to separate the account attached to these sciences and to replace them by the description of five gates of *Āsrava* (influx of Karma) and five gates of *saṁvara* (stoppage of influx of Karma) in the text. The great commentators of *Praśnavyākaraṇa* like Abhayadeva and Jñānavimala have also concurred with this view for the vital change in its subject matter<sup>22</sup>.

It is a question worth consideration as to when the ancient subject matter of *Praśnavyākaraṇa* was separated from it. Abhayadevasūri, in his learned commentaries on *Sthānāṅga* and *Samavāyāṅga* have clearly mentioned that the subject matter contained in these text is not available is present *Praśnavyākaraṇa*<sup>23</sup>. Not only that, he had also written commentaries only on the existent *Praśnavyākaraṇa* consisting of ten chapters - first five dealing with *Āsrava* (influx of karmas) and the last five giving an account of *Samvara* (stoppage of the influx of *karmas*). Hence, the minimum period for the existent edition should be fixed prior to 1080 A.D. The account of the subject including problem of one or two *śrutaskandhas* furnished by Abhayadevasūri also informs us that before commentary of Abhayadevasūri there was one more commentary written on the present edition of *Praśnavyākaraṇa* in Prakrit. That period should be two three centuries prior to Abhayadeva i.e. near about 8<sup>th</sup> century A.D. Besides, Ācārya Jinadāsagaṇi Mahattara had completed his *cūrṇi* on *Nandīsūtra* in Śaka era 598 or 676 A.D.<sup>24</sup>. He had provided clear indication regarding the interpretation and explanation of five *saṁvara* etc. It proves that before 676 A.D. the *Praśnavyākaraṇa* with the description of five *Āsrava* and *Samvара-dvāra* was existent<sup>25</sup>. Thus, active period for composition of present *Praśnavyākaraṇa* can be fixed later than 6<sup>th</sup> century A.D.

To conclude, it can be maintained that the *Praśnavyākaraṇa* containing the subject matter similar to the subject matter of *Ṛṣibhāṣita*, is the oldest edition most probably composed in 3<sup>rd</sup> century BC. Then in 2<sup>nd</sup>-3<sup>rd</sup> century A.D. the matter pertaining to occult sciences were included to it as informed by *Sthānāṅga*. After that, parts like *Ṛṣibhāṣita* etc. were separated from it in 4<sup>th</sup> century A.D., and was transformed into a text of occult sciences as proved by *Samavāyāṅga*. According to Āgamic literature during this period several texts were in existence with different readings bearing the nomenclature of "*Praśnavyākaraṇa*". The present edition of *Pras'navyākaraṇa* with the description of influx and stoppage of Karmic matter came into existence only in 6<sup>th</sup> century AD. As regards the two extinct editions of *Praśnavyākaraṇa*, the maximum portion of the first edition though with some alterations is included in available *Ṛṣibhāṣita*, *Uttarādhyayana*, *Sūtrakṛitāṅga* and *Jñātādharma-kathā*. The second edition related to occult sciences could be traced in available *Jayapāhuḍa* and *Pras'navyākaraṇa*. I hope scholars will undertake a serious research to facilitate the subject matter of *Pras'navyākaraṇa* more precisely.

### References:

1. *Samavāyāṅga-sūtra*, 546
2. *vāgarāṇaganthāo pabhiti. . . , Isibhāṣiyāim*, 31
3. *Sthānāṅga-sūtra* 10/116
4. *Praśnavyākaraṇa-sūtra*
5. *Samavāyāṅga-sūtra*, 546-549
6. *Tattvārthavārtika*, 1/20, p.73-74
7. *Dhavalā*, Part I p.107-8.
8. *Isibhāṣiyāim*, *Adhyayana-31*
9. *Sthānāṅga-sūtra*, 9
10. *coyālisaṃ ajjhayaṇa isibhāṣiyā diyalogcuyā bhāṣiyā paṇṇattā. Samavāyāṅga-sūtra*, 44/258



11. *Nandīsūtra*, 54
12. *padaggaṃ bāṇauntilakkhā solasa ya sahaṣṣā, Nandīcūrṇi-*  
*p. 70*
13. *Dhavalā*, Part I, p-104
14. *Samavāyāṅga-sūtra*, 547
15. *Ibid*, 547
16. *Praśnavyākaraṇa-jayaprābhṛta (vol.228), Jaina Granthāvalī*  
*p-355*
  - (a) *Cūḍāmaṇivṛtti (Grantha 2300) Pāṭaṇa Catalogue,*  
*Part-I, p-8*
  - (b) *Lilāvati Tikā, Pāṭaṇa Catalogue, Part I, p-8 and*  
*'introduction' p.6*
  - (c) *Pradarśamajyotirvṛtti, Pāṭaṇa Catalogue, Part I p-8*
  - (d) *Vṛhadvṛttitippanikā (Jaina Sāhitya Sanshodhana, Puna*  
*19;5 Series-560), Jaina Granthāvalī, p. 355*  
*Jinaratnakośa, p.274*
17. *Jinaratnakośa, p.274*
18. *Isibhāsiyāim (Shubring) Chapter-31, p.69*
19. *Praśnavyākaraṇākhyarṇ Jayapāhuḍanāma Nimittaśāstram-3*
20. *Dhavalā*, Part-I, p.107-108
21. *Praśnavyākaraṇa-jayapāhuḍanāma Nimittaśāstram,*  
*Prakaraṇa-14, 17,21.38*
22. *Praśnavyākaraṇa-vṛtti* by Abhayadeva, starting
23. *Praśnavyākaraṇa-tikā (Jñānavimāla) starting*
24. *Nandīcūrṇi (Rishabhadas Kesharimal, Ratlam)*  
*Nandīsutta-cūṇṇi, p.69*



## जैन जगत

### शिवाचार्य के चातुर्मासार्थ मालेरकोटला पहुँचने पर भव्य स्वागत

मालेरकोटला (पंजाब)। श्री स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के आचार्य सम्राट आत्मारामजी म०सा० के चतुर्थ पट्टधर अध्यात्म योगी आचार्य सम्राट डॉ० शिवमुनिजी म०सा० का चातुर्मासार्थ यहां पधारने पर भव्यातिभव्य एवं ऐतिहासिक स्वागत किया गया। विश्वमंगल मैत्री-यात्रा में बड़ी संख्या में श्रावक-श्राविकाएं बड़े जोशो-खरोश से सम्मिलित होकर गगनभेदी जयघोष कर रहे थे। सड़क के दोनों ओर खड़े सैकड़ों भाई-बहन अपने आराध्यदेव की भावभरी अगवानी कर रहे थे।

परम पूज्य आचार्यदेव के संग उनके आज्ञानुवर्ती प० पू० श्री श्रीश मुनि आदि मुनिगण और साध्वी महाराज भी थे। यह विशाल मानवमंगल मैत्री-यात्रा स्थानीय जैन बाग से शुरू हुई और बर्तन बाजार, कूलर चौक होते हुए मोती बाजार स्थित जैन स्थानक पहुंची। वहां से रवाना होकर सदर बाजार, छोटा चौक, चौधरिया मोहल्ला, भावड़ा मोहल्ला होते हुए लाल बाजार स्थित एस०एस० जैन मॉडल सीनियर हायर सैकेण्डरी स्कूल पहुंची, जहाँ भव्य अभिनन्दन समारोह आयोजित किया गया था।

स्वागत समारोह में स्थानकवासी समाज के वरिष्ठ नेता सर्वश्री दीपक जैन, कांतिलाल जैन, विश्व जैन, कुलभूषण कुमार जैन, नेमीचंद चोपड़ा, पारसमल छाजेड़, केसरीमल बुरड़, शेरसिंह जैन और समाजरत्न श्री हीरालाल जैन उपस्थित थे। इन सभी महानुभावों का स्थानीय श्रीसंघ की ओर से श्री रतनलालजी जैन ने स्वागत किया।

सर्वप्रथम पूज्य गुरुदेवश्रीजी के प्रिय शिष्य शुभम् मुनिजी ने मंत्र स्मरण किया। स्कूल की छात्राओं ने स्वागत गीत प्रस्तुत किया। समाजरत्न हीरालालजी जैन ने पूज्य श्री के जीवन पर प्रकाश डाला। श्री नेमीचन्दजी चोपड़ा (पाली) ने अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा कि समय-समय पर आपका जो भी मार्गदर्शन प्राप्त होगा, हम उसे लागू करने की पूर्ण कोशिश करेंगे।

### प०पूज्य आचार्य श्रीमद् राजयशसूरीश्वरजी म०सा० का हैदराबाद में भव्य चातुर्मास प्रवेश

७ जुलाई २००८, हैदराबाद। श्री लब्धिविक्रम गुरुकृपा प्राप्त, प्रखर प्रवचनकार, श्री कुलपाकजी महातीर्थ सहित अनेक दिव्य तीर्थस्थापक परमपूज्य आचार्य श्रीमद् विजय

२१८ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक २/अप्रैल-जून २००८

राजयशसूरीश्वरजी म०सा० के फीलखाना, हैदराबाद में दिनांक ६-७-२००८ को ससंघ चातुर्मास आगमन पर विशाल जनसमुदाय ने भव्य स्वागत किया। प्रवेशयात्रा प्रातः ८ बजे श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथ मंदिर, गोशामहल से प्रारम्भ होकर एम० जे० मार्केट, सिद्दी अम्बर बाजार होते हुए महावीर स्वामी जैन मंदिर फीलखाना पहुँची। १०.३० बजे आचार्यश्री लब्धि विक्रम हॉल में आचार्य श्री के प्रवचनों का जनमानस ने सुधापान किया। गुरुदेव के सान्निध्य में चातुर्मास प्रवास हेतु पू० प्रवर्तक श्री वज्रयश वि० म०सा०, पू० उपाध्याय श्री रत्नयश वि०म०सा०, पू० गणिवर्य श्री विश्रुतयशजी वि० म०सा०, पू० मुनि श्री देवेशयश वि० म०सा०, पू० मुनि श्री वीतरागयश वि० म०सा०, पू० मुनि श्री यशेशयश वि० म०सा०, पू० मुनि श्री कर्तव्ययश वि०म०सा०, पू० मुनि श्री करीन्द्रयश वि०म०सा० तथा एकांगपाठी विदुषी पू० साध्वीवर्या रत्नचूलाश्री जी म० सा० और शासन प्रभाविका पू० साध्वीश्री वाचंयमाश्री जी म० सा० (पू० बेन म० सा०) के साथ अनेक साधु-साध्वी भी पधारे। इस अवसर पर हैदराबाद जैन समाज के गणमान्य व्यक्ति उपस्थित थे। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से हैदराबाद जैन समाज को हार्दिक बधाई।

### प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर में चातुर्मास त्रिवेणी

सम्पूर्ण जैन समाज के लिए यह प्रसन्नता का विषय है कि प्राच्य विद्यापीठ शाजापुर में तीन संघों का एक ही स्थान और एक ही भवन में चातुर्मास समागम हो रहा है। यह समागम डॉ० सागरमल जी जैन के सरल एवं सम्प्रदाय निरपेक्ष व्यक्तित्व का ही प्रतिफल है कि खरतरगच्छ, तपागच्छ और स्थानकवासी साधु-साध्वियों के द्वारा प्राच्य विद्यापीठ में ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की त्रिवेणी प्रवाहित हो रही है। निश्चय ही यह एक ऐतिहासिक चातुर्मास होगा।

दिनांक १३.७.२००८ को खरतरच्छीय परमज्ञानी प०पू० मुनि श्री महेन्द्रसागरजी, मुनि श्री मनीषसागरजी, मुनि श्री वैराग्यसागर जी, नवदीक्षित मुनि श्री वर्धमानसागरजी, मुनि श्री ऋषभ सागरजी तथा तपागच्छीय प०पू० साध्वी प्रीतिदर्शनाश्री जी, साध्वी रुचिदर्शनाश्री जी एवं स्थानकवासी आचार्य प०पू० श्री शिवमुनि जी की आज्ञानुवर्तिनी प०पू० कुशलकुवंरजी म०सा० आदि ठाणा-४ और साध्वी श्री प्रतिभाश्रीजी म०सा० आदि ठाणा ३ का भव्य चातुर्मास प्रवेश शाजापुर नगर में हुआ। इस अवसर पर बाहर से पधारे तथा स्थानीय समाज के अनेक प्रमुख व्यक्ति उपस्थित थे। साधु-साध्वियां प्राच्यविद्यापीठ, शाजापुर में रहकर धर्मध्यान के साथ-साथ प्रो० सागरमलजी के निर्देशन में अध्ययन-अध्यापन का कार्य कर रहे हैं। ध्यातव्य है कि शाजापुर में चातुर्मास करने वाले अधिकांश साधु-साध्वियां प्रो० सागरमलजी से जैन धर्म दर्शन की शिक्षा ग्रहण करने हेतु ही वहां पधारते हैं। विगत कुछ वर्षों में अनेक साधु साध्वी प्रो०

सागरमलजी के यहां रुककर अपनी पी-एच०डी० आदि का कार्य पूर्ण किए हैं। पार्श्वनाथ विद्यापीठ की ओर से प्राच्य विद्यापीठ एवं शाजापुर जैन समाज को हार्दिक बधाई।

### श्री गोमटेश्वर विद्यापीठ प्रशस्ति-प्रदान समारोह

श्री गोमटेश्वर विद्यापीठ प्रशस्ति प्रदान समारोह प० पू० जगद्गुरु कर्मयोगी स्वामी चारुकीर्ति भट्टारकजी के पावन सान्निध्य में प्रारम्भ हुआ। 'गोमटेश विद्यापीठ प्रशस्ति' १९८० में स्थापित हुई और अब तक देश के विभिन्न क्षेत्रों के ९० विद्वानों को इस प्रशस्ति से सम्मानित किया जा चुका है। १९९८ में स्थापित गोमटेश विद्यापीठ सांस्कृतिक पुरस्कार से अब तक १२ मनीषियों को सम्मानित किया जा चुका है। इसी प्रकार श्री ए०आर० नागराज के पुत्र श्री मंजूनाथ (बैंगलोर) के सहयोग से सन् २००३ में ए०आर० नागराज रत्नाकरणी साहित्य पुरस्कार की स्थापना हुई। इस साहित्य पुरस्कार से अब तक ६ विद्वानों को सम्मानित किया गया है।

'श्री गोमटेश्वर विद्यापीठ प्रशस्ति, २००८' जिन आठ विद्वानों को प्रदान की गई उनके नाम हैं - १. डॉ० ए०सुन्दर, मैसूर (कर्नाटक इतिहास), २. प्रो० नागराज पूवणी, उजरे (कन्नड़ साहित्य), ३. डॉ० बाला साहेब लोकापुर, बागलकोट (कर्नाटक, साहित्य-संस्कृति) ४. डॉ० किरण क्रान्त चौधरी, तिरुपति (आंध्र में जैन संस्कृति और पुरातत्त्व), ५. प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन, उदयपुर (प्राकृत भाषा एवं साहित्य), ६. डॉ० सत्यप्रकाश जैन शास्त्री, दिल्ली (पत्रकारिता एवं समाज सेवा), ७. डॉ० नलिन के० शास्त्री, बोधगया ( जैनधर्म एवं विज्ञान), ८. डॉ० रमेशचन्द जैन, बिजनौर ( जैन संस्कृत साहित्य)।

श्रीमान् जी०टी० जिनकल्लप्पा, हासन को श्री गोमटेश्वर विद्यापीठ सांस्कृतिक प्रशस्ति से सम्मानित किया गया एवं श्रीमती नवरत्न इन्दुकुमार, चिकमंगलूर को श्री ए०आर० नागराज प्रशस्ति प्रदान की गई। प्रशस्ति-प्राप्त विद्वानों ने भी संक्षेप में अपने उद्गार व्यक्त किये। उन्होंने कहा कि यह प्रशस्ति समारोह उत्तर और दक्षिण की सरस्वती को जोड़ने वाला एक सेतु है। इस प्रशस्ति को पाकर प्रत्येक विद्वान् गौरव का अनुभव करता है क्योंकि उसे केवल सम्मान ही नहीं मिलता, अपितु भगवान् बाहुबली की दर्शन यात्रा और परम पूज्य स्वामीजी का मंगल आशीष भी मिलता है।

समारोह के अंत में श्रीक्षेत्र द्वारा प्रमुख अतिथि श्रीमान् अजित कब्बिन और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कब्बिन का भी सम्मान किया गया। समिति के सचिव श्री एस०एन० अशोक कुमार ने अपनी टीम के साथ कार्यक्रम का संचालन किया और धन्यवाद ज्ञापन किया।

## प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर ( म०प्र० ) : गौरवपूर्ण उपलब्धियाँ

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त जैन विद्वान् डॉ० सागरमलजी जैन ने भारतीय प्राच्य-विद्याओं के शिक्षण, शोध तथा योग एवं ध्यान की परम्पराओं के व्यावहारिक प्रशिक्षण के उद्देश्य से वर्ष १९९७ में प्राच्य विद्यापीठ की स्थापना की, जिसे वर्ष २००० में विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन ( म०प्र० ) द्वारा शोध-संस्थान के रूप में मान्यता प्रदान की गई।

विगत ५० वर्षों से राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में जैन-विद्या के क्षेत्र में किए जा रहे उनके सराहनीय योगदान के लिए 'फेडरेशन ऑफ जैन एसोसिएशन्स इन नॉर्थ अमेरिका ( यू०एस०ए० ) नामक महासंघ द्वारा वर्ष २००६-०७ में डॉ० सागरमलजी जैन को 'जैना प्रेसिडेन्शियल अवार्ड' से सम्मानित किया गया। इसी प्रकार, म०प्र० शासन के संस्कृत बोर्ड द्वारा उन्हें 'वागर्थ सम्मान' से अलंकृत किया गया।

डॉ० सागरमलजी जैन के निर्देशन में साध्वी श्री प्रीतिदर्शनाश्रीजी द्वारा 'यशोविजय का अध्यात्मवाद' विषय पर लिखित एवं प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पर २००६-०७ में जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय, लाडनू द्वारा शोध-उपाधि ( पी-एच०डी० ) प्रदान की गई। इस प्रकार विद्यापीठ के समृद्ध राजगंगा ग्रन्थागार एवं डॉ० साहब के कुशल निर्देशन में १९९७-२००७ तक की अवधि में कुल १४ शोधार्थियों को विभिन्न विश्वविद्यालयों से पी-एच०डी की उपाधि प्राप्त हो चुकी है। इस दृष्टि से भी प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर की राष्ट्रीय स्तर पर ख्यातिप्राप्त शोध-संस्थान के रूप में अपनी पहचान है। यहाँ सभी जैन सम्प्रदायों के साधु-साध्वी एवं मुमुक्षु डॉ० सागरमल जी जैन के मार्गदर्शन का लाभ लेना चाहते हैं।

प्रकाशन के क्षेत्र में भी विद्यापीठ अग्रसर है। वहाँ से अब तक जिन महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है उनके नाम हैं-

१. आचार दिनकर ( चार भागों में )- साध्वी मोक्षरत्नाश्री जी
२. जैन संस्कार एवं विधि-विधान : एक तुलनात्मक अध्ययन
३. जैन विधि-विधान का बृहद् इतिहास - साध्वी सौम्यगुणा जी
४. जैन धर्म में समत्व-योग की अवधारणा - साध्वी प्रियवन्दनाश्री जी
५. त्रिविध आत्मा की अवधारणा - साध्वी प्रियलता श्री जी
६. उपदेश पुष्पमाला ( सात पुष्पिका )- साध्वी सम्यग्दर्शनाश्री जी
७. सर्वसिद्धान्तप्रवेशकः - हिन्दी अनुवाद- साध्वी रुचिदर्शनाश्री जी
८. जैन दर्शन में कारण-कार्य व्यवस्था : एक समन्वयात्मक दृष्टिकोण- डॉ० श्वेता जैन।

## ज्योति प्रसाद जैन ट्रस्ट, लखनऊ द्वारा निर्मूल्य पुस्तक वितरण

पुस्तकालयों, शोध संस्थानों और जिज्ञासु पाठकों की सुविधा के लिए ट्रस्ट द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि वे मात्र पचास रुपये डाक-व्यय के रूप में मनीआर्डर द्वारा श्री रमाकान्त जैन, न्यास-सचिव, ज्योति प्रसाद जैन ट्रस्ट, ज्योति निकुंज, चारबाग (रोडवेज बस स्टेशन के पीछे), लखनऊ-२२६००४ को भेजकर निम्नलिखित साहित्य निर्मूल्य (Free) प्राप्त कर सकते हैं -

१. भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ - सम्पादक - डॉ० ज्योति प्रसाद जैन (महावीर वचनामृत; महावीर स्तवन; महावीर: युग, जीवन और देन; जैन धर्म, दर्शन और संस्कृति; शाकाहार; उत्तर प्रदेश और जैन धर्म - ६ खण्डों में प्रामाणिक विवेचन)

२. युग-युग में जैन धर्म - लेखक डॉ० ज्योति प्रसाद जैन (जैन धर्म; जैन इतिहास के साधन-स्रोत; जैन कला; भारतीय संस्कृति को योगदान; तथा सहायक ग्रन्थ सूची) मूल्य ५०/- रु०

३. गिलास आधा भरा है - लेखक श्री रमाकान्त जैन (व्यावहारिक एवं प्रेरणाप्रद १६ ललित निबंधों का संग्रह) मूल्य ५०/- रु०

४. *Mysteries of Life : Eternal Bliss* by Prof. Anant Prasad Jain

५. जीवन रहस्य एवं कर्म रहस्य - लेखक प्रो० अनन्त प्रसाद जैन  
अन्य विविध महत्वपूर्ण एवं उपयोगी साहित्य भी साथ में उपलब्ध कराया जायेगा।

## Shri Chanchalmal Lodha passed away

Born on 29th Sept. 1929, Shri Chanchal Mal Lodha, S/O Shri Mohanmalji Lodha passed away on 10 May, 2008. Shri Lodha Dedicated his whole life to the service of the Oswal community. He was working on a Research Project on 'Origin and History of Oswals' for past 35 years.

He was the key person in uniting all the Lodha families all over the world. He published four Lodha Oswal Directories' (1985, 1992, 1996 & 2002).

२२२ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक २/अप्रैल-जून २००८

Further, on the request of Shri Bhanwarilal Jain (Choradia) of Jalgaon, Shri Chanchal Mal Lodha collected all the details of about 3000 families of Choradia and its sub gotras (Gadhia, Golechha, Parakh, Bhatnera, Buchha, Shravan Sukha, Rampuria etc.) from all over India for the publication of the Directory entitled 'Aaditynag Choradia and its sub-gotras'.

Apart from publishing different books and directeries on Oswals. He published "History of Oswals" in 2005, with a view to give inspiration and insight to the Oswal youth into the cult and culture of the community to which they belong. This book contains not only the history of Oswal community but also the history of origin of almost 1000 gotras. It may be added that this is the only book in English language on the subject, having in it a lists of 3200 Oaswals Gotras and containing around 20 'Family Trees.'

During his serious illness he did not stop work and published Hindi version of book titled '*Oswalon Ka Itihas*' and '*Aham Brahmasmi*' during 2007. His publications are available at following address.

**Hemant Lodha**

Himalaya Paradise, 206 Civil Lines,

Nagpur 440001

lodhah@gmail.com, Mobile 09325536999

## साहित्य सत्कार

आर्हती दृष्टि, लेखिका : डॉ० समणी मंगलप्रज्ञा, प्रकाशक : कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक-  
आदर्श साहित्य संघ २१०, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-११०००२, संस्करण:  
तृतीय (सन् २००८), आकार- डिमाई, पृष्ठ संख्या : ३८५, मूल्य : पचासी रुपये

समीक्षा कृति 'आर्हती दृष्टि' तेरापन्थ धर्मसंघ के दशम गुरु युगप्रधान आचार्य  
महाप्रज्ञ की शिष्या एवं जैन विश्व भारती विश्वविद्यालय, लाडनूं (राज०) की माननीया  
कुलपति डॉ० समणी मंगलप्रज्ञा जी के द्वारा समय-समय पर जैनदर्शन के विविध  
पक्षों पर लिखे गये शोध-निबन्धों का संग्रह है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में श्री, ह्री और धी  
सम्पदा के रूप में आचार्य महाप्रज्ञ, युवाचार्य महाश्रमण और साध्वीप्रमुखा कनकप्रभाजी  
ने अपना मङ्गल-आशीर्वाद एवं शुभकानाएँ व्यक्त की हैं। साथ ही संस्कृतविद्या एवं  
विविध भारतीय दर्शनों के यशस्वी विद्वान् प्रोफेसर डॉ० दयानन्द भार्गव ने भूमिका  
लिखी है। तदनन्तर लेखिका द्वारा लिखित प्रस्तावना है। अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची  
है। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ अपने आप में परिपूर्ण है।

लेखिका ने अपने इस ग्रन्थ में जीव-जगत् से लेकर जैनदर्शन के प्रायः सभी  
सिद्धान्तों को अपनी लेखनी का विषय बनाकर पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र निबन्धों में  
समेटने का प्रयास किया है। इस क्रम में उन्होंने जहाँ अपने शोध-निबन्धों में जीव,  
आत्मा, परमात्मा, योग, ध्यान, अनुप्रेक्षा, सम्यग्दर्शन, अनेकान्त, नय, निक्षेप, स्याद्वाद,  
सप्तभङ्गी, कर्म सिद्धान्त, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान, केवलज्ञान  
और प्रमाण आदि को समाहित करने का प्रयास किया है, वहीं उन्होंने आचारांग के  
धुताध्ययन, द्वादशारणयचक्र के नय-विवेचन, भगवती के सप्तभङ्गी सिद्धान्त को भी  
रेखाङ्कित किया है तथा विशेषावश्यकभाष्य की संक्षेप में महत्त्वपूर्ण जानकारी दी है।  
साथ ही उन्होंने बौद्धदर्शन जैसे समकालीन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त विभज्यवाद को  
जैनागमों के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास किया है और निष्कर्ष स्वरूप यह भी कहने  
का साहस किया है कि विभज्यवाद अनेकान्तवाद का प्राचीन रूप है। इसकी पुष्टि में  
उन्होंने जैनागम भगवतीसूत्र और शीलाङ्कवृत्तिकार के मतों को भी उद्धृत किया है।

लेखिका ने अपने इन शोध-निबन्धों में विशाल दृष्टिकोण को अपनाते हुये सभी  
दार्शनिक सिद्धान्तों में नयदृष्टि को स्वीकार किया है और अन्य दर्शनों के साथ समन्वय  
स्थापित करने का सार्थक प्रयास किया है, जो वर्तमान युग के अनुरूप है।



द्वैत और अद्वैत- ये दो विचार हैं, चिन्तन हैं। अद्वैतवादियों ने एक तत्त्व को आधार बनाकर विश्व की व्याख्या प्रस्तुत की है और द्वैतवादियों ने दो तत्त्वों को आधार बनाकर। द्वैतवादियों के अनुसार दृश्यमान चराचर जगत् न केवल जड़ से पैदा हुआ है और न केवल चेतन से। चेतन तथा जड़ की समन्विति का नाम ही जगत् है। चेतन जड़ को पैदा नहीं कर सकता। अचेतन चेतन का उत्पत्तिकारक नहीं (१)। अनैकान्तिक दृष्टिकोण अपनाये बिना यह चिन्तन मानस में आ ही नहीं सकता है।

‘आत्मा और पुनर्जन्म’ नामक लेख में विदुषी लेखिका ने जिस प्रकार विविध भारतीय दर्शनों के साथ ही पाश्चात्य दार्शनिकों के मत को प्रस्तुत किया है, उससे भारतीय दर्शनों के साथ ही पाश्चात्य दर्शनशास्त्र पर भी उनकी गहरी पकड़ की जानकारी मिलती है। इसी प्रकार ‘आत्मा का वजन’ और ‘आत्मा की देहपरिमितता’ आदि लेख भी उनके परिपक्व ज्ञान को उजागर करते हैं। एक सत्यशोधक सम्प्रदायातीत होकर निष्कर्षों को स्थापित करता है और यही कारण है लेखिका ने समान रूप से दिगम्बर और श्वेताम्बर आगमों/ग्रन्थों के सन्दर्भ देकर अपने कथन की पुष्टि की है।

जैनदर्शन का अनेकान्त सिद्धान्त युगों-युगों से जनचेतना जाग्रत कर विश्व को एक मंच पर लाने का प्रयास कर रहा है। इस सिद्धान्त की जितनी आवश्यकता पहले थी, उससे कहीं अधिक आज है और भविष्य में भी इसकी उपयोगिता बनी रहेगी। यह सह-अस्तित्व के लिये नितान्त आवश्यक है। क्योंकि सत्य की व्याख्या के लिये प्रत्येक युग में अनेकान्त सिद्धान्त अपरिहार्य अस्त्र है। ‘मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना’ के इस युग में अनेकान्तदर्शन ही युगीन समस्याओं का समाधान कर सकता है। इस सन्दर्भ में लेखिका के निम्न विचार ध्यातव्य हैं- अनेकान्त सहिष्णुता का दर्शन है। राजनीति का क्षेत्र हो या समाजनीति का, धर्मनीति का हो या शिक्षानीति का, सफलता के लिये अनेकान्तदर्शन को व्यवहार्य बनाना आवश्यक है। जब तक सह-अस्तित्व, सहिष्णुता, सामंजस्य आदि मूल्यों को व्यावहारिक नहीं बनाया जायेगा, तब तक समाधान उपलब्ध नहीं होगा। ये सारे मूल्य अनेकान्त के ही परिकर हैं। मनुष्य अनेकान्त को समझे और इसके अनुरूप आचरण करे तो युगीन समस्याओं का समाधान पा सकता है (पृ० १३८)।

‘समाज व्यवस्था में अनेकान्त’ एवं ‘अनेकान्त की सर्वव्यापकता’ नामक शोध-निबन्धों में भी अनेकान्त के व्यापक महत्त्व को रेखाङ्कित किया गया है।

लेखिका ने ‘आईती दृष्टि’ में संग्रहीत शोध-निबन्धों के माध्यम से जहाँ अनेकान्तात्मक दृष्टिकोण के द्वारा परस्पर विपरीत दिखलाई देने वाले दर्शनों में समन्वय स्थापित किया है और अन्य अनेक यक्ष प्रश्नों का भी समाधान प्रस्तुत किया

है। वहीं लीक से हटकर कुछ ऐसे ज्वलन्त प्रश्नों को भी उठाया है, जो उनकी अपनी तर्कणा शक्ति से उद्भूत हैं। इसीलिये प्रायः सभी शोध-निबन्ध परम्परागत दार्शनिक सिद्धान्तों की पुष्टि करते हुये भी अपनी मौलिकता को बनाये हुये हैं।

अन्त में मैं जैनदर्शन की विशेषताओं को अधीति विद्वान् प्रोफेसर डॉ० दयानन्द भार्गव के शब्दों में व्यक्त करूँ तो - 'जैनदर्शन की एक विशेषता है कि वह किसी एक दृष्टि को एक दृष्टिकोण ही मानता है, सम्पूर्ण सत्य का प्रतिनिधि नहीं। इसीलिये उसके लिये दृष्टि की विभिन्नता अथवा दृष्टि का पारस्परिक विरोध भी कोई समस्या उत्पन्न नहीं करता, प्रत्युत सत्य के वृहत् से वृहत्तर रूप को उजागर करने का माध्यम बनने के कारण अभिनन्दनीय ही सिद्ध होता है। अनेकान्त का यह दृष्टिकोण अन्त में दार्शनिकता को द्रष्टृत्त्व में परिणत कर देता है।' प्रोफेसर भार्गव के ये विचार अनेकान्तदर्शन के क्षेत्र में एक दीपस्तम्भ का कार्य करते हैं और समीक्ष्य कृति के हार्द को स्पष्ट करते हैं।

आर्हती दृष्टि का समग्र रूप में हम इस प्रकार मूल्याङ्कन कर सकते हैं कि इस कृति में संग्रहीत शोध-निबन्धों से प्रत्येक शोधार्थी के साथ ही सामान्य जिज्ञासु भी अनेक प्रकार से समाधान प्राप्त कर सकेंगे। साज-सज्जा नयनाभिराम है।

डॉ० कमलेशकुमार जैन

प्रोफेसर एवं पूर्व अध्यक्ष, जैन-बौद्धदर्शन विभाग  
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

व्रात्य दर्शन, लेखिका- डॉ० समणी मंगलप्रज्ञा, प्रकाशक- आदर्श साहित्य संघ, नई दिल्ली, संस्करण- द्वितीय, ई० सन् २००५, पृष्ठ- १८+२४२, आकार- डिमाई, मूल्य- ४०.०० रुपया।

भारतीय संस्कृति श्रमण व ब्राह्मण संस्कृति का समन्वित रूप है। श्रमण संस्कृति के अन्तर्गत जैन एवं बौद्ध संस्कृति आती है। जैन संस्कृति व्रात्यों की संस्कृति है और व्रात्य का मूल अर्थ व्रती या व्रतों की साधना करने वाला होता है। व्रतों की साधना ही जैन संस्कृति की मुख्य विशेषता है। व्रत से अध्यात्म पक्ष पुष्ट होता है। यही कारण है कि साधक के लिए महाव्रत, समिति एवं गुप्ति की साधना अनिवार्य है।

'व्रात्य' शब्द के अर्थ को लेकर विद्वत्जनों में मतभेद है। श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अथर्ववेद के सन्दर्भ में 'व्रात' का अर्थ 'समूह', 'समाज' अथवा संघ बताया है और उनका हित करने वाला व्रात्य है (तेभ्यः हितः व्रात्य)। अमरकोश में व्रात्य संस्कारहीनः अर्थात् संस्कारहीन व्यक्ति को व्रात्य कहा गया है। कुछ विद्वानों का

मानना है कि 'व्रात्य' शब्द की व्युत्पत्ति व्रत से हुई है। व्रतमर्हति इति व्रात्यः अर्थात् जो व्रतचर्या के योग्य हो व्रात्य है। इसी आधार पर व्रतों के पालक या उनके लिए समर्पित व्रतधारी व्यक्ति को व्रात्य कहा गया है।

प्रस्तुत पुस्तक 'व्रात्य दर्शन' में व्रात्य के 'व्रतधारी व्यक्ति' या 'आत्मलीन यायावर' अर्थ को केन्द्रित करके विदुषी लेखिका ने अपने विशिष्ट लेखों को विवेचित किया है। इसमें कुल २७ आलेख हैं जिनमें २३ हिन्दी भाषा में तथा ४ आंग्ल भाषा में निबद्ध हैं। सभी आलेख महत्त्वपूर्ण हैं और विषयवस्तु को सूक्ष्मता से विवेचित करते हैं। आलेखों की शैली व्याख्यात्मक, तुलनात्मक एवं विश्लेषणात्मक है। कुछ आलेखों में दिये गये सन्दर्भ उसकी प्रामाणिकता को पुष्ट करते हैं। सभी आलेखों को यहाँ प्रस्तुत करना संभव नहीं है। अतः कुछ आलेखों के नाम हैं- अनेकांत, स्याद्वाद और सप्तभंगी; निक्षेप का उद्भव, विकास और स्वरूप; जैन, बौद्ध एवं वेदान्त दर्शन के अनुसार सत् की अवधारणा; शास्त्रार्थ में जय-पराजय की व्यवस्था के नियम; जैन आगमों की व्याख्या में आचार्य महाप्रज्ञ का योगदान; Embodiment of Peace and Love; Ecological Survival : Global Survival; Contribution of Ācārya Umāsvāti to the Concept of Existence. आदि। सभी आलेख उच्चस्तरीय एवं विद्वतापूर्ण हैं। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ० सुधा जैन

जैन आगम में दर्शन, लेखिका-डॉ० समणी मंगलप्रज्ञा, प्रका०- जैन विश्वभारती, लाडनू, संस्करण-प्रथम २००५ ई० सन्, पृष्ठ- १८+३३०, आकार-रॉयल, मूल्य- १२५.०० रुपये।

जैन दर्शन का मूलस्रोत आगम है। भगवान महावीर ने अपनी लम्बी साधना के पश्चात् जिन सूक्ष्म तत्त्वों को आत्मसात किया उन्हीं का प्रतिपादन आगमों में किया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म का प्राचीनतम रूप हमें आगमों में मिलता है। जैन परम्परा में 'आगम' शब्द की व्याख्या निम्न प्रकार से मिलती है-

१. व्यवहारभाष्य गाथा ३१८ में कहा गया है- स्वयं आप्त पुरुष ही आगम है।
२. आवश्यकचूर्णि के अनुसार अर्थज्ञान जिससे हो वह आगम है। आचार्य तुलसी की भिक्षुन्यायकर्णिका में आप्तवचन को आगम कहा गया है।
३. प्रमाणनयतत्त्वावलोक में कहा गया है आप्तपुरुष की वाणी से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह आगम है।

आगमों की संख्या के विषय में मत वैभिन्न्यता देखी जाती है। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानकवासी और तेरापंथी आगमों की संख्या ३२ ही स्वीकार करते हैं- अंग-१२, उपांग-१२, मूलसूत्र-४, छेदसूत्र-४ और आवश्यक-१ = ३२ ।

प्रस्तुत ग्रंथ 'जैन आगम दर्शन' के अन्तर्गत लेखिका ने आगमों में वर्णित दार्शनिक तथ्यों का अध्ययन किया है। आगमों की विशाल ज्ञानराशि को एक पुस्तक में प्रस्तुत करना असंभव नहीं है परन्तु बड़ा ही कठिन कार्य है। संभवतः यही कारण है कि लेखिका ने अपने विषय को सीमित करते हुए मुख्य पाँच आगमों- आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग और भगवती को ही अपने अध्ययन का विषय बनाया है। सात अध्यायों में विभक्त इस पुस्तक में प्रथम अध्याय में सभी अध्यायों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की गई है। द्वितीय अध्याय आगम साहित्य की रूपरेखा में लेखिका ने आगम साहित्य के ऐतिहासिक पक्षों को विद्वतापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है। इस अध्याय की विशेषता यह है कि लेखिका ने भारतीय विद्वानों के साथ-साथ आगम के विषय में पाश्चात्य विद्वानों के क्या विचार हैं, को भी प्रस्तुत किया है। तृतीय अध्याय में जैन धर्म-दर्शन के तत्त्वमीमांसीय पक्षों का प्रस्तुतीकरण सरल और गवेषणीय है। चतुर्थ अध्याय में आत्ममीमांसा को विवेचित किया गया है। षड्जीवनिकाय की आगम के आधार पर इतनी सूक्ष्मता से विवेचना की गई है कि आत्मा सम्बन्धी जिज्ञासाओं के लिए पाठकों को अन्य जगह भटकने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। पंचम अध्याय का हार्द कर्ममीमांसा है जिसमें कर्म की विविधता, उसके कारण, कर्म का महत्त्व, कर्म और पुनर्जन्म आदि विषयों को विवेचित किया गया है। षष्ठ अध्याय आचारमीमांसा से सम्बन्धित है। आचार जो जैन धर्म-दर्शन का मुख्य आधार है, की लेखिका ने प्रस्तुत पुस्तक में विस्तृत विवेचना की है। आचार का जितना सूक्ष्म विवेचन लेखिका ने किया है वह उनके जैसा आचारमार्ग का पथिक ही कर सकता है। सप्तम अध्याय जो इस पुस्तक का विशिष्ट अध्याय है में आगमों में वर्णित जैनेतर दर्शन को विवेच्य विषय बनाया गया है। इसके अन्तर्गत क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, विनयवाद, नियतिवाद, कर्मोपचय, सृष्टि की अवधारणा आदि का समालोच्य विवेचन हुआ है। विषय प्रस्तुति का ससन्दर्भ होना पुस्तक की गरिमा को बढ़ाता है।

पुस्तक की विशेषता यह है कि आगमों में बिखरे सारगर्भित दार्शनिक तथ्यों को सरल एवं सहज भाषा में एक जगह प्रस्तुत कर लेखिका ने जिज्ञासुओं के लिए सुगम बना दिया है। पुस्तक के अध्ययन से विषय के प्रति लेखिका की सूक्ष्म दृष्टि स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है जिसके लिए वे साधुवाद की पात्र हैं! पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ० सुधा जैन

२२८ : श्रमण, वर्ष ५९, अंक २/अप्रैल-जून २००८

पुस्तक- सुविधि दर्शन, लेखक- भाई श्री शशिभाई, प्रका०- वीतराग सत् साहित्य प्रसारक ट्रस्ट, भावनगर, संस्करण प्रथम २००४ ई०सन्, पृ०- २०+२९२=३१२, मूल्य- रू० ४०.००।

प्रस्तुत कृति में निजस्वरूप को प्राप्त करने की विधि का उल्लेख है। स्वरूप दो प्रकार के होते हैं- बाह्य और आन्तरिक। लेकिन बाह्य और आन्तरिक जगत् में अंतर होता है। बाह्य जगत् में भौतिकता का अस्तित्व है तो आन्तरिक जगत् में भावों का महत्त्व है। भावों की दुनियाँ से जब व्यक्ति का परिचय हो जाता है तब वह उसे जानने व समझने लगता है फलतः बाह्य दुनियाँ से उसका सम्पर्क क्षीण होने लगता है। स्वभाव और विभाव के परिचय के साथ ही उसे स्व और पर का भेद-ज्ञान होता है। इस प्रकार आत्मभावना से प्रारम्भ की गई यह यात्रा अवलोकन, भाव परिचय और भेद-ज्ञान के पड़ाव को पार करती हुई स्वानुभाव को प्राप्त होती है।

इस ग्रन्थ के सारे प्रवचन ऑडियो कैसेट से यथावत लिए गये हैं और उसे कुशलतापूर्वक सम्पादित कर पुस्तकाकार रूप दिया गया है। भाईश्री के वक्तव्य में वह ओज है जो मूल को सही रूप में प्रस्तुत कर सके। इस कृति में लेखक के बारह उपदेशों का संकलन है जिन्हें तिथि सहित पुस्तक में उल्लेखित किया गया है। अध्यात्म की पावन गंगा का प्रवाह मुमुक्षु को उसमें गोते लगाने के लिए प्रेरित करता है और वह उसमें बहते हुए भेद-ज्ञान को प्राप्त कर आत्म-जगत् में प्रवेश पाता है। साहित्य की विश्लेषणात्मक शैली उत्कृष्ट है। आत्मविश्लेषक पाठकों के लिए यह ग्रन्थ पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ० सुधा जैन  
वरिष्ठ प्राध्यापक  
पार्श्वनाथ विद्यापीठ

## साभार

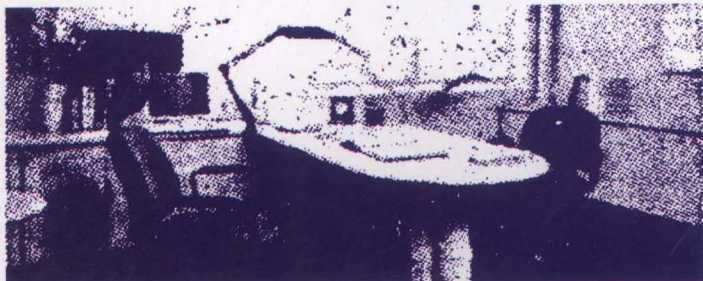
१. प्रवचनसारोद्धार (सार्थ), सम्पा०- श्रीमद् विजय हेमभूषणसूरीश्वरजी म०सा०, प्रका०- श्री बी० के० कोठारी रिलीजियस ट्रस्ट, आर. ठक्कर मार्ग, रीज रोड, बालकेश्वर, मुंबई-४००००५
२. आपणां सहुणी आत्मकथा, संयोजक- श्रीमद् विजय पूर्णचन्द्रसूरीश्वरजी, प्रका०- श्री दलीचंद गजाजी साह परिवार, तरुण भाई मफतलाल शाह, २०२, अ० आनन्द भवन, वी०पी० रोड, मुंबई-४
३. जपो नाम सूरिराम, रचयिता- मुनि हितवर्धन विजय, प्रका०- कुसुम-अमृत ट्रस्ट, शांतिनगर, अलकापुरी, वापी (पश्चिम)।
४. सूक्ति : कलापूर्णगुरो : शिवाय, रचयिता- अमृत पटेल, प्रका०- विजय कलापूर्णसूरि साधना स्मारक ट्रस्ट, श्री शंखेश्वर तीर्थ, पाटण।
५. जैन शास्त्रोना चूटेला श्लोक, भाग-२, लेखक- पं० चन्द्रशेखरविजयजी, प्रका०- कमल प्रकाशन ट्रस्ट, जीवतलाल प्रतापशी संस्कृति भवन २७७७, निशा पोल, झवेरीवाड, रिलीफ रोड, अहमदाबाद।
६. शब्द-रूपावली, संयोजक- मुनि श्री ऋषभचन्द्र सागर जी, प्रका०- श्री पूर्णानंद प्रकाशन, अहमदाबाद।
७. कृदन्तावली, संयोजक- मुनि श्री ऋषभचन्द्र सागर जी, प्रका०- श्री पूर्णानंद प्रकाशन, अहमदाबाद।
८. डायरी के पन्ने, लेखक- मुनिराज श्री जयानंदविजयजी, प्रका०- श्री गुरु रामचन्द्र प्रकाशन समिति, भीनमाल, राजस्थान
९. मंगलवादसंग्रहः सम्पा०- मुनि वैराग्यरतिविजयजी, प्रका०- श्री पार्श्वनाथ जैन श्वेताम्बर मंदिर ट्रस्ट, २६७, टिंबर मार्केट, भवानी पेठ, पुणे।
10. **A Life of Sri Rajendra Sooriji**, Editor- Muni Shri Prashant Ratna Vijayji, Published by Soudharma Sandesh Jain Prakashan, Bangalore.
11. **Know to Elighten** by Acharya Shri Rajyashsurishwarji, Published by Sanskruti Nḥavan, T-6/A, Shanti Nagar, Vikramsurī Marg, Ashram Road, Ahmedabad-380013.
12. **Jaina Studies**, Edited by Colette Caillat Nalini Balbir, Published by MLBD, First Edition 2008, Size- Demy, Price- Rs. 600.00

## Our Important Publications

1. <i>Studies in Jaina Philosophy</i>	Dr. Nathamal Tatia	200.00
2. <i>Jaina Temples of Western India</i>	Dr. Harihar Singh	300.00
3. <i>Jaina Epistemology</i>	Dr. I.C. Shastri	150.00
4. <i>Jaina Theory of Reality</i>	Dr. J.C. Sikdar	300.00
5. <i>Jaina Perspective in Philosophy &amp; Religion</i>	Dr. Ramji Singh	300.00
6. <i>Aspects of Jainology (Complete Set : Vols. 1 to 7)</i>		2500.00
7. <i>An Introduction to Jaina Sādhanā</i>	Prof. Sagarmal Jain	40.00
8. <i>Pearls of Jaina Wisdom</i>	Dulichand Jain	120.00
9. <i>Scientific contents in Prakrit Canons</i>	Dr. N.L. Jain	400.00
10. <i>Te Heritage of the Last Arhat : Mahāvīra</i>	Dr. C. Krause	25.00
11. <i>Multi-Dimensional Application of Anekāntavāda</i>	Ed. Prof. S.M. Jain & Dr. S.P. Pandey	500.00
12. <i>The World of Non-living</i>	Dr. N.L. Jain	400.00
13. <i>Jains Today in the World</i>	Pierre Paul AMIEL	500.00
14. <i>Jaina Religion: its Historical Journey of Evolution</i>	Dr. Kamla Jain	100.00
15. <i>जैन धर्म और तान्त्रिक साधना</i>	प्रो. सागरमल जैन	350.00
16. <i>सागर जैन-विद्या भारती (पाँच खण्ड)</i>	प्रो. सागरमल जैन	500.00
17. <i>गुणस्थान सिद्धान्त : एक विश्लेषण</i>	प्रो. सागरमल जैन	60.00
18. <i>अहिंसा की प्रासंगिकता</i>	डॉ. सागरमल जैन	100.00
19. <i>अष्टकप्रकरण</i>	डॉ. अशोक कुमार सिंह	120.00
20. <i>दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति : एक अध्ययन</i>	डॉ. अशोक कुमार सिंह	125.00
21. <i>जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन</i>	डॉ. शिवप्रसाद	300.00
22. <i>अचलगच्छ का इतिहास</i>	डॉ. शिवप्रसाद	250.00
23. <i>तपागच्छ का इतिहास</i>	डॉ. शिवप्रसाद	500.00
24. <i>सिद्धसेन दिवाकर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व</i>	डॉ. श्री प्रकाश पाण्डेय	100.00
25. <i>जैन एवं बौद्ध योग : एक तुलनात्मक अध्ययन</i>	डॉ. सुधा जैन	300.00
26. <i>जैन एवं बौद्ध शिक्षा-दर्शन एक तुलनात्मक अध्ययन</i>	डॉ. विजय कुमार	200.00
27. <i>जैन साहित्य का बृहद् इतिहास (सम्पूर्ण सेट सात खण्ड)</i>		1400.00
28. <i>हिन्दी जैन साहित्य का इतिहास (सम्पूर्ण सेट चार खण्ड)</i>		760.00
29. <i>जैन प्रतिमा विज्ञान</i>	डॉ. मारुति नन्दन तिवारी	300.00
30. <i>वज्जालगंगा (हिन्दी अनुवाद सहित)</i>	पं. विश्वनाथ पाठक	160.00
31. <i>प्राकृत हिन्दी कोश</i>	सम्पा. - डॉ. के.आर. चन्द्र	400.00
32. <i>भारतीय जीवन मूल्य</i>	प्रो. सुरेन्द्र वर्मा	75.00
33. <i>समाधिमरण</i>	डॉ. रज्जन कुमार	260.00
34. <i>पञ्चाशक-प्रकरणम् (हिन्दी अनुवाद सहित)</i>	अनु. डॉ. दीनानाथ शर्मा	250.00
35. <i>जैन धर्म में अहिंसा</i>	डॉ. वशिष्ठ नारायण सिन्हा	300.00
36. <i>बौद्ध प्रमाण-मीमांसा की जैन दृष्टि से समीक्षा</i>	डॉ. धर्मचन्द्र जैन	350.00
37. <i>महावीर की निर्वाणभूमि पावा : एक विमर्श</i>	भगवतीप्रसाद खेतान	150.00
38. <i>स्थानकवासी जैन परम्परा का इतिहास</i>	प्रो. सागरमल जैन एवं डॉ. विजय कुमार	500.00
39. <i>सर्वसिद्धान्तप्रवेशक</i>	सम्पा० प्रो० सागरमल जैन	30.00
40. <i>जीवन का उत्कर्ष</i>	श्री चित्रभानु	200.00

**Parshwanath Vidyapeeth, I.T.I. Road, Karaundi, Varanasi - 5**

# NO PLY, NO BOARD, NO WOOD



## **ONLY NUWUD<sup>®</sup>**

### INTERNATIONALLY ACCLAIMED

*Nuwud MDF is fast replacing ply, board and wood in offices, homes & industry, As ceilings*

### DESIGN FLEXIBILITY

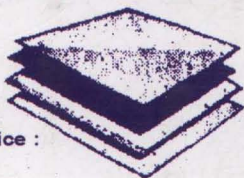
*flooring furniture, mouldings, panelling, doors, windows... and almost infinite variety of*

### VALUE FOR MONEY

*woodwork. So, if you have woodwork in mind, just think **NUWUD MDF***



Registered Head Office :  
20/6, Mahura Road,  
Faridabad-121006,  
HARYANA.  
Tel: +91 129 230400~6,  
Fax: +91 129 5061037.



IS: 12408



*The one wood for  
all your woodwork*

#### Marketing Offices

**Ahmedabad** : 502, Anand Mangal, Complex-1, Behind Omkar House, Near Swastika Charrasta, C.G. Road, Ahmedabad-380009. Tel: 079-30958929, 31028976, Fax: 079-26466585. **Bangalore** : D 1/4, Hayes Court, 11/9 Hayes Road, Richmond Town, Bangalore. Tel: 080-30958040, 22279219, Fax: 080-22279219. **Delhi/UP** : E-46/12, Okhala Industrial Area, Phase II, New Delhi-110020. Tel: 011-26385737, 26383234, 26384656, Fax: 011-41611846. **Chennai** : Tyagraj Complex, No. 583, (New No. 250), 4A, 4<sup>th</sup> Floor, Poonamalee High Road, Kilpauk, Chennai-600010. Tel: 044-30970880, Fax: 044-25323731. **Hyderabad** : A-3, View Towers, 6-2-1, Lakadi Ka Pul, Hyderabad-560904. Tel: 040-30935561, 23307604, 23314794, **Kerala** : 33/1560-G, Chakkaraparampu Road, Vennala (P.O.), Engakulam, Kochi-682028 Tel: 0484-3969454, 3969452, **Jalandhar** : 29, G.T. Road, Kalra Building, Jalandhar-144001. Tel: 09316039144, 09347203593. **Jaipur** : 42, Dhuleshwar Garden, 1<sup>st</sup> floor, Near Ajmer Road, Jaipur-302001. Tel: 014 1-3028940, 270557, Fax: 0141-2214727. **Mumbai** : Shive Centre Office No. 214, 2<sup>nd</sup> Floor, Plot No. 72, Sec-17, Vashi Navi, Mumbai-400705. Tel: 022-39436667, 25002250, Fax: 022-25002250. **Pune** : 209, 2<sup>nd</sup> floor, Ashoka Mall, Opp. Hotel Sun N Sand, Bundgarden Road, Pune-411001. Tel: 020-39505076, 6121353, Fax: 020-26121353.